णमो समणस्स भगवओ महावीरस्स
णमो जगपुज्ज पहुं सिरि राइन्द सूरिवरस्स

जैन आगम साहित्य
एक अनुशीलन

लेखक

आचार्य विजय जयन्तसेन सूरि

प्रकाशक

राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट
श्री राजेन्द्र सूरि जैन ज्ञान मंदिर
रतन पोल, हाथी खाना, श्री राजेन्द्र सूरि चौक
अमहदाबाद

- पुस्तक—*जैन आगम साहित्य : एक अनुशीलन*
- लेखक—*आचार्य विजय जयन्तसेन सूरि*
- प्रकाशक—*श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट*
  श्री राजेन्द्र सूरि जैन ज्ञान मंदिर
  रतनपोल, हाथीखाना, श्री राजेन्द्र सूरि चौक
  अहमदाबाद
- सुकृत सहयोगी—*श्री जैन श्वेताम्बर त्रिस्तुतिक संघ*
  काकीनाडा (आंध्रप्रदेश)

  श्वेताम्बर संघ
  सांवलकोटा (आंध्रप्रदेश)
- प्राप्ति स्थान—*श्री राज राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट*
  रतनपोल, हाथीखाना, अहमदाबाद

  परिषद भवन
  बस स्टेण्ड
  पो. राजगढ़ (धार) (म.प्र.)
- अवतरण :वीर सं. २५२०
  विक्रम सं. २०५१
  श्री राजेन्द्रसूरि सं. ८८
- मूल्य : ३० रुपए
- मुद्रक : *रोहित आफसेट* उज्जैन (म.प्र.)
- संयोजन : *आई.एस. ग्राफिक्स,* इन्दौर

स्वकथ्य

हमारे देश भारतवर्ष में अनेक धर्म, सम्प्रदाय और जाति के लोग निवास करते हैं। उन सबकी परम्पराएँ और रीति-रिवाज भी भिन्न-भिन्न हैं। उनकी मान्यतायें भी भिन्न हैं, मान्यताओं पर आधृत सिद्धांत हैं और ये सिद्धांत उनके पवित्र ग्रंथों में संग्रहीत हैं। इस प्रकार वैदिक परम्परा में जो स्थान वेदों का है, बौद्ध परम्परा में त्रिपिटक का है, ईसाई मत में जो स्थान बाइबिल का है और इस्लाम में जो स्थान कुरान का है, वही स्थान जैन परम्परा में आगम ग्रन्थों का।

सभी धर्मों में भेदोपभेद हैं, जैन धर्म भी इसका अपवाद नहीं है। जैन धर्म भी श्वेताम्बर-दिगम्बर भेदों में विभक्त है। यह भेद कतिपय मान्यताओं के कारण है। इस मतभेद के परिणामस्वरूप आगम ग्रंथों की मान्यता पर भी प्रभाव पड़ा। श्वेताम्बर जैन परम्परा जिन ग्रंथों को आगम ग्रंथ स्वीकार करती है, दिगम्बर जैन परम्परा उन्हें अस्वीकार करती है। इतना ही नहीं श्वेताम्बर जैन परम्परा में भी मतभेद है। श्वेताम्बर जैन मूर्तिपूजक परम्परा जिन पैंतालीस ग्रंथों को आगम ग्रंथ स्वीकार करती है, उनमें से श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन परम्परा बत्तीस ग्रंथों को ही आगम ग्रंथ के रूप में स्वीकार करती है।

इन आगम ग्रंथों में अंतिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी के वचनों का संग्रह है। भगवान महावीर स्वामी की वाणी का संग्रह उनके शिष्य गणधर सुधर्मा स्वामी ने किया। प्रारम्भ में यह वाणी लिखित रूप में सुरक्षित न रहकर मौखिक रूप में ही गुरु से शिष्य को मिलती थी, जिसे श्रुत परम्परा कहा गया है। किंतु काल के प्रभाव से श्रुत परम्परा में बाधा उत्पन्न हुई तो इसके लेखन का आरम्भ हुआ। काल के प्रभाव से ज्ञानकी इस अमूल्य निधि में से अनेक हीरे विलुप्त हो गए। जो कुछ भी शेष रहा उसके लिए तत्कालीन श्रुतज्ञ विज्ञ आचार्य भगवंतों ने समय समय पर वाचना परिषदों का आयोजन कर इन्हें विलुप्त होने से बचाया और जो कुछ भी उनके ज्ञान में था, उसे सुव्यवस्थित कर सुरक्षित रखा। आज आगम साहित्य के रूप में हमारे सम्मुख जो भी ग्रंथ उपलब्ध हैं, उसके लिए हमें उन श्रुतधर विज्ञ आचार्य भगवंतों, विद्वान मुनिवरों का उपकार मानना चाहिए।

मूल आगम ग्रंथों पर दूरदर्शी आचार्य भगवंतों, विद्वान मुनिराजों ने टीकायें, भाष्य, चूर्णियां, निर्युक्तियां आदि लिखकर भी समाज पर बहुत बड़ा उपकार किया है। इन ग्रंथों के प्रणयन के परिणामस्वरूप मूल आगम ग्रंथों के अर्थ को समझने में काफी सुविधा हो गई है। गूढ़ शब्दों के अर्थ समझने में कोई कठिनाई नहीं रही।

यहाँ एक बात का उल्लेख करना प्रासंगिक ही होगा, वह यह कि आगम ग्रंथों के संकलन हेतु पाँच बार वाचनाएं हुई। इसके परिणामस्वरूप इनके मौलिक रूप में कुछ न कुछ परिवर्तन अवश्य ही हुआ होगा। फिर भी आगम साहित्य में जो कुछ भी है उनका अधिकांश भाग सर्वथा मौलिक है। आगम ग्रंथों का विस्तृत अध्यन करने के पश्चात् ज्ञात होता है कि इन ग्रंथों में जिन विषयों का संकेत किया गया है, उनमें से कुछ विषय वर्तमान में उपलब्ध आगम ग्रंथों में नहीं है। उदाहरण स्वरूप कहा जा सकता है कि प्रश्नव्याकरण में जिस विषय का संकेत है, वह आज अनुपलब्ध है। इसी प्रकार बाद की घटनाओं और विचारधारा का समावेश होना इनमें परिवर्तन का प्रमाण है। यथा सात निन्हव और नवगणों का विवरण स्थानांग सूत्र में है।

एक अन्य महत्वपूर्ण बात यह है कि जहां वैदिक परम्परा में शब्दों की सुरक्षा पर अधिक बल दिया गया है, वहीं इसके विपरीत जैन और बौद्ध परम्परा में शब्दों के स्थान पर अर्थ पर अधिक जोर दिया गया है। इसका परिमाम यह हुआ कि वेदों के शब्द तो सुरक्षित रहे किन्तु उनके अर्थों के सम्बंध में विद्वानों में मतभेद रहा। जैन और बौद्ध परम्परा के अर्थ पर जोर देने के परिणामस्वरूप ऐसी स्थिति नहीं बनी। यहाँ पाठ भेद तो हैं किन्तु अर्थ भेद नहीं है। इसके अतिरिक्त वेद किसी एक ही ऋषि के विचारों का संकलन नहीं है, इसके विपरीत जैन गणिपिटक और बौद्ध त्रिपिटक भगवान महावीर और गौतम बुद्ध की वाणी का प्रतिनिधित्व करते हैं।

सम्पूर्ण जैन आगम साहित्य का कुछ विशिष्ट दृष्टिकोण से वर्गीकरण किया गया है। जो इस प्रकार है–

अंग प्रविष्ट - ११, उपांग - १२

मूलआगम - ६, या ४ एवं २ चूलिका, छेद आगम ६ और प्रकीर्णक १० इस प्रकार कुल पैंतालीस आगम ग्रंथ होते हैं।

आचार्य तोसलिपुत्र के विद्वान शिष्य आर्य रक्षित सूरि, जो आर्य वज्र के पश्चातवर्ती हैं, ने अनुयोगों के अनुसार आगम ग्रंथों का वर्गीकरण निम्नानुसार चार भागों में किया–

१. चरण करणानुयोग, २. धर्म कथानुयोग

३. गणितानुयोग और ४. द्रव्यानुयोग

विषय साम्यकी दृष्टि से भी वर्गीकरण हुआ है। यह विभाजन दो भागों में है। यथा–

१. अपृथक्त्वानुयोग, २. पृथक्त्वानुयोग।

जैन आगम साहित्य पर और आगम ग्रंथों में वर्णित धर्म और दर्शन विषय पर

विस्तार पूर्वक लिखा जा चुका है तथा अभी भी निरन्तर लिखा जा रहा है। जैन आगम साहित्य में केवल धर्म और दर्शन विषयों पर ही चिंतन नहीं किया गया है वरन् इन विषयों के अतिरिक्त अन्य विष्यों पर भी पर्याप्त चिंतन हुआ है किंतु उन विषयों पर नहीं के बराबर लिखा गया है। कुछ विशिष्ट आगम ग्रंथों का सांस्कृतिक अध्ययन भी प्रस्तुत किया गया है किंतु वह भी पर्याप्त नहीं है। इसका परिणाम यह हुआ कि आज भी अधिकांश विद्वानों की यह मान्यता है कि जैन आगम साहित्य में धर्म और दर्शन विषय के अतिरिक्त अन्य विषयों पर कोई विचार नहीं हुआ है, जबकि वस्तुस्थिति इसके विपरीत है। यदि एक एक जैन आगम ग्रंथ का स्वतंत्र रूप से सांस्कृतिक अनुशीलन प्रस्तुत किया जावे तो हमारे कथन की पुष्टि हो जावेगी। प्रस्तुत ग्रंथ कुल बारह अध्यायों में विभक्त है। प्रारम्भ के आठ अध्यायों में विभिन्न दृष्टिकोणों से जैन आगम साहित्य का परिचय प्रस्तुत किया गया है। इनमें आगमों के व्याख्या साहित्य को भी सम्मिलित कर लिया गया है। जैन आगम साहित्य का परिचय संक्षेप में दिया गया है। कारण यह कि इस प्रकार का परिचयात्मक अनुशीलन पूर्व में प्रकाशित ग्रंथों में भलीभांति दिया गया है। विस्तारपूर्वक चर्चा करना इसीलिए अनुपयुक्त समझा गया।

अध्ययन नवम् में जैन आगमों में वर्णित समाज व्यवस्था पर प्रकाश डाला गया है। दसवें अध्याय में जैन आगम साहित्य में शासन व्यवस्था के सम्बंध में मिलने वाले उल्लेखों का विवरण दिया गया है। ग्यारहवें अध्याय में जैन आगम साहित्य में वर्णित अर्थोपार्जन व्यवस्था का विवरण प्रस्तुत किया गया है और बारहवें अध्याय में धार्मिक व्यवस्था का स्वरूप बताया गया है। इन अध्यायों में प्रस्तुत किये गए विवरण से स्पष्ट है कि जैन आगम ग्रंथ कोरम कोर धर्म और दर्शन का ही विवेचन प्रस्तुत नहीं करते वरन् उनमें अन्य सभी विषयों पर भी विस्तार से चिंतन किया गया है। जैन धर्म में विज्ञान विषय के सम्बंध में तो बहुत किछ लिखा जा चुका है। इस विषय पर हमने यहाँ विचार नहीं किया है। हाँ यहाँ इतना कहना पर्याप्त होगा कि जहाँ आधुनिक विज्ञान ने वनस्पति में प्राण तत्व को अब स्वीकार किया है, वहाँ जैन धर्म शताब्दियों पहले इस बात को कह चुका है। इसी प्रकार अणु और परमाणु के सम्बंध में भी बताया जा चुका है। जीवों का जितना सुंदर विभाजन जैन साहित्य में मिलता है, वह अद्वितीय है।

नवें अध्याय और ग्यारहवें अध्याय में जो कुछ भी विवरण प्रस्तुत किया गया है, वह सांकेतिक है। इसे समग्र स्वरूप न माना जाये। यह तो एक सरणि है जो अनुसंधानकर्ताओं का मार्गदर्शन करेगी। भावना तो इन विषयों पर विस्तार से लिखने की थी किंतु अन्यान्य कार्यों में अति व्यस्त रहने के कारण मैं अपनी भावना को मूर्तरूप

नहीं दे सका फिर भी जो कुछ भी लिखा है उससे अनुसंधानकर्ताओं को बहुत कुछ दिशा निर्देश मिल सकता है।

धर्म और दर्शनेतर विषयों पर लेखन के लिए श्रेष्ठ उपाय यही है कि प्रत्येक आगम का सांस्कृतिक अध्ययन/विवेचन/अनुशीलन प्रस्तुत किया जावे। यदि विषयवार विवेचन प्रस्तुत करना है तो एक एक विषय पर अलग-अलग अनुशीलन होना अपेक्षित है। यदि यह अनुशीलन तुलनात्मक दृष्टि से प्रस्तुत किया जाए तो और भी उत्तम होगा। अपनी व्यस्तता के कारण मैं चाहकर भी यह कार्य नहीं कर पाऊंगा। कारण यह है कि यह कार्य समय साध्य भी है और श्रम साध्य भी है। फिर दूरस्थ क्षेत्रों में विहाररत रहने से वहाँ संदर्भ ग्रंथों की समस्या भी रहती है। इसलिए विद्वानों और अनुसंधानकर्ताओं से यही अपेक्षा करता हूँ कि वे इस ओर अपना ध्यान देकर इस महत्वपूर्ण कार्य को सम्पादित करने में अपना मूल्यवान योगदान देंगे। प्रस्तुत ग्रंथ के लेखन में जिन विद्वानों के ग्रंथों का उपयोग हुआ उनके प्रति आभार। लेखन में समय समय पर जिनका सहयोग मिला उनको धन्यवाद। भूमिका लेखन के लिए डॉ. सागरमल जैन, पुरोवचनिका लेखन के लिए डॉ. रुद्रदेव त्रिपाठी एवं प्राक्कथन लेखन के लिए डॉ. तेजसिंह गौड़ भी धन्यवाद के पात्र हैं। इसी प्रकार का सहयोग आवश्यकता पड़ने पर भविष्य में भी अपेक्षित है। इस ग्रंथ के मुद्रण में जिन श्रद्धालु गुरु भक्तों ने स्वअर्जित धनराशि का सदुपयोग किया है, उन्हें भी धन्यवाद। वे इसी प्रकार धर्मध्यान के प्रति सतर्क बने रहें, यही अपेक्षा है।

विज्ञ पाठकों से आग्रह है कि ग्रंथ में रही कमियों की ओर ध्यान आकर्षित करवायें, ताकि भविष्य में उनका परिहार किया जा सके।

महावीर जयंती, २०५१

दि. २३.४.१९९४

आचार्य जयंतसेन सूरि

प्रकाशकीय

राष्ट्रसंत, जैन धर्म प्रभावक, कुशल प्रवचनकार, सिद्धहस्त लेखक, सरस कवि, प्रशान्त मूर्ति, सरल स्वभावी पूज्य आचार्य भगवन्त श्रीमद् विजय जयंतसेन सूरिजी म. सा. को यदि वाणी का जादूगर कहा जाये तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। उनकी प्रवचन कला अद्भुत है। श्रोताओं को घंटों बाँधे रखने की कला में वे प्रवीण हैं। इसी प्रकार वे लेखन कला में भी दक्ष हैं। उन्होंने जैन आगम ग्रंथों तथा अनेक साहित्यिक ग्रंथों का तलस्पर्शी अध्ययन किया है। यही कारण है कि उनके प्रवचन जितने सारगर्भित होते हैं उतने ही हृदयस्पर्शी भी।

पूज्य आचार्य भगवंत अपने ज्ञान को मुक्तहस्त से वितरित करते हैं। जो बात प्रवचन में न कह सके उसे पुस्तक रूप में प्रस्तुत कर देते हैं। जैन आगम साहित्य का पहले भी आपश्री अनुशीलन कर चुके हैं, जिसके परिणामस्वरूप "भगवान महावीर ने क्या कहा है ?" नामक ग्रंथ पाठकों को उपलब्ध हुआ। उस ग्रंथ में आगम ग्रंथों की चुनी हुई गाथाओं की व्याख्या में आपश्री का चिंतन प्रकट हुआ है।

अभी कुछ वर्षों पूर्व आचार्य भगवंत ने जैन आगम साहित्य पर कुछ लेखन करने का विचार बनाया था। हमें हार्दिक प्रसन्नता है कि आपश्री का वह विचार मूर्तरूप में हमारे सामने प्रकट हो गया है। जैन आगम साहित्य पर वैसे तो अनेक ग्रंथ प्रकाशित हो चुके हैं किंतु आपश्री का प्रस्तुत ग्रंथ "जैन आगम साहित्य : एक अनुशीलन" उन सबसे भिन्न है।

आचार्य भगवंत के इस ग्रंथ को जन-जन के लिए अर्पित करते हुए हमें अत्यधिक हर्ष हो रहा है। इस ग्रंथ का अध्ययन करके सामान्य जन तो लाभान्वित होंगे ही साथ ही शोध कार्य में संलग्न विद्वान एवं जिज्ञासु व्यक्ति भी इससे अवश्य ही लाभान्वित होंगे।

आचार्य भगवंत इसी प्रकार का लेखन करते रहें और हम उसे प्रकाशित कर जनता के लिए उपलब्ध कराते रहे, इसी आशा और विश्वास के साथ–

अक्षय तृतीया २०१५
दि. १३.५.१९९४

श्री राज-राजेन्द्र प्रकाशन ट्रस्ट
अहमदाबाद/बम्बई

भूमिका

भारतीय संस्कृति में अति प्राचीनकाल से ही दो समानान्तर धाराओं की उपस्थिति पाई जाती है– श्रमणधारा और वैदिकधारा। जैन धर्म और संस्कृति इसी श्रमणधारा का एक अंग है। जहाँ श्रमणधारार निवृत्तिपरक रही, वहाँ वैदिकधारा प्रवृत्तिपरक। जहाँ श्रमणधारा में संन्यास का प्रत्यय प्रमुख बना, वहाँ वैदिकधारा में गृहस्थजीवन। श्रमणधारा ने सांसारिक जीवन की दुःखमयता को अधिक अभिव्यक्ति दी और यह माना कि शरीर आत्मा का बन्धन है और संसार दुःखों का सागर, अतः उसने शरीर और संसार दोंनों से ही मुक्ति को अपनी साधना का लक्ष्य माना। उसकी दृष्टि में जैविक एवं सामाजिक मूल्य गौण रहे और अनासक्ति, वैराग्य और आत्मानुभूति के रूप में मोक्ष या निर्वाण को ही सर्वोच्च मूल्य माना गया। इसके विपरीत वैदिकधारा ने सांसारिक जीवन को वरेण्य मानकर जैविक एवं सामाजिक मूल्यों अर्थात् जीवन के रक्षण एवं पोषण के प्रयत्नों के साथ-साथ पारस्परकि सहयोग या सामाजिकता को प्रधानता दी। फलतः वेदों में जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति एवं पारस्परिक सहयोग हेतु प्रार्थनाओं के स्वर अधिक मुखर हुए हैं, यथा– हम सौ वर्ष जीयें, हमारी सन्तान बलिष्ठ हो, हमारी गायें अधिक दूध दें, वनस्पति एवं अन्न प्रचुर मात्रा में उत्पन्न हों, हममें परस्पर सहयोग हो आदि। ज्ञातव्य है कि वेदों में वैराग्य एवं मोक्ष की अवधारणा अनुपस्थित है, जबकि वह श्रमणधारा का केन्द्रीय तत्त्व है। इस प्रकार ये दोनों धारायें दो भिन्न जीवन-दृष्टियों को लेकर प्रवाहित हुई हैं। परिणामस्वरूप इनके साहित्य में भी इन्हीं भिन्न-भिन्न जीवन-दृष्टियों का प्रतिपादन पाया जाता है।

श्रमण परम्परा के साहित्य में संसार की दुःखमयता को प्रदर्शित कर त्याग और वैराग्यमय जीवन शैली का विकास किया गया, जबकि वैदिक साहित्य में ऐहिक जीवन को अधिक सुखी और समृद्ध बनाने हेतु प्रार्थनाओं की और सामाजिक-व्यवस्था (वर्ण-व्यवस्था) और भौतिक उपलब्धियों के हेतु विविध कर्मकाण्डों की सृजना हुई। प्रारम्भिक वैदिक साहित्य, जिसमें मुख्यतः वेद और ब्राह्मण ग्रन्थ समाहित हैं, में लौकिक जीवन को सुखी और समृद्ध बनाने वाली प्रार्थनाओं और कर्मकाण्डों का ही प्राधान्य है, इसके विपरीत श्रमण परम्परा के प्रारम्भिक साहित्य में संसार की दुःखमयता और क्षणभंगुरता को प्रदर्शित कर उससे वैराग्य और विमुक्ति को ही प्रधानता दी गई है। संक्षेप में श्रमण परंपरा का साहित्य वैराग्य प्रधान है।

श्रमणधारा और उसकी ध्यान और योग साधना की परम्परा के अस्तित्व के संकेत हमें मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के संस्कृति के काल से ही मिलने लगते हैं। यह माना जाता है कि हड़प्पा संस्कृति वैदिक संस्कृति से भी पूर्ववर्ती हो रही है। ऋग्वेद जैसे प्राचीनतम ग्रन्थ में भी व्रात्यों और वातरशना मुनियों के उल्लेख भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं कि उस युग में श्रमणधारा का अस्तित्व था। जहाँ तक इस प्राचीन श्रमण परम्परा के साहित्य का प्रश्न है दुर्भाग्य से वह आज हमें उपलब्ध नहीं है, किन्तु वेदों में उस प्रकार की जीवन दृष्टि की उपस्थिति के संकेत यह अवश्य सूचित करते हैं

कि उनका अपना कोई साहित्य भी रहा होगा, जो कालक्रम में लुप्त हो गया। आज आत्मसाधना प्रधान निवृत्तिमूलक श्रमणधारा के साहित्य का सबसे प्राचीन अंश यदि कहीं उपलब्ध है, तो वह औपनिषदिक साहित्य में है। प्राचीन उपनिषदों में न केवल वैदिक कर्म-काण्डों और भौतिकवादी जीवन-दृष्टि की आलोचना की गई है, अपितु आध्यात्मिक मूल्यों के अधिष्ठान आत्मतत्त्व की सर्वोपरिता भी प्रतिष्ठित की गयी है। आज यह सबसे बड़ी भ्रान्ति है कि हम उपनिषदों को वैदिकधारा के प्रतिनिधि ग्रन्थ मानते हैं, किन्तु उनमें वैदिक कर्मकाण्डों की स्पष्ट आलोचना के जो स्वर मुखरित हुए हैं और तप-त्याग प्रधान आध्यात्मिक मूल्यों की जो प्रतिष्ठा हुई है, वह स्पष्टतया इस तथ्य का प्रमाण है कि वे मूलतः श्रमण जीवन-दृष्टि के प्रस्तोता हैं।

यह सत्य है कि उपनिषदों में वैदिकधारा के भी कुछ संकेत उपलब्ध हैं किन्तु यह नहीं भूलना चाहिये कि उपनिषदों की मूलभूत जीवन दृष्टि वैदिक नहीं, श्रमण है। वे उस युग की रचना हैं, जब वैदिकों द्वारा श्रमण संस्कृति के जीवन मूल्यों को स्वीकृत किया जा रहा था। वे वैदिक संस्कृति और श्रमण संस्कृति के समन्वय की कहानी कहते हैं। ईशावास्योपनिषद् में समन्वय का यह प्रयत्न स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। उसमें त्याग और भोग, प्रवृत्ति एवं निवृत्ति, कर्म और कर्म-संन्यास, व्यक्ति और समष्टि, अविद्या (भौतिक ज्ञान) और विद्या (आध्यात्मिक ज्ञान) के मध्य सुन्दर समन्वय स्थापित किया गया है।

उपनिषदों का पूर्ववर्ती एवं समसामयिक श्रमण परम्परा का जो अधिकांश साहित्य था, वह श्रमण परम्परा की अन्य धाराओं के जीवित न रह पाने या उनके बृहद हिन्दू परम्परा में समाहित हो जाने के कारण या तो विलुप्त हो गया था या फिर दूसरी जीवित श्रमण परम्पराओं के द्वारा अथवा बृहद् हिन्दू परम्परा के द्वारा आत्मसात कर लिया गया। किन्तु उसके अस्तित्व के संकेत एवं अवशेष आज भी औपनिषदिक साहित्य, पालित्रिपिटक और जैनागमों में सुरक्षित हैं। प्राचीन आरण्यकों, उपनिषदों, आचारांग (प्रथम श्रुतस्कन्ध), सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, इसिभासियाइं, थेरगाथा, सुत्तनिपात और महाभारत में इन विलुप्त या समाहित श्रमण परम्पराओं के अनेक ऋषियों के उपदेश आज भी पाये जाते हैं। इसिभासियाइं, सूत्रकृतांग और उत्तराध्ययन में उल्लिखित याज्ञवल्क्य, नारद, असितदेवल, कपिल, पाराशर, आरुणि, उद्दालक, नमि, बाहुक, रामपुत्त आदि ऋषि वे ही हैं, जिनमें से अनेक के उपदेश एवं आख्यान उपनिषदों एवं महाभारत में भी सुरक्षित हैं। जैन परम्परा में ऋषिभाषित में इन्हें अर्हत् ऋषि एवं सूत्रकृतांग में सिद्धि को प्राप्त तपोधन महापुरुष कहा गया है और उन्हें अपनी पूर्व परम्परा से सम्बद्ध बताया गया है। पालित्रिपिटक के दीघनिकाय के सामञ्ञफलसुत्त में भी बुद्ध के समकालीन छह तीर्थंकरों– अजितकेशकम्बल, प्रकुधकात्यायन, पूर्णकश्यप, संजयवेलट्ठिपुत्त, मंखलिगोशालक एवं निग्गंठनातपुत्त की मान्यताओं का निर्देश हुआ है, फिर चाहे उन्हें विकृत रूप में ही प्रस्तुत क्यों न किया गया हो। इसी प्रकार के थेरगाथा, सुत्तनिपात आदि के अनेक थेर (स्थविर) भी प्राचीन श्रमण परम्पराओं से सम्बन्धित रहे हैं। इस सबसे भारत में श्रमणधारा के प्राचीनकाल में अस्तित्व की सूचना मिल जाती है। पद्मभूषण पं. दलसुखभाई

मालवणिया ने पालित्रिपिटक में अजित, अरक और अरनेमि नामक तीर्थंकरों के उल्लेख को भी खोज निकाला है। ज्ञातव्य है कि उसमें इन्हें "तित्थकरो कामेसु वीतरागो" गया गया है– चाहे हम यह मानें या न मानें कि इनकी संगति जैन परम्परा के अजित, अरह और अरिष्टनेमि नामक तीर्थंकरों से हो सकती है– किन्तु इतना तो मानना ही होगा कि ये सभी उल्लेख श्रमणधारा के अतिप्राचीन अस्तित्व को ही सूचित करते हैं।

◆ वैदिक साहित्य और जैनागम

वैदिक साहित्य में वेद प्राचीनतम है। वेदों के सन्दर्भ में भारतीय दर्शनों में दो प्रकार की मान्यताएँ उल्लिखित हैं। मीमांसकदर्शन के अनुसार वेद अपौरुषेय है अर्थात् किसी व्यक्ति विशेष द्वारा निर्मित नहीं है। उनके अनुसार वेद अनादि-निधन है, शाश्वत है, न तो उनका कोई रचयिता है और नहीं रचनाकाल। नैयायिकों की मान्यता इससे भिन्न है, वे वेद-वचनों को ईश्वर-सृष्ट मानते हैं। उनके अनुसार वेद अपौरुषेय नहीं, अपितु ईश्वरकृत हैं। ईश्वरकृत होते हुए भी ईश्वर के अनादि-निधन होने से वेद भी अनादि-निधन माने जा सकते हैं, किन्तु जब उन्हें ईश्वरसृष्ट मान लिया गया है, तो फिर अनादि कहना उचित नहीं है, क्योंकि ईश्वर की अपेक्षा से तो वे सादि ही होंगे।

जहाँ तक जैनागमों का प्रश्न है उन्हें अर्थरूप में अर्थात् कथ्य-विषय-वस्तु की अपेक्षा से तीर्थंकरों के द्वारा उपदिष्ट माना जाता है। इसदृष्टि से वे अपौरुषेय नहीं हैं। वे अर्थ रूप में तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट और शब्द रूप में गणधरों द्वारा रचित माने जाते हैं, किन्तु यह बात भी केवल अंग आगम के सन्दर्भ में है। अंगबाह्य आगम ग्रन्थ तो विभिन्न स्थविरों और पूर्वधर-आचार्यों की कृति माने ही जाते हैं। इस प्रकार जैन आगम पौरुषेय (पुरुषकृत) हैं और काल विशेष में निर्मित हैं।

किन्तु जैन आचार्यों ने एक अन्य अपेक्षा से विचार करते हुए अंग आगमों को शाश्वत भी कहा है। उनके इस कथन का आधार यह है कि तीर्थंकरों की परम्परा तो अनादिकाल से चली आ रही है और अनन्तकाल तक चलेगी, कोई भी काल ऐसा नहीं, जिसमें तीर्थंकर नहीं होते हैं। अतः इस दृष्टि से जैन आगम भी अनादि-अनन्त सिद्ध होते हैं। जैन मान्यता के अनुसार तीर्थंकर भिन्न-भिन्न आत्माएँ होती हैं किन्तु उनके उपदेशों में समानता होती है और उनके समान उपदेशों के आधार पर रचित ग्रन्थ भी समान ही होते हैं। इसी अपेक्षा से नन्दीसूत्र में आगमों को अनादि-निधन भी कहा गया है। तीर्थंकरों के कथन में चाहे शब्द रूप में भिन्नता हो, किन्तु अर्थ रूप में भिन्नता नहीं होती है। अतः अर्थ या कथ्य की दृष्टि से यह एकरूपता ही जैनागमों को प्रवाह की अपेक्षा से अनादि-अनन्त सिद्ध करती है। नन्दीसूत्र (५८) में कहा गया है कि "यह जो द्वादश-अंग या गणिपिटक है– वह ऐसा नहीं है कि यह कभी नहीं था, कभी नहीं रहेगा और न कभी होगा। यह सदैव था, सदैव है और सदैव रहेगा। यह ध्रुव, नित्य, शाश्वत, अक्षय, अवस्थित और नित्य है।" इस प्रकार जैन चिन्तक एक ओर प्रत्येक तीर्थंकर के उपदेश के आधार पर उनके प्रमुख शिष्यों के द्वारा शब्द रूप में आगमों की रचना होने की अवधारणा को स्वीकार करते हैं तो दूसरी ओर अर्थ या कथ्य की दृष्टि से समरूपता के आधार पर यह स्वीकार करते हैं कि अर्थ रूप से जिन-वाणी सदैव थी और सदैव

रहेगी। वह कभी भी नष्ट नहीं होती है। विचार की अपेक्षा से आगमों की शाश्वतता और नित्यता मान्य करते हुए भी जैन परम्परा उन्हें शब्द रूप से सृष्ट और विच्छिन्न होने वाला भी मानती है। अनेकान्त की भाषा में कहें तो परम्परा की दृष्टि से आगम शाश्वत और नित्य है, जबकि तीर्थंकर विशेष की शासन की अपेक्षा से वे सृष्ट एवं अनित्य हैं।

वैदिक साहित्य और जैनागमों में दूसरा महत्वपूर्ण अन्तर यह है कि जहाँ वेदों के अध्ययन में सदैव ही शब्द रूप को महत्त्व दिया गया और यह माना गया कि शब्द रूप में कोई परिवर्तन नहीं होना चाहिए। चाहे उसका अर्थ स्पष्ट हो या न हो। इसके विपरीत जैन परम्परा में तीर्थंकरों को अर्थ का प्रवक्ता माना गया और इसलिए इस बात पर बल दिया गया कि चाहे आगमों में शब्द-रूप में भिन्नता हो जाय किन्तु उनमें अर्थ भेद नहीं होना चाहिए। यही कारण था कि शब्द-रूप की इस उपेक्षा के कारण परवर्तीकाल में आगमों में अनेक भाषिक परिवर्तन हुए और आगम पाठों की एकरूपता नहीं रह सकी। यद्यपि विभिन्न संगीतियों के माध्यम से एकरूपता बनाने का प्रयास हुआ लेकिन उसमें पूर्ण सफलता नहीं मिल सकी। यद्यपि यह शब्द-रूप परिवर्तन भी आगे निर्बाध रूप से न चले इसलिए एक ओर उन्हें लिपिबद्ध करने का प्रयास हुआ तो दूसरी ओर आगमों में पद, अक्षर, अनुस्वार आदि में परिवर्तन करना भी महापाप बताया गया। इस प्रकार यद्यपि आगमों के भाषागत स्वरूप को स्थिरता तो प्रदान की गयी, फिर भी शब्द की अपेक्षा अर्थ पर अधिक बल दिए जाने के कारण जैनागमों का स्वरूप पूर्णतया अपरिवर्तित नहीं रह सका, जबकि वेद रूप में अपरिवर्तित रहे। आज भी उनमें ऐसी अनेक ऋचायें हैं– जिनका कोई अर्थ नहीं निकलता है (अनर्थकारि मन्त्राः)। इस प्रकार वेद शब्द-प्रधान हैं जबकि जैन आगम अर्थ-प्रधान है।

वेद और जैनागमों में तीसरी भिन्नता उनकी विषय-वस्तु की अपेक्षा से भी है। वेदों में भौतिक उपलब्धियों हेतु प्राकृतिक शक्तियों के प्रति प्रार्थनाएँ ही प्रधान रूप से देखी जाती है, साथ ही कुछ खोगल-भूगोल सम्बन्धी कुछ विवरण और कथाएँ भी हैं। जबकि जैन अर्धमागधी आगम साहित्य में आध्यात्मिक एवं वैराग्यपरक उपदेशों के द्वारा मन, इन्द्रिय और वासनाओं पर विजय पाने के निर्देश दिये गये हैं। इसके साथ-साथ उसमें मुनि एवं गृहस्थ के आचार सम्बन्धी विधि-निषेध प्रमुखता से वर्णित हैं तथा तप-साधना और कर्म-फल विषयक कुछ कथायें भी हैं। खगोल-भूगोल सम्बन्धी चर्चा भी जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति आदि ग्रन्थों में हैं। जहाँ तक जैनदर्शन का प्रश्न है उसका प्रारम्भिक रूप ही अर्धमागधी आगमों में उपलब्ध होता है।

वैदिक साहित्य में वेदों के पश्चात् क्रमशः ब्राह्मण-ग्रन्थों, आरण्यकों और उपनिषदों का क्रम आता है। इनमें ब्राह्मण ग्रन्थ मुख्यतः यज्ञ-याग सम्बन्धी कर्मकाण्डों का विवरण प्रस्तुत करते हैं। अतः उनकी शैली और विषय-वस्तु दोनों ही अर्धमागधी आगम साहित्य से भिन्न है। आरण्यकों के सम्बन्ध में मैं अभी तक सम्यक् अध्ययन नहीं कर पाया हूँ अतः उनसे अर्धमागधी आगम साहित्य की तुलना पर पाना मेरे लिए सम्भव नहीं है। किन्तु आरण्यकों में वैराग्य, निवृत्ति एवं वानप्रस्थ जीवन के अनेक तथ्यों के उल्लेख होने से विशेष तुलनात्मक अध्ययन द्वारा उनमें और जैन आगमों में समरूपता को खोजा जा सकता है।

जहाँ तक उपनिषदों का प्रश्न है उपनिषदों के अनेक अंश आचारांग, इसिभासियाइं आदि प्राचीन अर्धमागधी साहित्य में भी यथावत् उपलब्ध होते हैं। याज्ञवल्क्य, नारद, कपिल, असितदेवल, अरुण, उद्दालक, पाराशर आदि अनेक औपनिषदिक ऋषियों के उल्लेख एवं उपदेश इसिभासियाइं, आचारांग, सूत्रकृतांग एवं उत्तराध्ययन में उपलब्ध हैं। इसिभासियाइं में याज्ञवल्क्य का उपदेश उसी रूप में वर्णित है, जैसा वह उपनिषदों में मिलता है। उत्तराध्ययन के अनेक आख्यान, उपदेश एवं कथाएँ मात्र नाम-भेद के साथ महाभारत में भी उपलब्ध हैं। प्रस्तुत प्रसंग में विस्तारभय से वह सब तुलनात्मक विवेचन प्रस्तुत करना सम्भव नहीं है। इनके तुलनात्मक अध्ययन हेतु इच्छुक पाठकों को इसिभासियाइं की मेरी भूमिका एवं जैन, बौद्ध और गीता के आचार दर्शनों का तुलनात्मक अध्ययन खण्ड १ एवं २ देखने की अनुशंसा करके इस चर्चा को यहीं विराम देता हूँ।

◆ पालित्रिपिटक और जैनागम

पालित्रिपिटक और जैनागम अपने उद्‌भव स्रोत की अपेक्षा से समकालिक कहे जा सकते हैं, क्योंकि पालित्रिपिटक के प्रवक्ता भगवान बुद्ध और जैनागमों के प्रवक्ता भगवान महावीर समकालिक ही हैं। इसलिए दोनों के प्रारम्भिक ग्रन्थों का रचनाकाल भी समसामयिक है। दूसरे जैन परम्परा और बौद्ध परम्परा दोनों ही भारतीय संस्कृति की श्रमणधारा के अंग है अतः दोनों की मूलभूत जीवन दृष्टि एक ही है। इस तथ्य की पुष्टि जैनागमों और पालित्रिपिटक के तुलनात्मक अध्ययन से हो जाती है। दोनों परम्पराओं में समान रूप से निवृत्तिपरक जीवन-दृष्टि को अपनाया गया है और सदाचार एवं नैतिकता की प्रस्थापना के प्रयत्न किए गये हैं, अतः विषय-वस्तु की दृष्टि से भी दोनों ही परम्पराओं के साहित्य में समानता है। उत्तराध्ययन, दशवैकालिक एवं कुछ प्रकीर्णकों की अनेक गाथाएँ, सुत्तनिपात, धम्मपद आदि में मिल जाती हैं। किन्तु जहाँ तक दोनों के दर्शन एवं आचार नियमों का प्रश्न रहा है, यहाँ स्पष्ट अन्तर भी देखा जाता है। क्योंकि जहाँ भगवान बुद्ध आचार के क्षेत्र में मध्यमवर्गीय थे, वहाँ महावीर तप, त्याग और तितिक्षा पर अधिक बल दे रहे थे। इस प्रकार आचार के क्षेत्र में दोनों की दृष्टियाँ भिन्न थीं। यद्यपि विचार के क्षेत्र में महावीर और बुद्ध दोनों ही एकान्तवाद के समालोचक थे, किन्तु जहाँ बुद्ध ने एकान्तवादों को केवल नकारा, वहाँ महावीर ने उन एकान्तवादों में समन्वय किया। अतः दर्शन के क्षेत्र में बुद्ध की दृष्टि नकारात्मक रही है, जबकि महावीर की सकारात्मक। इस प्रकार दर्शन और आचार के क्षेत्र में दोनों में जो भिन्नता थी, वे उनके साहित्य में भी अभिव्यक्त हुई है। फिर भी सामान्य पाठक की अपेक्षा से दोनों परम्परा के ग्रन्थों में क्षणिकवाद, अनात्मवाद आदि दार्शनिक प्रस्थानों को छोड़कर एकता ही अधिक परिलक्षित होती है।

◆ आगमों का महत्त्व एवं प्रामाणिकता

प्रत्येक धर्म परम्परा में धर्म ग्रन्थ या शास्त्र का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है, क्योंकि उस धर्म के दार्शनिक सिद्धान्त और आचार व्यवस्था दोनों के लिए 'शास्त्र' ही एक मात्र प्रमाण होता है। हिन्दू धर्म में वेद का, बौद्ध धर्म में त्रिपिटक का, पारसी धर्म में अवेस्ता का, ईसाई धर्म में बाइबिल का

और इस्लाम में कुरान का, जो स्थान है, वही स्थान जैनधर्म में आगम साहित्य का है। फिर भी आगम साहित्य को न तो वेद के समान अपौरुषेय माना गया है और न बाइबिल या कुरान के समान किसी पैगम्बर के माध्यम से दिया गया ईश्वर का सन्देश ही, अपितु वह उन अर्हतों व ऋषियों की वाणी का संकलन है, जिन्होंने अपनी तपस्या और साधना द्वारा सत्य का प्रकाश प्राप्त किया था। जैनों के लिए आगम जिनवाणी है, आप्तवचन है, उनके धर्म-दर्शन और साधना का आधार है। यद्यपि वर्तमान में जैनधर्म का दिगम्बर सम्प्रदाय उपलब्ध अर्धमागधी आगमों को प्रमाणभूत नहीं मानता है, क्योंकि उसकी दृष्टि में इन आगमों में कुछ ऐसा प्रक्षिप्त अंश है, जो उनकी मान्यताओं के विपरीत है। मेरी दृष्टि में चाहे वर्तमान में उपलब्ध अर्धमागधी आगमों में कुछ प्रक्षिप्त अंश हों या उनमें कुछ परिवर्तन-परिवर्धन भी हुआ हो, फिर भी वे जैनधर्म के प्रामाणिक दस्तावेज हैं। उनमें अनेक ऐतिहासिक तथ्य उपलब्ध हैं। उनकी पूर्णतः अस्वीकृति का अर्थ अपनी प्रामाणिकता को ही नकारना है। श्वेताम्बर मान्य इन अर्धमागधी आगमों की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ये ई.पू. पाँचवीं शती से लेकर ईसा की पाँचवीं शती अर्थात् लगभग एक हजार वर्ष में जैन संघ के चढ़ाव-उतार की एक प्रामाणिक कहानी कह देते हैं।

◆ अर्धमागधी आगमों का वर्गीकरण

वर्तमान जो आगम ग्रन्थ उपलब्ध हैं उन्हें निम्न रूप में वर्गीकृत किया जाता है–

◆ ११ अंग

१. आयार (आचारांग), २. सूयगड (सूत्रकृतांग), ३. ठाण (स्थानांग), ४. समवाय (समवायांग), ५. वियाहपन्नत्ति (व्याख्याप्रज्ञप्ति या भगवती), ६. नायधम्मकहाओ (ज्ञात-धर्मकथा:), ७. उवासगदसाओ (उपासकदशा:), ८. अंतगडदसाओ (अन्तकृद्दशा:), ९. अनुत्तरोववाइयदसाओ (अनुत्तरौपपातिकदशा:), १०. पण्हावागरणाइं (प्रश्नव्याकरणानि), ११. विवागसुयं (विपाकश्रुतम्), १२. दृष्टिवाद, जो विच्छिन्न हुआ है।

◆ १२ उपांग

१. उववाइयं (औपपातिकं), २. रायपसेणइज्जं (राजप्रसेनजित्कं) अथवा रायपसेणियं (राजप्रश्नीयं), ३. जीवाजीवाभिगम, ४. पण्णवणा (प्रज्ञापना), ५. सूरपण्णति (सूर्यप्रज्ञप्ति), ६. जम्बुद्दीवपण्णत्ति (जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति), ७. चंदपण्णत्ति (चन्द्रप्रज्ञप्ति), ८-१२. निरयावलियासुयक्खंध (निरयावलिकाश्रुतस्कन्ध), ८. निरयावलियाओ (निरयावलिका:), ९. कप्पवडिंसियाओ (कल्पावतंसिका:), १०. पुप्फियाओ (पुष्पिका:), ११. पुप्फचूलाओ (पुष्पचूला:), १२. वण्हिदसाओ (वृष्णिदशा)।

जहाँ तक उपर्युक्त अंग और उपांग ग्रन्थों का प्रश्न है। श्वेताम्बर परम्परा के सभी सम्प्रदाय इन्हें मान्य करते हैं। जबकि दिगम्बर सम्प्रदाय इन्हीं ग्यारह अंग सूत्रों को स्वीकार करते हुए भी यह मानता है कि ये अंगसूत्र वर्तमान में विलुप्त हो गये हैं। उपांगसूत्रों के सन्दर्भ में श्वेताम्बर परम्परा के

सभी सम्प्रदायों में एक रूपता है, किन्तु दिगम्बर परम्पार में बारह उपांगों की न तो कोई मान्यता रही और न वे वर्तमान में इन ग्रन्थों के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। यद्यपि जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, दीपसागरप्रज्ञप्ति आदि नामों से उनके यहाँ कुछ ग्रन्थ अवश्य पाये जाते हैं। साथ ही सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति को भी उनके द्वारा दृष्टिवाद के परिकर्म के अन्तर्गत स्वीकार किया गया था।

◆ चार मूलसूत्र

सामान्यतया उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आवश्यक और पिण्डनिर्युक्ति ये चार मूलसूत्र माने गये हैं। फिर भी मूलसूत्रों की संख्या और नामों के सन्दर्भ में श्वेताम्बर सम्प्रदायों में एकरूपता नहीं है। जहाँ तक उत्तराध्ययन और दशवैकालिक का प्रश्न है इन्हें सभी श्वेताम्बर सम्प्रदायों एवं आचार्यों ने एक मत से मूलसूत्र माना है। समयसुन्दर, भावप्रभसूरि तथा पाश्चात्य विद्वानों में प्रो. वेबर, प्रो. वूल्हर, प्रो. सारपेन्टियर, प्रो. विन्टर्नित्ज, प्रो. शूब्रिग आदि ने एक स्वर से आवश्यक को मूलसूत्र माना है, किन्तु स्थानकवासी एवं तेरापन्थी सम्प्रदाय आवश्यक को मूलसूत्र के अन्तर्गत नहीं मानते हैं। ये दोनों सम्प्रदाय आवश्यक एवं पिण्डनिर्युक्ति के स्थान पर नन्दी और अनुयोगद्वार को मूलसूत्र मानते हैं। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में कुछ आचार्यों ने पिण्डनिर्युक्ति के साथ-साथ ओघनिर्युक्ति को भी मूलसूत्र में माना है। इस प्रकार मूलसूत्रों के वर्गीकरण और उनके नामों में एक रूपता का अभाव है। दिगम्बर परम्परा में इन मूलसूत्रों में से दशवैकालिक, उत्तराध्ययन और आवश्यक मान्य रहे हैं। तत्त्वार्थ की दिगम्बर टीकाओं में, धवला में तथा अगपण्णति में इनका उल्लेख है। ज्ञातव्य है कि अंगपण्णत्ति में नन्दीसूत्र की भाँति ही आवश्यक के छह विभाग किये गये हैं। यापनीय परम्परा में भी न केवल आवश्यक, उत्तराध्ययन एवं दशवैकालिक मान्य रहे हैं, अपितु यापनीय आचार्य अपराजित (नवीं शती) ने तो दशवैकालिक की टीका भी लिखी थी।

◆ छेदसूत्र

छेदसूत्रों के अन्तर्गत वर्तमान में १. आयारदशा (दशाश्रुतस्कन्ध), २. कप्प (कल्प), ३. ववहार (व्यवहार), ४. निसीह (निशीथ), ५. महानिसीह (महानिशीथ) और ६. जीयकप्प (जीतकल्प) ये छह ग्रन्थ माने जाते हैं। इनमें से महानिशीथ और जीतकल्प को श्वेताम्बरों की तेरापन्थी और स्थानकवासी सम्प्रदायें मान्य नहीं करती हैं। वे दोनों मात्र चार ही छेदसूत्र मानते हैं। जबकि श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय उपर्युक्त ६ छेदसूत्रों को मानता है। जहाँ तक दिगम्बर और यापनीय परम्परा का प्रश्न है उनमें अंगबाह्य ग्रन्थों में कल्प, व्यवहार और निशीथ का उल्लेख मिलता है। यापनीय सम्प्रदाय के ग्रन्थों में न केवल इनका उल्लेख मिलता है, अपितु इनके अवतरण भी दिए गए हैं। आश्चर्य यह है कि वर्तमान में दिगम्बर परम्परा में प्रचलित मूलतः यापनीय परम्परा के प्रायश्चित सम्बन्धी ग्रन्थ "छेदपिण्डशास्त्र" में कल्प और व्यवहार के प्रमाण्य के साथ-साथ जीतकल्प का भी प्रमाण्य स्वीकार किया गया है। इस प्रकार दिगम्बर एवं यापनीय परम्पराओं में कल्प, व्यवहार, निशीथ और जीतकल्प की मान्यता रही है, यद्यपि वर्तमान में दिगम्बर आचार्य इन्हें मान्य नहीं करते हैं।

♦ प्रकीर्णक

इसके अन्तर्गत निम्न दस ग्रन्थ माने जाते हैं–

१. चउसरण (चुतःशरण), २. आउरपच्चाक्खाण (आतुरप्रत्याख्यान), ३. भत्तपरिन्ना (भक्तपरिज्ञा), ४. संथार (संस्तार), ५. तंदुलवेयालिय (तंदुलवैचारिक), ६. चंदवेज्झय (चन्द्रवेध्यक), ७. देविन्दत्थय (देवेन्द्रस्तव), ८. गणिविज्जा (गणिविद्या), ९. महापच्चाक्खाण (महाप्रत्याख्यान) और १० वीरत्थय (वीरस्तव)।

श्वेताम्बर सम्प्रदायों में स्थानकवासी और तेरापंथी इन प्रकीर्णकों को मान्य नहीं करते हैं। यद्यपि मेरी दृष्टि में इनमें उनकी परम्परा के विरुद्ध ऐसा कुछ भी नहीं है, जिससे इन्हें अमान्य किया जाए। इनमें से ९ प्रकीर्णकों का उल्लेख तो नन्दीसूत्र में मिल जाता है। अतः इन्हें अमान्य करने का कोई औचित्य नहीं है। हमनें इसकी विस्तृत चर्चा आगम संस्थान, उदयपुर से प्रकाशित महापच्चक्खाण की भूमिका में की है। जहाँ तक दस प्रकीर्णकों के नाम आदि का प्रश्न है श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय के आचार्यों में भी किंचित मतभेद पाया जाता है। लगभग ९ नामों में तो एक रूपता है किन्तु भत्तपरिन्ना, मरणविधि और वीरस्तव यह तीन नाम ऐसे हैं जो भिन्न-भिन्न आचार्यों के वर्गीकरण में भिन्न-भिन्न रूप से आये हैं। किसी ने भक्तपरिज्ञा को छोड़कर मरण विधि का उल्लेख किया है तो किसी ने उसके स्थान पर वीरस्तव का उल्लेख किया है। मुनि श्री पुण्यविजयजी ने पइण्णयसुत्ताइं, प्रथम भाग की भूमिका में प्रकीर्णक नाम से अभिहित लगभग निम्न २२ ग्रन्थों का उल्लेख किया है इनमें से अधिकांश महावीर विद्यालय से पइण्णयसुत्ताइं नाम से २ भागों में प्रकाशित है। अंगविद्या का प्रकाशन प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी की ओर से हुआ है। ये बाईस प्रकीर्णक निम्न हैं–

१. चतुःशरण, २. आतुरप्रत्याख्यान, ३. भक्तपरिज्ञा, ४. संस्थारक, ५. तंदुलवैचारिक, ६. चन्द्रावेध्यक, ७. देवेन्द्रस्तव, ८. गणिविद्या, ९. महाप्रत्याख्यान, १०. वीरस्तव, ११. ऋषिभाषित, १२. अजीवकल्प, १३. गच्छाचार, १४. मरणसमाधि, १५. तित्थोगालिय, १६. आराधनापताका, १७. द्वीपसागरप्रज्ञप्ति, १८., ज्योतिष्करण्डक, १९. अंगविद्या, २०. सिद्धप्राभृत, २१. सारावली और २२. जीवविभक्ति।

इसके अतिरिक्त एक ही नाम से अनेक प्रकीर्णक भी उपलब्ध होते हैं, यथा– "आउरपच्चक्खान" के नाम से तीन ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। उनमें से एक तो दसवीं शती के आचार्य वीरभद्र की कृति है।

इनमें से नन्दी और पाक्षिकसूत्र के उत्कालिक सूत्रों के वर्ग में देवेन्द्रस्तव, तंदुलवैचारिक, चन्द्रवेध्यक, गणिविद्या, मरणविभक्ति, आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान ये सात नाम पाये जाते हैं और कालिकसूत्रों के वर्ग में ऋषिभाषित और द्वीपसागरप्रज्ञप्ति ये दो नाम पाये जाते हैं। इस प्रकार नन्दी एवं पाक्षिकसूत्र में नौ प्रकीर्णकों का उल्लेख मिलता है। ज्ञातव्य है कि श्वेताम्बर मूर्तिपूजक

समाज के कुछ आचार्य जो ८४ आगम मानते हैं, वे प्रकीर्णकों की संख्या १० के स्थान पर ३० मानते हैं। इसमें पूर्वोक्त २२ नामों के अतिरिक्त निम्न ८ प्रकीर्णक और माने गये हैं– पिण्डविशुद्धि, पर्यन्तआराधना, योनिप्राभृत, अंगचूलिया, वंगचूलिया, वृद्धचतुःशरण, जम्बूपयन्ना औव कल्पसूत्र।

जहाँ तक दिगम्बर परम्परा एवं यापनीय परम्परा का प्रश्न है, वह स्पष्टतः इन प्रकीर्णकों को मान्य नहीं करती हैं, फिर भी मूलाचार में आतुरप्रत्याख्यान और महाप्रत्याख्यान से अनेक गाथायें उसके संक्षिप्त प्रत्याख्यान और बृहत्-प्रत्याख्यान नामक ग्रनथ में अवतरित की गई है। इसी प्रकार भगवती आराधना में भी मरणविभक्ति, आराधनापताका आदि अनेक प्रकीर्णकों की गाथायें अवतरित हैं। ज्ञातव्य है कि इनमें अंग बाह्यों को प्रकीर्णक कहा गया है।

◆ चूलिकासूत्र

चूलिकासूत्र के अन्तर्गत नन्दीसूत्र और अनुयोगद्वार ये दो ग्रन्थ माने जाते हैं। जैसा कि हम पूर्व में सूचित कर चुके हैं कि स्थानकवासी परम्परा इन्हें चूलिकासूत्र न कहकर मूलसूत्र में वर्गीकृत करती है। फिर भी इतना निश्चित है कि ये दोनों ग्रन्थ श्वेताम्बर परम्परा के सभी सम्प्रदायों को मान्य रहे हैं।

इस प्रकार हम दखते हैं कि ११ अंग, १२ उपांग, ४ मूल, ६ छेद, १० प्रकीर्णक, २ चूलिकासूत्र– ये ४५ आगम श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परम्परा में मान्य हैं। स्थानकवासी व तेरापन्थी इसमें से १० प्रकीर्णक, जीतकल्प, महानिशीथ और पिण्डनिर्युक्ति इन १३ ग्रन्थों को कम करके ३२ आगम मान्य करते हैं।

जो लोग चौरासी आगम मान्य करते हैं वे दस प्रकीर्णकों के स्थान पर पूर्वोक्त तीस प्रकीर्णक मानते हैं। इसके साथ दस निर्युक्तियों तथा यतिजीतकल्प, श्रद्धाजीतकल्प, पाक्षिकसूत्र, क्षमापनासूत्र, वन्दित्तु, तिथि-प्रकरण, कवचप्रकरण, संशक्तनिर्युक्ति और विशेषावश्यकभाष्य को भी आगमों में सम्मिलित करते हैं।

इस प्रकार वर्तमानकाल में अर्धागधी आगम साहित्य को अंग, उपांग, प्रकीर्णक, छेद, मूल और चूलिकासूत्र के रूप में वर्गीकृत किया जाता है, किन्तु यह वर्गीकरण पर्याप्त परवर्ती है। १२वीं शती से पूर्व के ग्रन्थों में इस प्रकार के वर्गीकरण का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता है। वर्गीकरण की यह शैली सर्वप्रथम हमें आचार्य श्रीचन्द की "सुखबोधासमाचारी" (ई. सन् ११११२) में भी आंशिक रूप से उपलब्ध होती है। इसमें आगम साहित्य के अध्ययन का जो क्रम दिया गया है उससे केवल इतना ही प्रतिफलित होता है कि अंग, उपांग आदि की अवधारणा उस युग में बन चुकी थी। किन्तु वर्तमान काल में जिस प्रकार से वर्गीकरण किया जाता है, वैसा वर्गीकरण उस समय तक भी पूर्ण रूप से निर्धारित नहीं हुआ था। उसमें मात्र अंग, उपांग प्रकीर्णक इतने ही नाम मिलते हैं। विशेषता यह है कि उसमें नन्दीसूत्र व अनुयोगद्वारसूत्र को भी प्रकीर्णकों में सम्मिलित किया गया है। सुखबोधासमाचारी का यह विवरण मुख्य रूप से तो आगम ग्रन्थों के अध्ययन-क्रम को ही सूचित

करता है। इसमें मुनि जीवन सम्बन्धी आचार नियमों के प्रतिपादक आगम ग्रन्थों के अध्ययन को प्राथमिकता दी गयी है और सिद्धान्त ग्रन्थों का अध्ययन बौद्धिक परिपक्वता के पश्चात् हो ऐसी व्यवस्था की गई है।

इसी दृष्टि से एक अन्य विवरण जिनप्रभ ने अपने ग्रन्थ विधिमार्गप्रपा में दिया है इसमें वर्तमान में उल्लिखित आगमों के नाम तो मिल जाते हैं, किन्तु कौन आगम किस वर्ग का है यह उल्लेख नहीं है। मात्र प्रत्येक वर्ग के आगमों के नाम एक साथ आने के कारण यह विश्वास किया जा सकता है कि उस समय तक चाहे अंग, उपांग आदि का वर्तमान वर्गीकरण पूर्णतः स्थिर न हुआ हो, किन्तु जैसा पद्मभूषण पं. दलसुखभाई का कथन है कि कौन ग्रन्थ किसके साथ उल्लिखित होना चाहिए ऐसा एक क्रम बन गया था, क्योंकि उसमें अंग, उपांग, छेद, मूल, प्रकीर्णक एवं चूलिकासूत्रों के नाम एक ही साथ मिलते हैं। क्योंकि उसमें अंग, उपांग ग्रन्थों का पारस्परिक सम्बन्ध भी निश्चित किया गया था। मात्र यही नहीं एक मतान्तर का उल्लेख करते हुए उसमें यह भी बताया गया है कि कुछ आचार्य चन्द्रप्रज्ञप्ति एवं सूर्यप्रज्ञप्ति को भगवती का उपांग मानते हैं। जिनप्रभ ने इस ग्रन्थ में सर्वप्रथम वाचनाविधि के प्रारम्भ में अंग, उपांग, प्रकीर्णक, छेद और मूल इन वर्गों का उल्लेख किया है। उन्होंने विधिमार्गप्रपा को ई. सन् १३०६ में पूर्ण किया था, अतः यह माना जा सकता है कि इसके आस-पास ही आगमों का वर्तमान वर्गीकरण प्रचलन में आया होगा।

◆ आगमों के वर्गीकरण की प्राचीन शैली

अर्धमागधी आगम साहित्य के वर्गीकरण की प्राचीन शैली इससे भिन्न रही है। इस प्राचीन शैली का सर्वप्रथम निर्देश हमें नन्दीसूत्र एवं पाक्षिकसूत्र (ईस्वी सन् पाँचवीं शती) में मिलता है। उस युग में आगमों को अंगप्रविष्ट व अंगबाह्य– इन दो भागों में विभक्त किया जाता था। अंगप्रविष्ट के अन्तर्गत आचरांग आदि १२ अंग ग्रन्थ आते थे। शेष ग्रन्थ अंगबाह्य कहे जाते थे। उसमें अंगबाह्यों की एक संज्ञा प्रकीर्णक भी थी। अंगप्रज्ञप्ति नामक दिगम्बर ग्रन्थ में भी अंगबाह्यों को प्रकीर्णक कहा गया है। अंगबाह्य को पुनः दो भागों में बाँटा जाता था– १. आवश्यक और २. आवश्यक– व्यतिरिक्त। आवश्यक के अन्तर्गत सामायिक आदि छः ग्रन्थ थे। ज्ञातव्य है कि वर्तमान वर्गीकरण में आवश्यक को एक ही ग्रन्थ माना जाता है और सामायिक आदि ६ आवश्यक अंगों को उसके एक-एक अध्याय रूप में माना जाता है, किन्तु प्राचीनकाल में इन्हें छः स्वतन्त्र ग्रन्थ माना जाता था। इसकी पुष्टि अंगपण्णत्ति आदि दिगम्बर ग्रन्थों से भी हो जाती है। उनमें भी सामायिक आदि को छः स्वतन्त्र ग्रन्थ माना गया है। यद्यपि उसमें कायोत्सर्ग एवं प्रत्याख्यान के स्थानपर वैनयिक एवं प्रतिक्रमण नाम मिलते हैं. आवश्यक-व्यतिरिक्त के भी दो भाग किए जाते थे– १. कालिक और २. उत्कालिक। जिनका स्वाध्याय विकाल को छोड़कर किया जाता था, वे कालिक कहलाते थे, जबकि उत्कालिक ग्रन्थों के अध्ययन या स्वाध्याय में काल एवं विकाल का विचार नहीं किया जाता था। नन्दीसूत्र एवं पाक्षिकसूत्र की आगमों के वर्गीकरण की यह सूची निम्नानुसार है–

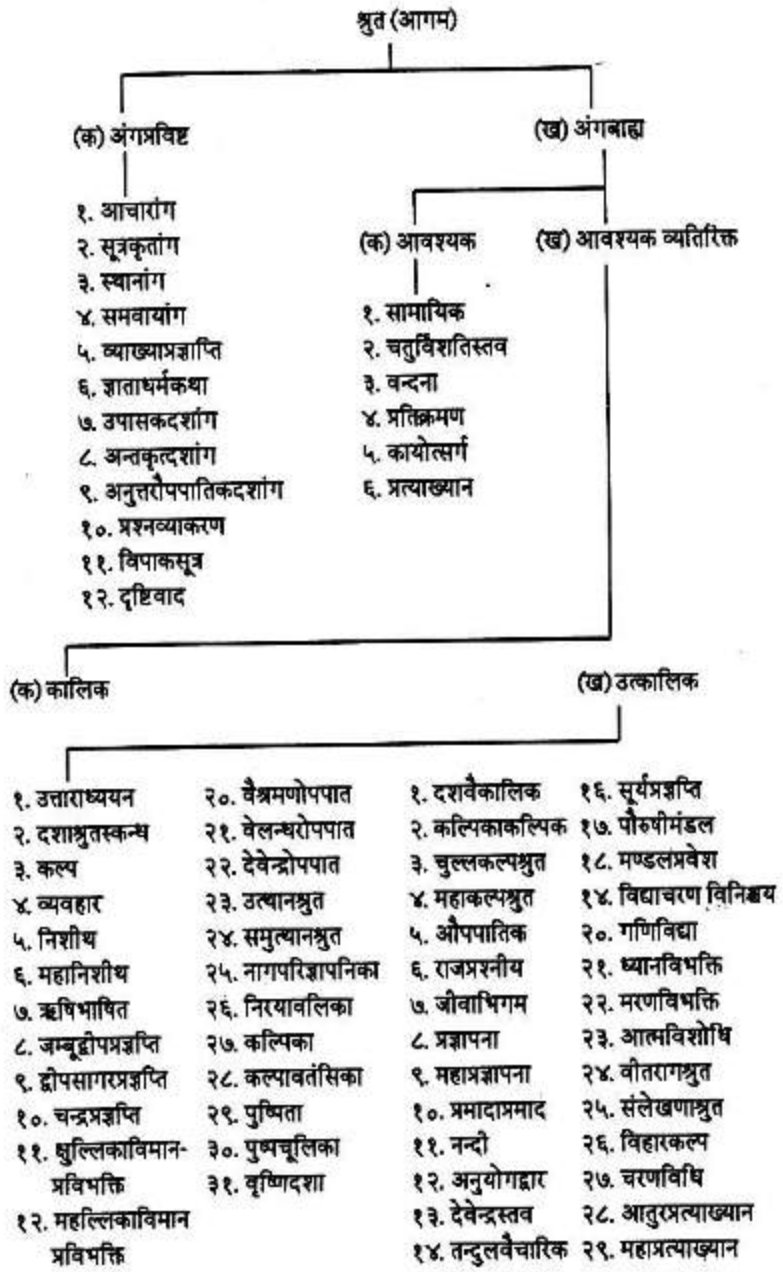
श्रुत (आगम)
(क) अंगप्रविष्ट
(ख) अंगबाह्य
१. आचारांग
२. सूत्रकृतांग
३. स्थानांग
४. समवायांग
५. व्याख्याप्रज्ञप्ति
६. ज्ञाताधर्मकथा
७. उपासकदशांग
८. अन्तकृत्दशांग
९. अनुत्तरौपपातिकदशांग
१०. प्रश्नव्याकरण
११. विपाकसूत्र
१२. दृष्टिवाद
(क) आवश्यक
(ख) आवश्यक व्यतिरिक्त
१. सामायिक
२. चतुर्विंशतिस्तव
३. वन्दना
४. प्रतिक्रमण
५. कायोत्सर्ग
६. प्रत्याख्यान
(क) कालिक
(ख) उत्कालिक
१. उत्तराध्ययन
२. दशाश्रुतस्कन्ध
३. कल्प
४. व्यवहार
५. निशीथ
६. महानिशीथ
७. ऋषिभाषित
८. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति
९. द्वीपसागरप्रज्ञप्ति
१०. चन्द्रप्रज्ञप्ति
११. क्षुल्लिकाविमान-प्रविभक्ति
१२. महल्लिकाविमान प्रविभक्ति
१३. अंगचूलिका
१४. वर्गचूलिका
१५. विवाहचूलिका
१६. अरुणोपपात
१७. वरुणोपपात
१८. गरुडोपपात
१९. धरणोपपात
२०. वैश्रमणोपपात
२१. वेलन्धरोपपात
२२. देवेन्द्रोपपात
२३. उत्थानश्रुत
२४. समुत्थानश्रुत
२५. नागपरिज्ञापनिका
२६. निरयावलिका
२७. कल्पिका
२८. कल्पावतंसिका
२९. पुष्पिता
३०. पुष्पचूलिका
३१. वृष्णिदशा
१. दशवैकालिक
२. कल्पिकाकल्पिक
३. चुल्लकल्पश्रुत
४. महाकल्पश्रुत
५. औपपातिक
६. राजप्रश्नीय
७. जीवाभिगम
८. प्रज्ञापना
९. महाप्रज्ञापना
१०. प्रमादाप्रमाद
११. नन्दी
१२. अनुयोगद्वार
१३. देवेन्द्रस्तव
१४. तन्दुलवैचारिक
१५. चन्द्रवेध्यक
१६. सूर्यप्रज्ञप्ति
१७. पौरुषीमंडल
१८. मण्डलप्रवेश
१९. विद्याचरण विनिश्चय
२०. गणिविद्या
२१. ध्यानविभक्ति
२२. मरणविभक्ति
२३. आत्मविशोधि
२४. वीतरागश्रुत
२५. संलेखणाश्रुत
२६. विहारकल्प
२७. चरणविधि
२८. आतुरप्रत्याख्यान
२९. महाप्रत्याख्यान

१३. अंगचूलिका
१४. वग्गचूलिका
१५. विवाहचूलिका
१६. अरुणोपपात
१७. वरुणोपपात
१८. गरुडोपपात
१९. धरणोपपात

१५. चन्द्रवेध्यक

इस प्रकार नन्दीसूत्र में १२ अंग, ६ आवश्यक, ३१ कालिक एवं २९ उत्कालिक सहितक ७८ आगमों का उल्लेख मिलता है। ज्ञातव्य है कि आज इनमें से अनेक ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं।

◆ यापनीय और दिगम्बर परम्परा में आगमों का वर्गीकरण

यापनीय और दिगम्बर परम्पराओं में जैन आगम साहित्य के वर्गीकरण की जो भी शैली मान्य रही है, वह भी बहुत कुछ नन्दीसूत्र की शैली के अनुरूप है। उन्होंने उसे उमास्वाति के तत्वार्थसूत्र से ग्रहण किया है। उसमें आगमों को अंग और अंगबाह्य ऐसे दो वर्गों में विभाजित किया गया है। इसमें अंगों की बारह संख्या का स्पष्ट उल्लेख तो मिलता है, किन्तु अंगबाह्य की संख्या का स्पष्ट निर्देश नहीं है। मात्र यह कहा गया है अंगबाह्य अनेक प्रकार के हैं। किन्तु अपने तत्वार्थभाष्य (१/२०) में आचार्य उमास्वाति ने अंग-बाह्य के अंतर्गत सर्वप्रथम सामायिक आदि छह आवश्यकों का उल्लेख किया है उसके बाद दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, दशा, कल्प-व्यवहार, निशीथ और ऋणिभाषित के नाम देकर अन्त में आदि शब्द से अन्य ग्रंथों का ग्रहण किया है। किन्तु अंगबाह्य में स्पष्ट नाम तो उन्होंने केवल बारह ही दिये हैं। इसमें कल्प-व्यवहार का एकीकरण किया गया है। एक अन्य सूचना से यह भी ज्ञात होता है कि तत्वार्थभाष्य में उपांग संज्ञा का निर्देश है। हो सकता है कि पहले १२ अंगों के समान यही १२ उपांग माने जाते हों। तत्वार्थसूत्र के टीकाकार पूज्यपाद, अकलंक, विद्यानन्दी आदि दिगम्बर आचार्यों ने अंगबाह्य में न केवल उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि ग्रन्थों का उल्लेख किया है, अपितु कालिक एवं उत्कालिक ऐसे वर्गों का भी नाम निर्देश (१/२०) किया है। हरिवंशपुराण एवं धवलाटीका में आगमों का जो वर्गीकरण उपलब्ध होता है उसमें १२ अंगों एवं १४ अंगबाह्यों का उल्लेख है। उसमें भी अंगबाह्यों में सर्वप्रथम छह आवश्यकों का उल्लेख है– तत्पश्चात् दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्प-व्यवहार, कप्पाकप्पीय, महाकप्पीय, पुण्डरीक, महापुण्डरीक व निशीथ का उल्लेख है। इस प्रकार धवला में १२ अंग और १४ अंगबाह्यो की गणना की गयी। इसमें भी कल्प और व्यवहार को एक ही ग्रन्थ माना गया है। ज्ञातव्य है कि तत्वार्थभाष्य की अपेक्षा इसमें कप्पाकप्पीय (कल्पिकाकल्पिक), महाकप्पीय (महाकल्प) पण्डरीक और महापुण्डरीक– ये चार नाम अधिक हैं। किन्तु भाष्य में उल्लिखित दशा और ऋषिभाषित को छोड़ दिया गया है। इसमें जो चार नाम अधिक हैं– उनमें कप्पाकप्पीय और महाकप्पीय का उल्लेख नन्दीसूत्र में भी है, मात्र पुण्डरीक और महापुण्डरीक ये दो नाम विशेष हैं।

दिगम्बर परम्परा में आचार्य शुभचन्द्र कृत अंगप्रज्ञप्ति (अंगपण्णत्ति) नामक एक ग्रन्थ मिलता है। यह ग्रन्थ धवलाटीका के पश्चात् का प्रतीत होता है। इसमें धवलाटीका में वर्णित १२ अंग प्रविष्टि व १४ अंगबाह्य ग्रन्थों की विषय-वस्तु का विवरण दिया गया है। यद्यपि इसमें अंगबाह्य ग्रन्थों की विषय-वस्तु का विवरण संक्षिप्त ही है। इस ग्रन्थ में और दिगम्बर परम्परा के अन्य ग्रन्थों में अंग बाह्यों को प्रकीर्णक भी कहा गया है (३.१०)। इसमें कहा गया है कि सामायिक प्रमुख १४ प्रकीर्णक अंगबाह्य है। इसमें दिये गये विषय-वस्तु के विवरण से लगता है कि यह विवरण मात्र अनुश्रुति के आधार पर लिखा गया है, मूल ग्रन्थों को लेखक ने नहीं देखा है, इसमें भी पुण्डरीक और महापुण्डरीक का उल्लेख है। इन दोनों ग्रन्थों का उल्लेख श्वेताम्बर परम्परा में मुझे कहीं नहीं मिला। यद्यपि श्वेताम्बर परम्परा के सूत्रकृतांग में एक अध्ययन का नाम पुण्डरीक अवश्य मिलता है। प्रकीर्णकों में एक सारावली प्रकीर्णक है। इसमें पुण्डरीक महातीर्थ (शत्रुंजय) की महत्ता का विस्तृत विवरण है। सम्भव है कि पुण्डरीक सारावली प्रकीर्णक का ही यह दूसरा नाम हो। फिर भी स्पष्ट प्रमाण के अभाव में इस संबंध में अधिक कुछ कहना उचित नहीं होगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रथम शती से लेकर दसवीं शती तक आगमों को नन्दीसूत्र की शैली में अंग और अंगबाह्य–पुनः अंग बाह्यों को आवश्यक और आवश्यक-व्यतिरिक्त ऐसे दो विभाग सर्वमान्य थे। लगभग ग्यारहवीं-बारहवीं शती के बाद से अंग, उपांग, प्रकीर्णक, छेद, मूल और चूलिकासूत्र का वर्तमान वर्गीकरण अस्तित्व में आया है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों परम्पराओं में सभी अंगबाह्य आगमों के लिए प्रकीर्णक (पइण्णय) नाम भी प्रचलित रहा है।

◆ अर्धमागधी आगम साहित्य की प्राचीनता एवं उनका रचनाकाल

भारत जैसे विशाल देश में अतिप्राचीनकल से ही अनेक बोलियों का अस्तित्व रहा है, किन्तु साहित्यिक दृष्टि से भारत में तीन प्राचीन भाषाएँ प्रचलित रही हैं– संस्कृत, प्राकृत और पाली। इनमें संस्कृत के दो रूप पाये जाते हैं–छान्दस् और साहित्यिक संस्कृत। वेद छान्दस् संस्कृत में है, जो पालि और प्राकृत के निकट है। उपनिषदों की भाषा छान्दस् की अपेक्षा साहित्यिक संस्कृत के अधिक निकट है। प्राकृत भाषा में निबद्ध जो साहित्य उपलब्ध है, उसमें अर्धमागधी आगम साहित्य प्राचीनतम है। यहाँ तक की आचारांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध और ऋषिभाषित तो अशोककालीन प्राकृत अभिलेखों से भी प्राचीन है। ये दोनों ग्रन्थ लगभग ई.पू. पाँचवी-चौथी शताब्दी की रचनाएँ हैं। आचारांगकी सूत्रात्मक औपनिषदिक शैली उसे उपनिषदों का निकटवर्ती और स्वयं भगवान महावीर की वाणी सिद्ध करती है। भाव,भाषा और शैली तीनों के आधार पर यह सम्पूर्ण पालि और प्राकृत साहित्य में प्राचीनतम है। आत्मा के स्वरूप एवं अस्तित्व सम्बन्धी इसके विवरण औपनिषदिक विवरणों के अनुरूप हैं। इसमें प्रतिपादित महावीर का जीवनवृत्त भी आलौकिकता और अतिशयता रहित है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह विवरण भी उसी व्यक्ति द्वारा कहा गया है, जिसने स्वयं उनकी जीवनचर्या को निकटता से देखा और जाना होगा। अर्धमागधी आगम साहित्य

में ही सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के छठें अध्याय, आचारांगचूला और कल्पसूत्र में भी महावीर की जीवनचर्या का उल्लेख है, किन्तु वे भी अपेक्षाकृत रूप में आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की अपेक्षा परवर्ती हैं, क्योंकि उनमें क्रमशः अलौकिकता, अतिशयता और अतिरंजना का प्रवेश होता गया है। इसी प्रकार ऋषिभाषित की साम्प्रदायिक अभिनिवेश से रहित उदारदृष्टि तथा भाव और भाषागत अनेक तथ्य उसे आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध को छोड़कर सम्पूर्ण प्राकृत एवं पालिसाहित्य में प्रचीनतम सिद्ध करते हैं। पालि साहित्य में प्राचीनतम ग्रन्थ सुत्तनिपात माना जाता है, किन्तु अनेक तथ्यों के आधार पर यह सिद्ध हो चुका है कि ऋषिभाषित, सुत्तनिपात से भी प्राचीन है। अर्धमागधी आगमों की प्रथम वाचना स्थूलिभद्र के समय अर्थात् ईसा पूर्व तीसरी शती में हुई थी, अतः इतना निश्चित है कि उस समय तक अर्धमागधी आगम साहित्य अस्तित्व में आ चुका था। इस प्रकार अर्धमागधी आगम साहित्य के कुछ ग्रन्थों के रचनाकाल की उत्तर सीमा ई.पू. पाँचवी-चौथी शताब्दी सिद्ध होती है, जो कि इस साहित्य की प्राचीनता को प्रमाणित करती है।

फिर भी हमें यह स्मरण रखना होगा कि सम्पूर्ण अर्धमागधी आगम साहित्य न तो एक व्यक्ति की रचना है और न एक काल की। यह सत्य है कि इस साहित्य को अन्तिम रूप वीरनिर्वाण सम्वत् ९८० में वल्लभी में सम्पन्न हुई वाचना में प्राप्त हुआ। किन्तु इस आधार पर हमारे कुछ विद्वान मित्र यह गलत निष्कर्ष निकाल लेते हैं कि अर्धमागधी आगम साहित्य ईस्वी सन् की पाँचवी शताब्दी की रचना है। यदि अर्धमागधी आगम ईसा की पाँचवी शती की रचना हैं, तो वल्लभी की इस अन्तिम वाचना के पूर्व भी वल्लभी, मथुरा, खण्डगिरी और पाटलीपुत्र में जो वाचनायें हुई थीं उनमें संकलित साहित्य कौन सा था? उन्हें यह स्मरण रखना चाहिए की वल्लभी में आगमों को संकलित, सुव्यवस्थित और सम्पादित करके लिपिबद्ध (पुस्तकारुढ़) किया गया था, अतः यह किसी भी स्थिति में उनका रचना काल नहीं माना जा सकता है। संकलन और सम्पादन का अर्थ रचना नहीं है। पुनः आगमों में विषय-वस्तु, भाषा और शैली की जो विविधता और भिन्नता परिलक्षित होती है, वह स्पष्टतया इस तथ्य की प्रमाण है कि संकलन और सम्पादन के समय उनकी मौलिकता को यथावत रखने का प्रयत्न किया गया है, अन्यथा आज उनका प्राचीन स्वरूप समाप्त ही हो जाता और आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की भाषा ओर शैली भी परिवर्तित हो जाती तथा उसके उपधानश्रुत नामक नवें अध्ययन में वर्णित महावीर का जीवनवृत्त अलौकिकता एवं अतिशयों से युक्त बन जाता। यद्यपि यह सत्य है कि आगमों की विषय-वस्तु के कुछ प्रक्षिप्त अंश है, किन्तु प्रथम तो ऐसे प्रक्षेप बहुत ही कम हैं और दूसरे उन्हें स्पष्ट रूप से पहचाना भी जा सकता है। अतः इस आधार पर सम्पूर्ण अर्धमागधी आगम साहित्य को परवर्ती मान लेना सबसे बड़ी भ्रान्ति होगी।

अर्धमागधी आगम साहित्य पर कभी-कभी महाराष्ट्री प्राकृत के प्रभाव को देखकर भी उसकी प्राचीनता पर संदेह किया जाता है। किन्तु प्राचीन हस्तप्रतों के आधार पर पाठों के तुलनात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि अनेक प्राचीन हस्तप्रतों में आज भी उनका "त" श्रुतिप्रधान अर्धमागधी स्वरूप सुरक्षित है। आचारांग के प्रकाशित संस्करणों के अध्ययन से भी यह स्पष्ट हो

जाता है कि परवर्तीकाल में उसमें कितने पाठान्तर हो गये हैं। इस साहित्य पर जो महाराष्ट्री प्रभाव आ गया है वह लिपिकारों और टीकाकारों की अपनी भाषा के प्रभाव के कारण है। उदाहरण के रूप में सूत्रकृतांग का 'रामपुत्ते' पाठ चूर्णि में 'रामाउत्ते' और शीलांक की टीका में 'रामागुत्ते' हो गया। अतः अर्धमागधी आगमों में, महाराष्ट्री प्राकृत के प्रभाव को देखकर उनकी प्राचीनता पर संदेह नहीं करना चाहिये। अपितु उन ग्रन्थों की विभिन्न प्रतों एवं निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीकाओं के आधार पर पाठों के प्राचीन स्वरूपों को सुरक्षित रखने का प्रयत्न करना चाहिये। वस्तुतः अर्धमागधी आगम साहित्य में विभिन्न काल की सामग्री सुरक्षित है। इसकी उत्तर सीमा ई. पूर्व. पाँचवी-चौथी शताब्दी और निम्न सीमा ई. सन् की पाँचवीं शताब्दी है। वस्तुतः अर्धमागधी साहित्य के विभिन्न ग्रन्थों का या उनके किसी अंश विशेष का काल निर्धारित करते समय उनमें उपलब्ध सांस्कृतिक सामग्री, दार्शनिक चिन्तन की स्पष्टता एवं गहनता तथा भाषा-शैली आदि सभी पक्षों पर प्रामाणिकता के साथ विचार करना चाहिए। इस दृष्टि से अध्ययन करने पर ही यह स्पष्ट हो सकेगा कि अर्धमागधी आगम साहित्य का कौन सा ग्रन्थ अथवा उसका कौन सा अंश विशेष किस काल की रचना है।

अर्धमागधी आगमों की विषय-वस्तु सम्बन्धी निर्देश श्वेताम्बर परम्परा में हमें स्थानांग, समवायांग, नन्दीसूत्र, नन्दीचूर्णी एवं तत्वार्थभाष्य में तथा दिगम्बर परम्परा में तत्वार्थ की टीकाओं के साथ-साथ धवलादि में उनकी विषय-वस्तु सम्बन्धी निर्देश मात्र अनुश्रुतिपरक है, वे ग्रन्थों के वास्तविक अध्ययन पर आधारित नहीं हैं। उनमें दिया गया विवरण तत्वार्थभाष्य एवं परम्परा से प्राप्त सूचनाओं पर आधारित है। जबकि श्वेताम्बर परम्परा में स्थानांग, समवायांग, नन्दी आदि अर्धमागधी आगमों और उनकी व्याख्याओं एवं टीकाओं में उनकी विषय-वस्तु का जो विवरण है वह उन ग्रन्थों के अवलोकन पर आधारित है क्योंकि प्रथम तो इस परम्परा में आगमों के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा आज तक जीवित चली आ रही है। दूसरे आगम ग्रन्थों की विषय-वस्तु में कालक्रम में क्या परिवर्तन हुआ है, इसकी सूचना श्वेताम्बर परम्परा के उपर्युक्त आगम ग्रन्थों से ही प्राप्त हो जाती है। इसके अध्ययन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि किस काल में किस आगम ग्रन्थ में कौन सी सामग्री जुड़ी और अलग हुई है। आचारांग में आचारचूला और निशीथ के जुड़ने और पुनः निशीथ के अलग होने की घटना, समवायांग और स्थानांग में समय-समय पर हुए प्रक्षेप, ज्ञाताधर्मकथा में द्वितीय वर्ग में जुड़े हुए अध्याय, प्रश्नव्याकरण की विषय-वस्तु में हुआ सम्पूर्ण परिवर्तन, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरौपपातिक एवं विपाक के अध्ययनों में हुए आंशिक परिवर्तन, इन सबकी प्रामाणिक जानकारी हमें उन विवरणओं का तुलनात्मक एवं समीक्षात्मक अध्ययन करने से मिल जाती है। इनमें प्रश्नव्याकरण की विषय-वस्तु का परिवर्तन ही ऐसा है, जिसके वर्तमान स्वरूप की सूचना केवल नन्दीचूर्णि (ईस्वी सन् सातवी शती) में मिलती है। वर्तमान प्रश्नव्याकरण लगभग ईस्वी सन् की पाँचवीं-छठीं शताब्दी में अस्तित्व में आया है। इस प्रकार अर्धमागधी आगम साहित्य लगभग एक सहस्र वर्ष की सुदीर्घ अवधि में किस प्रकार निर्मित, परिवर्धित, परिवर्तित एवं सम्पादित होता रहा है इसकी सूचना भी स्वयं अर्धमागधी आगम साहित्य और उसकी टीकाओं से मिल जाती है।

वस्तुतः अर्धमागधी आगम विशेष या उसके अंश विशेष के रचनाकाल का निर्धारण एक जटिल समस्या है, इस सम्बन्ध में विषय-वस्तु सम्बन्धी विवरण, विचारों का विकासक्रम भाषा-शैली आदि अनेक दृष्टियों से निर्णय करना होता है। उदाहरण के रूप में स्थानांग में सात निह्नवों और नौ गणों का उल्लेख मिलता है जो कि वीरनिर्वाण सं. ५८४ तक अस्तित्व में आ चुके थे। किन्तु उसमें बोटिकों एवं उन परवर्ती गणों, कुलों और शाखाओं के उल्लेख नहीं हैं, जो वीरनिर्वाण सं. ६०९ अथवा उसके बाद अस्तित्व में आये, अतः विषय-वस्तु की दृष्टि से स्थानांग के रचनाकाल की अन्तिम सीमा वीरनिर्वाण सम्वत् ६०९ के पूर्व अर्थात् ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी का उत्तरार्ध या द्वितीय शताब्दी का पूर्वार्ध सिद्ध होता है। इसी प्रकार आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध की विषय-वस्तु एवं भाषा शैली आचारांग के रचनाकाल को अर्धमागधी आगम साहित्य में सबसे प्राचीन सिद्ध करती है अर्धमागधी आगम के काल-निर्धारण में इन सभी पक्षों पर विचार अपेक्षित है।

इस प्रकार न तो हमारे कुछ दिगम्बर विद्वानों की यह दृष्टि समुचित है कि अर्धमागधी आगम देवर्द्धिगणि की वाचना के समय अर्थात् ईसा की पाँचवीं शताब्दी में अस्तित्व में आये और न कुछ श्वेताम्बर आचार्यों का यह कहना ही समुचित है कि सभी अंग आगम अपने वर्तमान स्वरूप में गणधरों की रचना है और उनमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन, परिवर्धन, प्रक्षेप या विलोप नहीं हुआ है। किन्तु इतना निश्चित है कि कुछ प्रक्षेपों को छोड़कर अर्धमागधी आगम साहित्य शौरसेनी आगम साहित्य से प्राचीन है। शौरसेनी आगम का प्राचीनतम ग्रन्थ कसायपाहुडसुत्त भी ईस्वी सन् की तीसरी-चौथी शताब्दी से प्राचीन नहीं है। उसके पश्चात् षट्खण्डागम, मूलाचार, भगवतीआराधना, तिलोयपण्णत्ति, पिण्डछेदशास्त्र, आवश्यक (प्रतिकमणसूत्र) आदि का क्रम आता है, किन्तु पिण्डछेदशास्त्र और आवश्यक (प्रतिक्रमण) के अतिरिक्त इन सभी ग्रन्थों में गुणस्थान सिद्धान्त आदि की उपस्थिति से यह फलित होता है कि ये सभी ग्रन्थ पाँचवीं शती के पश्चात् के हैं। दिगम्बर आवश्यक (प्रतिक्रमण) एवं पिण्डछेदशास्त्र का आधार भी क्रमशः श्वेताम्बर मान्य आवश्यक और कल्प-व्यवहार, निशीथ आदि छेदसूत्र ही रहे हैं। उनके प्रतिक्रमण सूत्र में वर्तमान सूत्रकृतांग के तेईस एवं ज्ञाताधर्मकथा के उन्नीस अध्ययनों का विवरण तथा पिण्डछेदशास्त्र में जीतकल्प के आधार पर प्रायश्चित्त देने का निर्देश यही सिद्ध करते हैं कि प्राकृत आगम साहित्य में अर्धमागधी आगम ही प्राचीनतम है चाहे उनकी अन्तिम वाचना पाँचवीं शती के उत्तरार्ध (ई. सन् ४५३) में ही सम्पन्न क्यों न हुई हो?

इस प्रकार जहाँ तक आगमों के रचनाकाल का प्रश्न है उसे ई. पू. पाँचवीं शताब्दी से ईसा की पाँचवीं शताब्दी तक लगभग एक हजार वर्ष की सुदीर्घ अवधि में व्यापक माना जा सकता है क्योंकि उपलब्ध आगमों में सभी एक काल की रचना नहीं है। आगमों के सन्दर्भ में और विशेष रूप से अंग आगमों के सम्बन्ध में परम्परागत मान्यता तो यही है कि वे गणधरों द्वारा रचित होने के कारण ई. पू. पाँचवी शताब्दी की रचना है। दूसरी और कुछ विद्वान उन्हें वल्लभी से संकलित एवं सम्पादित किये जाने के कारण ईसा की पाँचवीं शती की रचना मानते हैं। मेरी दृष्टि में ये दोनों ही

मत समीचीन नहीं है। देवर्धि के संकलन, सम्पादन एवं लेखन काल को उनका रचना काल नहीं माना जा सकता। अंग आगम तो प्राचीन ही है। ईसा पूर्व चौथी शती में पाटलीपुत्र की वाचना में जिन द्वादश अंगों की वाचना हुई थी, वे निश्चित रूप से उसके पूर्व ही बने होंगे। यह सत्य है कि आगमों में देवर्धि की वाचना के समय अथवा उसके बाद भी कुछ प्रक्षेप हुए हों, किन्तु उन प्रक्षेपों के आधार पर सभी अंग आगमों का रचनाकाल ई. सन् की पाँचवीं शताब्दी नहीं माना जा सकता। डॉ. हर्मन याकोबी ने यह निश्चित किया है कि आगमों का प्राचीन अंश ई.पू. चौथी शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर ई.पू. तीसरी शताब्दी के पूर्वार्द्ध के बीच का है। न केवल अंग आगम अपितु दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प और व्यवहार भी जिन्हें आचार्य भद्रबाहु की रचना माना जाता है वे भी याकोबी और शुब्रिंग के अनुसार ई.पू. चतुर्थ शती के उत्तरार्द्ध से ई. पू. तीसरी शति के पूर्वार्द्ध में निर्मित हैं। पं. दलसुखभाई आदि की मान्यता है कि आगमों का रचनाकाल प्रत्येक ग्रन्थ की भाषा, छंद योजना, विषय-वस्तु और उपलब्ध आन्तरिक और बाह्य साक्ष्यों के आधार पर ही निश्चित किया जा सकता है। आचारांग का प्रथम श्रुतस्कन्ध अपनी भाषा-शैली, विषय-वस्तु, छंदयोजना आदि की दृष्टि से महावीर की वाणी के सर्वाधिक निकट प्रतीत होता है। उसकी औपनिषदिक शैली भी यही बताती है कि वह एक प्राचीन ग्रन्थ है उसका काल किसी भी स्थिति में ई.पू. चतुर्थ शती के बाद का नहीं हो सकता। उसके द्वितीय श्रुतस्कन्ध के रूप में जो "आयारचूला" जोड़ी गयी है, वह भी ई. पू. दूसरी या प्रथम शती से परवर्ती नहीं है। सूत्रकृतांग भी एक प्राचीन आगम है उसकी भाषा, छन्द-योजना एवं उसमें विभिन्न दार्शनिक परम्पराओं के तथा ऋषियों के जो उल्लेख मिले हैं उनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि वह भी ई.पू. चौथी-तीसरी शती से बाद का नहीं हो सकता क्योंकि उसके बाद विकसित दार्शनिक मान्यताओं का उसमें कहीं कोई उल्लेख नहीं है। उसमें उपलब्ध वीरस्तुति में भी अतिरंजनाओं का प्रायः अभाव ही है। अंग आगमों में तीसरा क्रम स्थानांग का आता है। स्थानांग, बौद्ध आगम अंगुत्तरनिकाय की शैली का ग्रन्थ है। ग्रन्थ लेखन की यह शैली भी प्राचीन रही है। स्थानांग में नौ गणों और सात निह्नवों के उल्लेख को छोड़कर अन्य ऐसा कुछ भी नहीं है जिससे उसे परवर्ती कहा जा सके। हो सकता है कि जैनधर्म के इतिहास की दृष्टि से महत्वपूर्ण होने के कारण ये उल्लेख उसमें अन्तिम वाचना के समय प्रक्षिप्त किये गये हों। उसमें जो दस दशाओं और उनमें प्रत्येक के अध्यायों के नामों का उल्लेख है वह भी उन आगमों की प्राचीन विषय-वस्तु का निर्देश करता है। यदि वह वल्लभी के वाचनाकाल में निर्मित हुआ होता तो उसमें दस दशाओं की जो विषय वस्तु वर्णित है वह भिन्न होती। अतः उसकी प्राचीनता में सन्देह नहीं किया जा सकता। समवायांग, स्थानांग की अपेक्षा एक परवर्ती ग्रन्थ है इसके प्रारम्भ में द्वादश अंगों का स्पष्ट उल्लेख है। साथ ही इसमें उत्तराध्ययन के ३६, ऋषिभाषित के ४४, सूत्रकृतांग २३, सूत्रकृतांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के १६, आचारांग के चूलिका सहित २५ अध्ययन, दशाकल्प और व्यवहार के २६ *अध्ययन आदि का उल्लेख होने से इतना तो निश्चित है कि यह ग्रन्थ इसमें निर्दिष्ट आगमों के स्वरूप* के निर्धारित होने के पश्चात् ही बना होगा। पुनः इसमें चतुर्दश गुणस्थानों का जीवस्थान के रूप में

स्पष्ट उल्लेख मिलता है। यह निश्चित है कि गुणस्थान का यह सिद्धान्त उमास्वाति के पश्चात् अर्थात् ईसा की चतुर्थ शती के बाद ही अस्तित्व में आया है। यदि इसमें जीवठांण के रूप में चौदह गुणस्थानों के उल्लेख को बाद में प्रक्षिप्त भी मान लिया जाय तो भी अपनी भाषा-शैली और विषय-वस्तु की दृष्टि से इसका वर्तमान स्वरूप ईसा की ३-४ शती से पहले का नहीं है। हो सकता है उसके कुछ अंश प्राचीन हों, लेकिन आज उन्हें खोज पाना अति कठिन कार्य है। जहाँ तक भगवतीसूत्र का प्रश्न है विद्वानों के अनुसार इसके अनेक स्तर हैं इसमें कुछ स्तर अवश्य ही ई.पू. के हैं किन्तु समवायांग की भाँति भगवती में भी पर्याप्त प्रक्षेप हुआ है। भगवतीसूत्र में अनेक स्थलों पर जीवाजीवाभिगम, प्रज्ञापना, अनुयोगद्वार, नन्दी आदि परवर्ती आगमों का निर्देश हुआ है। इनके उल्लेख होने से यह स्पष्ट है कि इसके सम्पादन के समय इसमें इसी प्रकार की सूचनायें दे दी गयी हैं। इससे यह प्रतिफलित होता है कि वल्लभी वाचना में इसमें पर्याप्त रूप से परिवर्धन और संशोधन अवश्य हुआ है, फिर भी इसके कुछ शतकों की प्राचीनता निर्विवाद है। कुछ पाश्चात्य एवं भारतीय विद्वान इसके प्राचीन एवं परवर्ती स्तरों के पृथक्करण का कार्य कर रहे हैं। उनके निष्कर्ष प्राप्त होने पर ही इसका रचनाकाल निश्चित किया जा सकता है।

उपासकदशा आगम साहित्य में श्रावकाचार का वर्णन करने वाला प्रथम ग्रन्थ है। स्थानांगसूत्र में उल्लिखित इसके दश अध्ययनों और उनकी विषय-वस्तु में किसी प्रकार के परिवर्तन होने के संकेत नहीं मिलते हैं। अतः मैं समझता हूँ कि यह ग्रन्थ भी अपने वर्तमान स्वरूप में ई.पू. की ही रचना है और इसके किसी भी अध्ययन का विलोप नहीं हुआ है। श्रावकव्रतों के सम्बन्धों तत्वार्थसूत्र में स्पष्टतः इसका अनुसरण देखा जाता है अतः यह तत्वार्थ से अर्थात् ईसा की तीसरी शती से परवर्ती नहीं हो सकता है।

अंग आगम साहित्य में अन्तकृद्दशा की विषय-वस्तु का उल्लेख हमें स्थानांगसूत्र में मिलता है। उसमें इसके निम्न दस अध्याय उल्लिखित हैं– नमि, मातंग, सोमिल, रामपुत्ले, सुदर्शन, जमाग्लि, भगालि, किंकिम, पल्लतेतिय, फाल अम्बडपुत्र। एक सुदर्शन सम्बन्धी कुछ अंश को छोड़कर वर्तमान अन्तकृद्दशासूत्र में ये कोई भी अध्ययन नहीं मिलते हैं। किन्तु समवयांग और नन्दीसूत्र में क्रमशः सात और आठ वर्गों के उल्लेख मिलते हैं। इससे यह प्रतिफलित होता है कि स्थानांग में उल्लिखित अन्तकृद्दशा का प्राचीन अंश विलुप्त हो गया है। यद्यपि समवायांग और नन्दी में इसके क्रमशः सात एवं आठ वर्गों का उल्लेख होने से इतना तय है कि वर्तमान अन्तकृद्दशा समवायांग और नन्दी की रचना के समय अस्तित्व में आ गया था। अतः इसका वर्तमान स्वरूप ईसा की चौथी-पाँचवी शती का है। उसके प्राचीन दस अध्यायों के जो उल्लेख हमें स्थानांग में मिलते हैं उन्हीं दस अध्ययनों के उल्लेख दिगम्बर एवं यापनीय परम्परा के ग्रन्थों यथा अकलंक के राजवार्तिक, धवला, अंगप्रज्ञप्ति आदि में भी मिलता है। इससे यह फलित होता है कि अंग के प्राचीन स्वरूप के विलुप्त हो जाने के पश्चात् भी माथुरी वाचना की अनुश्रुति से इसमें स्थानांग उल्लिखित इसके दश अध्यायों की चर्चा होती रही है। हो सकता है कि इसकी माथुरी वाचना में ये दश अध्ययन रहे होंगे।

बहुत कुछ यही स्थिति अनुत्तरौपपातिकदशा की है। स्थानांगसूत्र की सूचना के अनुसार इसमें निम्न दस अध्ययन कहे गये हैं–

१. ऋषिदास, २. धन्य, ३. सुनक्षत्र, ४. कार्तिक, ५. संस्थान, ६. शालिभद्र, ७. आनन्द, ८. तेतली, ९. दशार्णभद्र, १०. अतिमुक्त। उपलब्ध अनुत्तरौपपातिकदशा में तीन वर्ग हैं उसमें द्वितीय वर्ग में ऋषिदास, धन्य और सुनक्षत्र ऐसे तीन अध्ययन मिलते हैं इनमें भी धन्य का अध्ययन भी विस्तृत है। सुनक्षत्र और ऋषिदास के विवरण अत्यन्त संक्षेप में ही हैं। स्थानांग में उल्लिखित शेष सात अध्याय वर्तमान औपपातिकसूत्र में उपलब्ध नहीं होते। इससे यह प्रतीत होता है कि यह ग्रन्थ वल्लभी वाचना के समय ही अपने वर्तमान स्वरूप में आया होगा।

जहाँ तक प्रश्नव्याकरणदशा का प्रश्न है इतना निश्चित है कि वर्तमान प्रश्नव्याकरण की विषय-वस्तु न केवल स्थानांग में उल्लिखित उसकी विषय वस्तु से भिन्न है अपितु नन्दी और समवायांग की उल्लिखित विषय-वस्तु से भी भिन्न है। प्रश्नव्याकरण की वर्तमान आस्रव और संवरद्वार वाली विषय-वस्तु का सर्वप्रथम निर्देश नन्दीचूर्णि में मिलता है। इससे यह फलित होता है कि वर्तमान प्रश्नव्याकरण सूत्र ई. सन् की पाँचवी-छठवीं शती के मध्य ही कभी निर्मित हुआ है। इतना तो निश्चित है कि नन्दी के रचयिता देववाचक के सामने यह ग्रन्थ अपने वर्तमान स्वरूप में नहीं था। किन्तु ज्ञाताधर्मकथा, अन्तकृद्दशा और अनुत्तरौपपातिकदशा में जो परिवर्तन हुए थे, वे नन्दीसूत्रकार के पूर्व हो चुके हैं क्योंकि वह उनके इस परिवर्तित स्वरूप का विवरण देते हैं। इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा मैंने अपने एक स्वतंत्र लेख में की है जो "आगम साहित्य", डॉ. के. आर चन्द्रा, अहमदाबाद में प्रकाशित है।

इसी प्रकार जब हम उपांग साहित्य की ओर आते हैं तो उसमें रायपसेणियसुत्ते में राजा पसेणीय द्वारा आत्मा के अस्तित्व के सम्बन्ध में जो प्रश्न उठाये गये हैं उनका विवरण हमें पालित्रिपिटिक में भी उपलब्ध होता है इससे यह फलित होता है कि औपपातिक का यह अंश कम से कम पालित्रिपिटिक जितना प्राचीन तो है ही। जीवाजीवाभिगम के रचनाकाल को निश्चित रूप से बता पाना तो कठिन है, किन्तु इसकी विषय-वस्तु के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि वह ग्रन्थ ई.पू. की रचना होनी चाहिये। उपांग साहित्य में प्रज्ञापनासूत्र को तो स्पष्टतः आर्य श्याम की रचना माना जाता है। आर्य श्याम का आचार्यकाल वि.नि.सं. ३३५-३७६ के मध्य माना जाता है। अतः इसका रचनाकाल ई.पू. द्वितीय शताब्दी के लगभग निश्चित होता है।

इसी प्रकार उपांग वर्ग के अन्तर्गत वर्णित चन्द्रप्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति और जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति– ये तीन प्रज्ञप्तियाँ प्राचीन ही हैं। वर्तमान में चन्द्रप्रज्ञप्ति और सूर्यप्रज्ञप्ति में कोई भेद नहीं दिखाई देता है। किन्तु सूर्यप्रज्ञप्ति में ज्योतिष सम्बन्धी जो चर्चा है वह वेदांग ज्योतिष के समान है इससे इसकी प्राचीनता स्पष्ट हो जाती है। यह ग्रन्थ किसी भी स्थिति में ई.पू. प्रथम शती से परवर्ती नहीं है। इन तीनों प्रज्ञप्तियों को दिगम्बर परम्परा में भी दृष्टिवाद के एक अंश-परिकर्म के अन्तर्गत माना जाता है। अतः यह ग्रन्थ भी दृष्टिवाद के पूर्ण विच्छेद एवं सम्प्रदाय-भेद के पूर्व का ही होना चाहिये।

छेदसूत्रों में दशाश्रुत, बृहत्कल्प और व्यवहार को स्पष्टतः भद्रबाहु प्रथम की रचना माना गया है अतः इसका काल ई.पू. चतुर्थ-तृतीय शताब्दी के बाद का नहीं हो सकता है। ये सभी ग्रन्थ अचेल परम्परा में मान्य रहे हैं इसी प्रकार निशीथ भी अपने मूल रूप में तो आचारांग की ही एक चूला रहा है, बाद में उसे पृथक किया गया। अतः इसकी प्राचीनता में भी सन्देह नहीं किया जा सकता। याकोबी, शूब्रिंग आदि पाश्चात्य विद्वानों ने एकमत से छेदसूत्रों की प्राचनीता स्वीकार की है। इसके वर्ग में मात्र जीतकल्प ही ऐसा ग्रन्थ है जो निश्चित ही परवर्ती है। पं. दलसुखभाई मालवणिया के अनुसार यह आचार्य जिनभद्र की कृति है। ये जिनभद्र विशेषावश्यकभाष्य के कर्ता हैं इनका काल अनेक प्रमाणों से ई. सन् की सातवीं शती है। अतः जीतकल्प का भी काल वही होना चाहिए। मेरी दृष्टि में पं. दलसुखभाई की यह मान्यता निरापद नहीं है क्योंकि दिगम्बर परम्परा में इन्द्रनन्दि के छेदपिण्डशास्त्र में जीतकल्प के अनुसार प्रायश्चित देने का विधान किया गया है इससे फलित होता है कि यह ग्रन्थ स्पष्ट रूप से सम्प्रदाय भेद से पूर्व की रचना होनी चाहिए। हो सकता है इसके कर्ता जिनभद्र विशेषावश्यक के कर्ता जिनभद्र से भिन्न हों और उनके पूर्ववर्ती भी हों। किन्तु इनता निश्चित है कि नन्दीसूत्र और पाक्षिकसूत्र में जो आगमों की सूची मिलती है उसमें जीतकल्प का नाम नहीं है। अतः यह उसके बाद की ही रचना होगी। इसका काल भी ई. सन् की पाँचवीं शती का उत्तरार्द्ध होना चाहिए। इसकी दिगम्बर और यापनीय परम्परा में मान्यता तभी संभव हो सकती है जब यह स्पष्ट रूप से संघभेद के पूर्व निर्मित हुआ हो। स्पष्ट संघ-भेद पाँचवी शती के उत्तरार्द्ध में अस्तित्व में आया है। छेद वर्ग में महानिशीथ का उद्धार आचार्य हरिभद्र ने किया था, यह सुनिश्चित है। आचार्य हरिभद्र का काल ई. सन् की आठवीं शती माना जाता है। अतः यह ग्रन्थ उसके पूर्व ही निर्मित हुआ होगा। हरिभद्र इसके उद्धारक अवश्य हैं किन्तु रचयिता नहीं। मात्र इतना माना जा सकता है कि उन्होंने इसके त्रुटित भाग की रचना की हो। इस प्रकार इसका काल भी आठवीं शती से पूर्व का ही है।

मूलसूत्रों के वर्ग में दशवैकालिक को आर्य शय्यंभव की कृति माना जाता है। इनका काल महावीर के निर्वाण के ७५ वर्ष बाद है। अतः यह ग्रन्थ ई.पू. पाँचवी-चौथी शताब्दी की रचना है। उत्तराध्ययन यद्यपि एक संकलन है किन्तु इसकी प्राचीनता में कोई शंका नहीं है। इसकी भाषा-शैली तथा विषय-वस्तु के आधार पर विद्वानों ने इसे ई.पू. चौथी-तीसरी शती का ग्रन्थ माना है। मेरी दृष्टि में यह पूर्व प्रश्नव्याकरण का ही एक विभाग था। इसके अनेक गाथायें तथा कथानक पालित्रिपटक साहित्य तथा महाभारत आदि में यथावत मिलते हैं। दशवैकालिक और उत्तराध्ययन यापनीय और दिगम्बर परम्परा में मान्य रहे हैं अतः ये भी संघ भेद या सम्प्रदाय भेद के पूर्व की रचना है। अतः इनकी प्राचीनता में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। श्रमणों के आवश्यक दैनन्दिन क्रियाओं का ग्रन्थ था अतः इसके कुछ प्राचीन पाठ तो भगवान महावीर के समकालिक ही माने जा सकते हैं। चूँकि दशवैकालिक, उत्तराध्ययन और आवश्यक के सामायिक आदि विभाग दिगम्बर और यापनीय परम्परा में भी मान्य रहे हैं। अतः इनकी प्राचीनता असंदिग्ध है।

प्रकीर्णक साहित्य में नौ प्रकीर्णकों का उल्लेख नन्दीसूत्र में है अतः ये सभी नन्दीसूत्र से तो प्राचीन हैं ही, इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। पुनः आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, मरणसमाधि आदि प्रकीर्णकों की सैकड़ों गाथाएँ यापनीय ग्रन्थ मूलाचार और भगवती आराधना में पायी जाती हैं, मूलाचार एवं भगवती आराधना भी छठवीं शती से परवर्ती नहीं है। अतः इन नौ प्रकीर्णकों को तो ई. सन् की चौथी-पाँचवीं शती से परवर्ती नहीं माना जा सकता। यद्यपि वीरभद्र द्वारा रचित कुछ प्रकीर्णक नवीं-दसवीं शती की रचनाएँ हैं। इसी प्रकार चूलिकासूत्रों के अन्तर्गत नन्दी और अनुयोगद्वार सूत्रों में भी अनुयोगद्वार को कुछ विद्वानों ने आर्य रक्षित के समय का माना है। अतः वह ई. सन् की प्रथम शती का ग्रन्थ होना चाहिए। नन्दीसूत्र के कर्त्ता देववाचक देवर्धि से पूर्ववर्ती हैं अतः उनका काल भी पाँचवीं शताब्दी से परवर्ती नहीं हो सकता।

इस प्रकार हम देखते हैं कि उपलब्ध आगमों में कुछ प्रक्षेपों को छोड़कर अधिकांश ग्रन्थ तो ई.पू. के हैं। यह तो एक सामान्य चर्चा हुई किन्तु अभी इन ग्रन्थों में से प्रत्येक के काल-निर्धारण के लिए स्वतन्त्र और निरपेक्ष दृष्टि से अध्ययन की आवश्यकता बनी हुई है। आशा है कि जैन विद्वानों की भावी पीढ़ी इस दिशा में कार्य करेगी।

◆ आगमों की वाचनाएँ

यह सत्य है कि वर्तमान में उपलब्ध श्वेताम्बर मान्य अर्धमागधी आगमों के अन्तिम स्वरूप का निर्धारण वल्लभी वाचना में वि.नि. संवत् ९८० या ९९३ में हुआ किन्तु उसके पूर्व भी आगमों की वाचनाएँ तो होती रही हैं। जो ऐतिहासिक साक्ष्य हमें उपलब्ध हैं उनके अनुसार अर्धमागधी आगमों की पाँच वाचनाएँ होने के उल्लेख प्राप्त होते हैं।

प्रथम वाचना– प्रथम वाचना महावीर के निर्वाण के १६० वर्ष पश्चात् हुई। परम्परागत मान्यता तो यह है कि मध्यप्रदेश में द्वादशवर्षीय भीषण अकाल के कारण कुछ मुनि काल-कवलित हो गये और कुछ समुद्र के तटवर्ती प्रदेशों की ओर चले गये। अकाल की समाप्ति पर वे मुनिगण वापस लौटे तो उन्होंने यह पाया कि उनका आगम-ज्ञान अंशतः विस्मृत एवं विशृंखलित हो गया है और कहीं-कहीं पाठभेद हो गया है। अतः उस युग के प्रमुख आचार्यों ने पाटलीपुत्र में एकत्र होकर आगमज्ञान को व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया। दृष्टिवाद और पूर्व साहित्य का कोई विशिष्ट ज्ञाता वहाँ उपस्थित नहीं था। अतः ग्यारह अंग तो व्यवस्थित किये गये हैं किन्तु दृष्टिवाद और उसमें अन्तर्निहित साहित्य को व्यवस्थित नहीं किया जा सका क्योंकि उसके विशिष्ट ज्ञाता भद्रबाहु उस समय नेपाल में थे। संघ की विशेष प्रार्थना पर उन्होंने स्थूलिभद्र आदि कुछ मुनियों को पूर्व साहित्य की वाचना देना स्वीकार किया। स्थूलिभद्र भी उनसे दस पूर्वों तक का ही अध्ययन अर्थ सहित कर सके और शेष चार पूर्वों का मात्र शाब्दिक ज्ञान ही प्राप्त कर पाये।

इस प्रकार पाटलीपुत्र की वाचना में द्वादश अंगों को सुव्यवस्थित करने का प्रयत्न अवश्य किया गया किन्तु एकादश अंग ही सुव्यवस्थित किये जा सके। दृष्टिवाद और उसमें अन्तर्भुक्त पूर्व

साहित्य को पूर्णतः सुरक्षित नहीं किया जा सका और उसका क्रमशः विलोप होना प्रारम्भ हो गया। फलतः उसकी विषय-वस्तु को लेकर अंग बाह्य ग्रन्थ निर्मित किये जाने लगे।

द्वितीय वाचना– आगमों की द्वितीय वाचना ई. पू. द्वितीय शताब्दी में महावीर के निर्वाण के लगभग ३०० वर्ष पश्चात् उड़ीसा के कुमारी पर्वत् पर सम्राट खारवेल के काल में हुई थी। इस वाचना के सन्दर्भ में विशेष जानकारी प्राप्त नहीं होती है – मात्र यही ज्ञात होता है कि इसमें श्रुत के संरक्षण का प्रयत्न हुआ था। वस्तुतः उस युग में आगमों के अध्ययन-अध्यापन की परम्परा गुरु-शिष्य के माध्यम से मौखिक रूप से ही चलती थी। अतः देशकालगत प्रभावों तथा विस्मृति-दोष के कारण उनमें स्वाभाविक रूप से भिन्नता आ जाती थी। अतः वाचनाओं के माध्यम से उनके भाषायी स्वरूप तथा पाठभेद को सुव्यवस्थि किया जाता है। कालक्रम में जो स्थविरों के द्वारा नवीन ग्रन्थों की रचना होती थी उस पर भी विचार करके उन्हें इन्हीं वाचनाओं में मान्यता प्रदान की जाती थी। इसी प्रकार परिस्थितिवश आचार-नियमों में एवं उनके आगमिक सन्दर्भों की व्याख्या में जो अन्तर आ जाता था उसका निराकरण भी इन्हीं वाचनाओं में किया जाता था। खण्डगिरि पर हुई इस द्वितीय वाचना में ऐसे किन विवादों का समाधान खोजा गया था – इसकी प्रामाणिक जानकारी उपलब्ध नहीं है।

तृतीय वाचना–आगमों की तृतीय वाचना वि.नि. ८२७ अर्थात् ई. सन् की तीसरी शताब्दी में मथुरा में आर्य स्कंदिल के नेतृत्व में हुई। इसलिए इसे माथुरी वाचना या स्कन्दिली वाचना के नाम से भी जाना जाता है। माथुरी वाचना के सन्दर्भ में दो प्रकार की मान्यताएँ नन्दीचूर्णि में हैं। प्रथम मान्यता के अनुसार सुकाल होने के पश्चात् आर्य स्कन्दिल की अध्यक्षता में शेष रहे मुनियों की स्मृति के आधार पर कालिकसूत्रों को सुव्यवस्थित किया गया। अन्य कुछ का मन्तव्य यह है कि इस काल में सूत्र नष्ट नहीं हुआ था किन्तु अनुयोगधर स्वर्गवासी हो गये थे। अतः एक मात्र जीवित स्कन्दिल ने अनुयोगों को पुनः प्रवर्तन किया।

चतुर्थ वाचना– चतुर्थ वाचना तृतीय वाचना के समकालीन ही है। जिस समय उत्तर, पूर्व और मध्य क्षेत्र में विचरण करने वाला मुनि संघ मथुरा में एकत्र हुआ उसी समय दक्षिण-पश्चिम में विचरण करने वाला मुनि संघ वल्लभी (सौराष्ट्र) में आर्य नागार्जुन के नेतृत्व में एकत्र हुआ। इसे नागार्जुनीय वाचना भी कहते हैं।

आर्य स्कन्दिल की माथुरी वाचना और आर्य नागार्जुन की वल्लभी वाचना समकालिक हैं। नन्दीसूत्र स्थविरावली में आर्य स्कंदिल और नागार्जुन के मध्य आर्य हिमवंत का उल्लेख है। इससे यह फलित होता है कि आर्य स्कंदिल और नागार्जुन समकालिक ही रहे होंगे। नन्दीसूत्र स्थविरावली में आर्य स्कंदिल के सन्दर्भ में यह कहा गया कि उनका अनुयोग आज भी दक्षिणार्द्ध भरत क्षेत्र में प्रचलित है। इसका एक तात्पर्य यह भी हो सकता है कि उनके द्वारा सम्पादित आगम दक्षिण भारत में प्रचलित थे। ऐतिहासिक साक्ष्यों से यह ज्ञात होता है कि उत्तर भारत के निर्ग्रन्थ संघ के विभाजन के फलस्वरूप जिस यापनीय सम्प्रदाय का विकास हुआ था उसमें आर्य स्कंदिल के

द्वारा सम्पादित आगम ही मान्य किये जाते थे और इस यापनीय सम्प्रदाय का प्रभाव क्षेत्र मध्य और दक्षिण भारत था। आचार्य पाल्यकीर्ति शाकटायन ने तो स्त्री-निर्वाण प्रकरण में स्पष्ट रूप से मथुरागम का उल्लेख किया है। अतः यह स्पष्ट है कि यापनीय सम्प्रदाय जिन आगमों को मान्य करता था, वे माथुरी वाचना के आगम थे। मूलाचार, भगवतीआराधना आदि यापनीय आगमों में वर्तमान में श्वेताम्बर मान्य आचारांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, कल्प, व्यवहार आदि संग्रहणी सूत्रों एवं निर्युक्ति आदि की सैकड़ों गाथाएँ आज भी उपलब्ध हो रही हैं। इससे यही फलित होता है कि यापनीयों के पास माथुरी वाचना के आगम थे। हम यह भी पाते हैं कि यापनीय ग्रन्थों में जो आगमों की गाथाएँ मिलती हैं वे न तो अर्धमागधी में हैं, न महाराष्ट्रीय प्राकृत में अपितु वे शौरसेनी में हैं। मात्र यही नहीं अपराजित की भगवतीआराधना की टीका में आचारांग, उत्तराध्ययन, कल्पसूत्र, निशीथ आदि से जो अनेक अवतरण दिये हैं वे सभी अर्धमागधी में न होकर शौरसेनी में हैं।

इससे यह फलित होता है कि स्कंदिल की अध्यक्षता वाली माथुरी वाचना में आगमों की अर्धमागधी भाषा पर शौरसेनी का प्रभाव आ गया था। दूसरे माथुरी वाचना के आगमों के जो भी पाठ भगवतीआराधना की टीका आदि में उपलब्ध होते हैं, उनमें वल्लभी वाचना के वर्तमान आगमों में पाठभेद भी देखा जाता है। साथ ही अचेलकत्व की समर्थक कुछ गाथाएँ और गद्यांश भी पाये जाते हैं। कुन्दकुन्द के ग्रन्थों में अनुयोगद्वारसूत्र, प्रकीर्णकों एवं निर्युक्ति आदि की कुछ गाथाएँ क्वचित् पाठभेद के साथ मिलती हैं– सम्भवतः उन्होंने ये गाथायें यापनीयों के माथुरी वाचना के आगमों से ही ली होंगी।

एक ही समय में आर्य स्कंदिल द्वारा मथुरा में और नागार्जुन द्वारा वल्लभी में वाचना किये जाने की एक सम्भावना यह भी हो सकती है कि दोनों में किन्हीं बातों को लेकर मतभेद भी थे। सम्भव है कि इन मतभेदों में वस्त्र-पात्र आदि सम्बन्धी प्रश्न भी रहे हों। आ. कैलाशचन्द्रजी ने जैन साहित्य का इतिहास पूर्व पीठिका (पृ. ५००) में माथुरी वाचना की समकालीन वल्लभी वाचना के प्रमुख के रूप में देवर्धिगणि का उल्लेख किया है, यह उनकी भ्रान्ति है। वास्तविकता तो यह है कि माथुरी वाचना का नेतृत्व आर्य स्कंदिल और वल्लभी की प्रथम वाचना का नेतृत्व आर्य नागार्जुन कर रहे थे और दोनों समकालिक थे। यह बात हम नन्दीसूत्र के प्रमाण से पूर्व में ही कह चुके हैं। यह स्पष्ट है कि आर्य स्कंदिल और नागार्जुन की वाचना में मतभेद था।

पं. कैलाशचन्द्रजी ने यह प्रश्न उठाया है कि यदि वल्लभी वाचना नागार्जुन की थी तो देवर्धि ने वल्लभी में क्या किया? साथ ही उन्होंने यह भी कल्पना कर ली कि वादिवेतालशान्तिसूरि वल्लभी की वाचना में नागार्जुनीयों का पक्ष उपस्थित करने वाले आचार्य थे। हमारा दुर्भाग्य है कि दिगम्बर विद्वानों ने श्वेताम्बर साहित्य का समग्र एवं निष्पक्ष अध्ययन किये बिना मात्र यत्र-तत्र उद्धृत या अंशतः पठित अंशों के आधार पर अनेक भ्रान्तियाँ खड़ी कर दीं। इसके प्रमाण के रूप में उनके द्वारा उद्धृत मूल गाथा में ऐसा कहीं कोई उल्लेख ही नहीं है कि शान्तिसूरि वल्लभी वाचना के समकालिक थे। यदि हम आगमिक व्याख्याओं को देखें तो स्पष्ट हो जाता है कि अनेक वर्षों तक नागार्जुनीय

और देवर्धि की वाचनायें साथ-साथ चलती रहीं हैं क्योंकि इनके पाठान्तर का उल्लेख मूल ग्रन्थों में कम और टीकाओं में अधिक हुआ है।

पंचम वाचना– वी.नि. के ९८० वर्ष पश्चात् ई. सन् की पाँचवीं शती के उत्तरार्द्ध में आर्य स्कंदिल की माथुरी वाचना और आर्य नागार्जुन की वल्लभी वाचना के लगभग १५० वर्ष पश्चात् देवर्धिगणिक्षमाश्रमण की अध्यक्षता में पुनः वल्लभी में एक वाचना हुई। इस वाचना में मुख्यतः आगमों को पुस्तकारूढ़ करने का कार्य किया गया। ऐसा लगता है कि इस वाचना में माथुरी और नागार्जुनीय दोनों वाचनाओं को समन्वित किया गया है और जहाँ मतभेद परिलक्षित हुआ वहाँ "नागार्जुनीयास्तु पठन्ति" ऐसा लिखकर नागार्जुनीय पाठ को भी सम्मिलित किया गया।

प्रत्येक वाचना के सन्दर्भ में प्रायः यह कहा जाता है कि मध्यदेश में द्वादशवर्षीय दुष्काल के कारण श्रमणसंघ समुद्रतटीय प्रदेशों की ओर चला गया और वृद्ध मुनि, जो इस अकाल में लम्बी यात्रा न कर सके कालगत् हो गये। सुकाल होने पर जब मुनिसंघ लौटकर आया तो उसने यह पाया कि इनके श्रुतज्ञान में विस्मृति और विसंगति आ गयी है। प्रत्येक वाचना से पूर्व अकाल की यह कहानी मुझे बुद्धिगम्य नहीं लगती है। मेरी दृष्टि में प्रथम वाचना में श्रमण संघ के विश्रृंखलित होने का प्रमुख कारण अकाल की अपेक्षा मगध राज्य में युद्ध से उत्पन्न अशांति और आराजकता ही थी क्योंकि उस समय नन्द राज्य के अत्याचारों एवं चन्द्रगुप्त मौर्य के आक्रमण के कारण मगध में अशांति थी। उसी के फलस्वरूप श्रमण संघ सुदूर समुद्रीतट की ओर या नेपाल आदि चला गया था। भद्रबाहु की नेपाल यात्रा का भी सम्भवतः यही कारण रहा होगा।

जो भी उपलब्ध साक्ष्य है उससे यह फलित होता है कि पाटलीपुत्र की वाचना के समय द्वादश अंगों को ही व्यवस्थित करने का प्रयत्न हुआ था। उसमें एकादश अंग सुव्यवस्थित हुए और बारहवें दृष्टिवाद जिसमें अन्य दर्शन एवं महावीर के पूर्व पार्श्वनाथ की परम्परा का साहित्य समाहित था, इसका संकलन नहीं किया जा सका। इसी सन्दर्भ में स्थूलिभद्र के द्वारा भद्रबाहु के सान्निध्य में नेपाल जाकर चतुर्दश पूर्वों के अध्ययन की बात कही जाती है। किन्तु स्थूलिभद्र भी मात्र दस पूर्वों का ही ज्ञान अर्थ सहित ग्रहण कर सके, शेष चार पूर्वों का केवल शाब्दिक ज्ञान ही प्राप्त कर सके। इसका फलितार्थ यही है कि पाटलीपुत्र की वाचना में एकादश अंगों का ही संकलन और संपादन हुआ था। किसी भी चतुर्दश पूर्वविद् की उपस्थिति नहीं होने से दृष्टिवाद के संकलन एवं संपादन का कार्य नहीं किया जा सका।

उपांग साहित्य के अनेक ग्रन्थ जैसे प्रज्ञापना आदि, छेदसूत्रों में आचारदशा, कल्प, व्यवहार आदि चूलिकासूत्रों में नन्दी, अनुयोगद्वार आदि ये सभी परवर्ती आचार्यों की कृति होने से उस वाचना में सम्मिलित नहीं किये गये होंगे। यद्यपि आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि ग्रन्थ पाटलीपुत्र की वाचना के पूर्व के हैं किन्तु इस वाचना में इनका क्या किया गया यह जानकारी प्राप्त नहीं है। हो सकता है कि सभी साधु-साध्वियों के लिए इनका स्वाध्याय आवश्यक होने के कारण इनके विस्मृत होने का प्रश्न ही न उठा हो।

पाटलीपुत्र वाचना के बाद उड़ीसा के कुमारी पर्वत (खण्डगिरि) पर खारवेल के राज काल में हुई थी। इस वाचना के सम्बन्ध में मात्र इतना ही ज्ञात है कि इसमें भी श्रुत को सुव्यवस्थित करने का प्रयत्न किया गया था। संभव है कि इस वाचना में ई.पू. प्रथम शती से पूर्व रचित ग्रन्थों के संकलन और सम्पादन का कोई प्रयत्न किया गया हो।

जहाँ तक माथुरी वाचना का प्रश्न है इतना तो निश्चत है कि उसमें ई. सन् की चौथी शती तक के रचित सभी ग्रन्थों के संकलन एवं सम्पादन का प्रयत्न किया गया होगा। इस वाचना के कार्य के सन्दर्भ में जो सूचना मिलती है उसमें इस वाचना में कालिकसूत्रों को व्यवस्थित करने का निर्देश है। नन्दिसूत्र में कालिकसूत्र को अंग-बाह्य, आवश्यक व्यतिरिक्त श्रुतों का ही एक भाग बताया गया है। कालिकसूत्रों के अन्तर्गत उत्तराध्ययन, ऋषिभाषित, दशाश्रुत, कल्प, व्यवहार, निशीथ तथा वर्तमान में उपांग के नाम से अभिहित अनेक ग्रन्थ आते हैं। हो सकता है कि अंग सूत्रों की जो पाटलीपुत्र की वाचना चली आ रही थी वह मथुरा में मान्य रही हो, किन्तु उपांगों में से कुछ को तथा कल्प आदि छेद सूत्रों को सुव्यवस्थित किया गया हो। यापनीय ग्रन्थों की टीकाओं में जो माथुरी वाचना के आगमों के उद्धरण मिलते हैं, उन पर जो शौरसेनी का प्रभाव दिखता है, उससे ऐसा लगता है कि माथुरी वाचना में न केवल कालिक सूत्रों का अपितु उस काल तक रचित सभी ग्रन्थों के संकलन का काम किया गया था। ज्ञातव्य है कि यह माथुरी वाचना मुख्य रूप से अचेलता की पोषक यापनीय परम्परा में भी मान्य रही है। यापनीय ग्रन्थों की व्याख्याओं एवं टीकाओं में इस वाचना के आगमों के अवतरण तथा इन आगमों के प्रामाण्य के उल्लेख मिलते हैं। आर्य शाकटायन ने अपने स्त्री-निर्वाण प्रकरण एवं अपने व्याकरण की स्वोपज्ञटीका में न केवल मथुरा आगम का उल्लेख किया है अपितु उसकी अनेक मान्यताओं का निर्देश भी किया है तथा अनेक अवतरण दिए हैं। इसी प्रकार भगवतीआराधना की अपराजिता की टीका में भी आचारांग, उत्तराध्ययन, निशीथ आदि के अवतरण पाये जाते हैं, यह हम पूर्व में कह चुके हैं।

आर्य स्कंदिल की माथुरी वाचना वस्तुतः उत्तर भारत के निर्ग्रन्थ संघ के सचेल-अचेल दोनों पक्षों के लिए मान्य थी और उसमें दोनों ही पक्षों के सम्पोषक साक्ष्य उपस्थित थे। यहाँ यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि यदि माथुरी वाचना उभय पक्षों को मान्य थी तो फिर उसी समय नागार्जुन की अध्यक्षता में वल्लभी में वाचना करने की क्या आवश्यकता थी। मेरी मान्यता है कि अनेक प्रश्नों पर स्कंदिल और नागार्जुन में मतभेद रहा होगा। इसी कारण से नागार्जुन को स्वतन्त्र वाचना करने की आवश्यकता पड़ी।

इस समस्त चर्चा से पं. कैलाशचन्द्रजी के इस प्रश्न का उत्तर भी मिल जाता है कि वल्लभी की दूसरी वाचना में क्या किया गया? एक ओर मुनि श्री कल्याणविजयती की मान्यता यह है कि वल्लभी में आगमों को मात्र पुस्तकारुढ़ किया गया तो दूसरी ओर पं. कैलाशचन्द्रजी यह मानते हैं कि वल्लभी में आगमों को नये सिरे से लिखा गया, किन्तु ये दोनों ही मत मुझे एकांगी प्रतीत होते हैं। यह सत्य है कि वल्लभी में न केवल आगमों को पुस्तकारुढ़ किया गया, अपितु उन्हें संकलित

एवं सम्पादित भी किया गया किन्तु यह संकलन एवं सम्पादन निराधार नहीं था। न तो दिगम्बर परम्परा का यह कहना उचित है कि वल्लभी में श्वेताम्बरों ने अपनी मान्यता के अनुरूप आगमों को नये सिरे से रच डाला और न यह कहना ही समुचित होगा कि वल्लभी में जो आगम संकलित किये गये वे अक्षुण्ण रूप से वैसे ही थे जैसे– पाटलीपुत्र आदि की पूर्व वाचनाओं में संकलित किया गया था। यह सत्य है कि आगमों की विषय-वस्तु के साथ-साथ अनेक आगम ग्रन्थ भी कालक्रम में विलुप्त हुए हैं। वर्तमान आगमों का यदि सम्यक् प्रकार से विश्लेषण किया जाय तो इस तथ्य की पुष्टि हो जाती है। आज आचारांग का सातवाँ अध्ययन विलुप्त है। इसी प्रकार अन्तकृद्दशा, अनुत्तरोपपातिक व विपाकदशा के भी अनेक अध्याय आज अनुपलब्ध हैं। नन्दिसूत्र की सूची के अनेक आगम ग्रन्थ आज अनुपलब्ध हैं। इस सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा हमने आगमों के विच्छेद की चर्चा के प्रसंग में की है। ज्ञातव्य है कि देवर्धि की वल्लभी वाचना में न केवल आगमों को पुस्तकारुढ़ किया गया है, अपितु उन्हें सम्पादित भी किया गया है। इस सम्पादन के कार्य में उन्होंने आगमों की अवशिष्ट उपलब्ध विषय-वस्तु को अपने ढंग से पुनः वर्गीकृत भी किया था और परस्पर या अनुश्रुति से प्राप्त आगमों के वे अंश जो उनके पूर्व की वाचनाओं में समाहित नहीं थे उन्हें समाहित भी किया। उदाहरण के रूप में ज्ञाताधर्मकथा में सम्पूर्ण द्वितीय श्रुतस्कन्ध के दस वर्ग और अध्ययन इसी वाचना में समाहित किये गये हैं क्योंकि श्वेताम्बर, यापनीय एवं दिगम्बर परम्परा के प्रतिक्रमणसूत्र एवं अन्यत्र उन्नीस अध्ययनों का ही उल्लेख मिलता है। प्राचीन ग्रन्थों में द्वितीय श्रुतस्कंन्ध के दस वर्गों का कहीं कोई निर्देश नहीं है।

इसी प्रकार अन्तकृद्दशा, अनुत्तरौपपातिकदशा और विपाकदशा के सन्दर्भ में स्थानांग में जो दस-दस अध्ययन होने की सूचना है उसके स्थान पर इनमें भी जो वर्गों की व्यवस्था की गई वह देवर्धि की ही देन है। उन्होंने इनके विलुप्त अध्यायों के स्थान पर अनुश्रुति से प्राप्त सामग्री जोड़कर इन ग्रन्थों को नये सिरे से व्यवस्थि किया था।

यह एक सुनिश्चित सत्य है कि आज प्रश्नव्याकरण की आस्रव-संवर द्वार सम्बन्धी जो विषय-वस्तु उपलब्ध है वह किसके द्वारा संकलित व संपादित है यह निर्णय करना कठिन कार्य है किन्तु यदि हम यह मानते हैं कि नन्दीसूत्र के रचयिता देवर्धि न होकर देव वाचक हैं, जो देवर्धि से पूर्व के हैं तो यह कल्पना भी की जा सकती है कि देवर्धि ने आस्रव व संवर द्वार सम्बन्धी विषय-वस्तु को लेकर प्रश्नव्याकरण की प्राचीन विषय-वस्तु का जो विच्छेद हो गया था, उसकी पूर्ति की होगी। इस प्रकार ज्ञाताधर्म से लेकर विपाकसूत्र तक के छः अंग आगमों में जो आंशिक या सम्पूर्ण परिवर्तन हुए हैं वे देवर्धि के द्वारा ही किये हुए माने जा सकते हैं। यद्यपि यह परिवर्तन उन्होंने किसी पूर्व परम्परा या अनुश्रुति के आधार पर ही किया होगा यह विश्वास किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त देवर्धि ने यह महत्वपूर्ण कार्य भी किया कि जहाँ आगमों में एक ही विषय-वस्तु का विवरण कहीं संक्षिप्त और कहीं विस्तृत था वहाँ उन्होंने जहाँ विस्तृत विवरण था उन ग्रन्थों का निर्देश कर दिया। हम देखते हैं कि भगवती आदि कुछ प्राचीन स्तरों के आगमों में भी उन्होंने प्रज्ञापना, नन्दी, अनुयोगद्वार

जैसे परवर्ती आगमों का निर्देश करके आगमों में विषय-वस्तु के पुनरावर्तन को कम किया। इसी प्रकार जब एक ही आगम में कोई विवरण बार-बार आ रहा था तो उस विवरण के प्रथम शब्द के बाद 'जाव' शब्द रखकर अन्तिम शब्द का उल्लेख कर उसे संक्षिप्त बना दिया। इसके साथ ही उन्होंने कुछ महत्वपूर्ण सूचनाएँ जो यद्यपि परवर्तीकाल की थीं उन्हें भी आगमों में दे दिया जैसे स्थानांगसूत्र में सात निह्नवों और सात गणों का उल्लेख। इस प्रकार वल्लभी की वाचना में न केवल आगमों को पुस्तकारुढ़ किया गया अपितु उनकी विषय-वस्तु को सुव्यवस्थित और संपादित किया गया। संभव है कि इस सन्दर्भ में प्रक्षेप और विलोपन भी हुआ होगा किन्तु यह सब भी अनुश्रुति या परम्परा के आधार पर ही किया गया था अन्यथा आगमों को मान्यता न मिलती।

सामान्यतया यह माना जाता है कि वाचनाओं में केवल अनुश्रुति से प्राप्त आगमों को ही संकलित किया जाता था किन्तु मेरी दृष्टि में वाचनाओं में न केवल आगम पाठों को सम्पादित एवं संकलित किया जाता अपितु उनमें नवनिर्मित ग्रन्थों को मान्यता भी प्रदान की जाती और जो आचार और विचार सम्बन्धी मतभेद होते थे उन्हें समन्वित या निराकृत भी किया जाता था। इसके अतिरिक्त इन वाचनाओं में वाचना स्थलों की अपेक्षा से आगमों के भाषिक स्वरूप में भी परिवर्तन हुआ है।

उदाहरण के रूप में जो आगम पटना अथवा उड़ीसा के कुमारी पर्वत (खण्डगिरि) में सुव्यवस्थित किये गये थे, उनकी भाषा अर्धमागधी ही रही किन्तु जब वे आगम मथुरा और वल्लभी में पुनः सम्पादित किये गये तो उनमें भाषिक परिवर्तन आ गये। माथुरी वाचना में जो आगमों का स्वरूप तय हुआ था, उन पर व्यापक रूप से शौरसेनी का प्रभाव आ गया था। दुर्भाग्य से आज हमें माथुरी वाचना के आगम उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु इन आगमों के जो उद्धृत अंश उत्तर भारत की अचेल धारा यापनीय संघ के ग्रन्थों में और उनकी टीकाओं में उद्धृत मिलते हैं, उनमें हम यह पाते हैं कि भागवत समानता के होते हुए भी शब्द रूपों और भाषिक स्वरूप में भिन्नता है। उत्तराध्ययन, आचारांग, निशीथ और कल्प, व्यवहार आदि से जो अंश भगवतीआराधना की टीका में उद्धृत हैं वे अपने भाषिक स्वरूप और पाठभेद की अपेक्षा से वल्लभी के आगमों से किंचित भिन्न हैं।

अतः इन वाचनाओं के कारण आगमों में न केवल भाषिक परिवर्तन हुए अपितु पाठान्तर भी अस्तित्व में आये हैं। वल्लभी की अन्तिम वाचना में वल्लभी की ही नागार्जुनीय वाचना के पाठान्तर तो लिये गये, किन्तु माथुरी वाचना के पाठान्तर समाहित नहीं हैं। यद्यपि कुछ विद्वानों की मान्यता है कि वल्लभी की देवर्धि की वाचना का आधार माथुरी वाचना के आगम थे और यही कारण था कि उन्होंने नागार्जुनीय वाचना के पाठान्तर दिये हैं। किन्तु मेरा मन्तव्य इससे भिन्न है। मेरी दृष्टि में उनकी वाचना का आधार भी परम्परा से प्राप्त नागार्जुनीय वाचना के पूर्व के आगम रहे होंगे, किन्तु जहाँ उन्हें अपनी परम्परागत वाचना से मतभेद दिखायी दिया वहाँ उन्होंने नागार्जुनीय वाचना का उल्लेख कर दिया क्योंकि माथुरी वाचना स्पष्टतः शौरसेनी से प्रभावित थी, दूसरे उस वाचना के आगमों के जो भी अवतरण आज मिलते हैं उनमें कुछ वर्तमान आगमों की वाचना से मेल नहीं खाते हैं। उनसे यही फलित होता है कि देवर्धि की वाचना का आधार स्कंदिल की वाचना तो

नहीं रही है। तीसरे माथुरी वाचना के जो अवतरण आज यापनीय ग्रन्थों में मिलते हैं, उनसे इतना तो फलित होता है कि माथुरी वाचना के आगमों में भी वस्त्र-पात्र सम्बन्धी एवं स्त्री की तद्भव मुक्ति के उल्लेख तो थे, किन्तु उनमें अचेल पक्ष को उत्सर्ग मार्ग माना गया था। यापनीय ग्रन्थों में उद्धृत, अचेलपक्ष के सम्पोषक कुछ अवतरण तो वर्तमान वल्लभी वाचना के आगमों यथा आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध आदि में मिलते हैं किन्तु कुछ अवतरण वर्तमान वाचना में नहीं मिलते हैं। अतः माथुरी वाचना के पाठान्तर वल्लभी की देवर्धि की वाचना का आधार माथुरी वाचना के आगम न होकर उनकी अपनी ही गुरु-परम्परा से प्राप्त आगम रहे होंगे। मेरी दृष्टि में उन्होंने नागार्जुनीय वाचना के ही पाठान्तर अपनी वाचना में समाहित किये – क्योंकि दोनों में भाषा एवं विषय-वस्तु दोनों ही दृष्टि से कम ही अन्तर था। माथुरी वाचना के आगम या तो उन्हें उपलब्ध ही नहीं थे अथवा भाषा एवं विषय-वस्तु दोनों की अपेक्षा भिन्नता अधिक होने से उन्होंने उसे आधार न बनाया हो। फिर भी देवर्धि को परम्परा से प्राप्त जो आगम थे, उनका और माथुरी वाचना के आगमों का मूलस्रोत तो एक ही था। हो सकता है कि दोनों में कालक्रम में भाषा एवं विषय-वस्तु की अपेक्षा क्वचित् अन्तर आ गये हों। अतः यह दृष्टिकोण भी समुचित नहीं होगा कि देवर्धि की वल्लभी वाचना के आगम माथुरी वाचना के आगमों से नितान्त भिन्न थे।

◆ यापनीयों के आगम

यापनीय संघ के आचार्य आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, कल्प, निशीथ, व्यवहार, आवश्यक आदि आगमों को मान्य करते थे। इस प्रकार आगमों के विच्छेद होने की जो दिगम्बर मान्यता है, वह उन्हें स्वीकार्य नहीं थी। यापनीय आचार्यों द्वारा निर्मित किसी भी ग्रन्थ में कहीं भी यह उल्लेख नहीं है कि अंगादि-आगम विच्छिन्न हो गये हैं। वे आचारांग, सूत्रकृतांग, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, निशीथ, बृहत्कल्प, व्यवहार, कल्प आदि को अपनी परम्परा के ग्रन्थों के रूप में उद्धरित करते थे। इस सम्बन्ध में आदरणीय पं. नाथूराम प्रेमी का यह कथन द्रष्टव्य है– "अक्सर ग्रन्थकार किसी मत का खण्डन करने के लिए उसी मत के ग्रन्थों का हवाला दिया करते हैं और अपने सिद्धान्तों को पुष्ट करते हैं। परन्तु इस टीका (अर्थात् भगवती-आराधना की विजयोदया टीका) में ऐसा नहीं है, इसमें तो टीकाकार ने अपने ही आगमों का हवाला देकर अचेलता सिद्ध की है।"

आगमों के अस्तित्व को स्वीकार कर उनके अध्ययन और स्वाध्याय सम्बन्धी निर्देश भी यापनीय ग्रन्थ मूलाचार में स्पष्ट रूप से उपलब्ध होते हैं। मूलाचार में चार प्रकार के आगम ग्रन्थों का उल्लेख है– १. गणधर कथित, २. प्रत्येकबुद्ध कथित, ३. श्रुतकेवलि कथित और ४. अभिन्न दशपूर्वी कथित।

इसके साथ ही यह भी कहा गया है कि संयमी पुरुषों एवं स्त्रियों अर्थात् मुनियों एवं आर्यिकाओं के लिए अस्वाध्यायकाल में इनका स्वाध्याय करना वर्जित है किन्तु इनके अतिरिक्त कुछ अन्य ऐसे ग्रन्थ हैं जिनका अस्वाध्ययाकाल में पाठ किया जा सकता है, जैसे– आराधना

(भगवतीआराधना या आराधनापताका), निर्युक्ति, मरणविभक्ति, संग्रह (पंचसंग्रह या संग्रहणीसूत्र), स्तुति (देविंदत्थु), प्रत्याख्यान (आउरपच्चक्खाण एवं महापच्चक्खाण), धर्मकथा (ज्ञाताधर्मकथा) तथा ऐसे ही अन्य ग्रन्थ।

यहाँ पर चार प्रकार के आगम ग्रन्थों का जो उल्लेख हुआ है, उस पर थोड़ी विस्तृत चर्चा अपेक्षित है, क्योंकि मूलाचार की मूलगाथा में मात्र इन चार प्रकार के सूत्रों का उल्लेख हुआ है। उसमें इन ग्रन्थों के नाम निर्देश नहीं है। मूलाचार के टीकाकार वसुनन्दि न तो यापनीय परम्परा से सम्बद्ध थे और न उनके सम्मुख ये ग्रन्थ ही थे। अतः इस प्रसंग में उनकी प्रत्येक-बुद्धकथित की व्याख्या पूर्णतः भ्रान्त ही है। मात्र यही नहीं, अगली गाथा की टीका में उन्होंने 'थुदि', 'पच्चक्खाण' एवं 'धम्मकहा' को जिन ग्रन्थों से समीकृत किया है वह तो और भी अधिक भ्रामक है। आश्चर्य है कि वे 'थुदि' से देवागमस्तोत्र और परमेष्ठिस्तोत्र को समीकृत करते हैं, जबकि मूलाचार का मन्तव्य अन्य ही है। जहाँ तक गणधरकथित ग्रन्थों का प्रश्न है वहाँ लेखक का तात्पर्य आचारांग, सूत्रकृतांग आदि अंग ग्रन्थों से है, प्रत्येकबुद्धकथित ग्रन्थ से तात्पर्य प्रश्नव्याकरण, उत्तराध्ययन और ऋषिभाषित प्रत्येकबुद्धकथित माने जाते हैं, ये ग्रन्थ प्रत्येकबुद्धकथित हैं, ऐसा स्पष्ट उल्लेख भी समवायांग, उत्तराध्ययन निर्युक्ति आदि में है। श्रुतकेवलि कथित ग्रन्थों से तात्पर्य आचार्य शय्यम्भवरचित दशवैकालिक, आचार्य भद्रबाहु (प्रथम) रचित बृहत्कल्प, दशाश्रुतस्कन्ध (आयार दसा), व्यवहार आदि से है तथा अभिन्न दशपूर्वी कथित ग्रन्थों से उनका तात्पर्य कम्मपयडी आदि 'पूर्व' साहित्य के ग्रन्थों से है। यहाँ स्मरण रखने योग्य तथ्य यह है कि यदि यापनीय परम्परा में ये ग्रन्थ विच्छिन्न माने जाते तो फिर इनके स्वाध्याय का निर्देश लगभग ईसा की छठी शताब्दी के ग्रन्थ मूलाचार में कैसे हो पाता। दिगम्बर परम्परा के अनुसार तो वीरनिर्वाण के ६८३ वर्ष पश्चात् अर्थात् ईसा की दूसरी शती से आचारांग धारियों की परम्परा भी समाप्त होगई थी फिर वीर निर्वाण के एक हजार वर्ष पश्चात् भी आचारांग आदि के स्वाध्याय करने का निर्देश देने का कोई अर्थ ही नहीं रह जाता है। ज्ञातव्य है कि मूलाचार की यही गाथा कुन्दकुन्द के सुत्तपाहुड में भी मिलती है, किन्तु कुन्दकुन्द आगमों के उपर्युक्त प्रकारों का उल्लेख करने के पश्चात् उनकी स्वाध्याय विधि के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहते हैं। जबकि मूलाचार स्पष्ट उनके स्वाध्याय का निर्देश करता है। मात्र यही नहीं मूलाचार में आगमों के अध्ययन की उपधान विधि अर्थात् तप पूर्वक आगमों के अध्ययन करने की विधि का भी उल्लेख है। आगमों के अध्ययन की यह उपधान विधि श्वेताम्बरों में आज भी प्रचलित है। विधिमार्गप्रपा में इसका विस्तृत उल्लेख है। इससे यह भी स्पष्ट रूप से प्रमाणित हो जाता है कि मूलाचार आगमों को विच्छिन्न नहीं मानता था। यापनीय परम्परा में ये अंग आगम और अंगबाह्य आगम प्रचलन में थे, इसका एक प्रमाण यह भी है कि नवीं शताब्दी में यापनीय आचार्य अपराजित भगवतीआराधना की टीका में न केवल इन आगमों से अनेक उद्धरण प्रस्तुत करते हैं, अपितु स्वयं दशवैकालिक पर टीका भी लिख रहे हैं। मात्र यही नहीं, यापनीय पर्यूषण के अवसर पर कल्पसूत्र का वाचन भी करते थे, ऐसा निर्देश स्वयं दिगम्बराचार्य कर रहे हैं।

♦ क्या यापनीय आगम वर्तमान श्वेताम्बर आगमों से भिन्न थे ?

इस प्रसंग में यह विचारणीय है कि यापनीयों के ये आगम कौन से थे ? क्या वे इन नामों से उपलब्ध श्वेताम्बर परम्परा के आगमों से भिन्न थे या यही थे ? हमारे कुछ दिगम्बर विद्वानों ने यह कहने का अतिसाहस भी किया है कि ये आगम वर्तमान श्वेताम्बर आगमों से सर्वथा भिन्न थे। पं. कैलाशचन्द्रजी ने ऐसा ही अनुमान किया है, वे लिखते हैं "जैन परम्परा में दिगम्बर और श्वेताम्बर के समान एक यापनीय संघ भी था यह संघ यद्यपि नग्नता का पक्षपाती था तथापि श्वेताम्बरीय आगमों को मानता था। इस संघ के आचार्य अपराजितसूरि की संस्कृत टीका भगवतीआराधना नामक प्राचीन ग्रन्थ पर है। जो मुद्रित भी हो चुकी है। उसमें नग्नता के समर्थन में अपराजितसूरि ने आगम ग्रन्थों से अनेक उद्धरण दिये हैं, जिनमें से अनेक उद्धरण वर्तमान आगमों में नहीं मिलते। आदरणीय पं. जी ने यहाँ जो 'अनेक' शब्द का प्रयोग किया है वह भ्रान्ति उत्पन्न करता है। मैंने अपराजितसूरि की टीका में उद्धृत आगमिक सन्दर्भों की श्वेताम्बर आगमों से तुलना करने पर स्पष्ट रूप से यह पाया है कि लगभग ९० प्रतिशत सन्दर्भों में आगमों की अर्धमागधी प्राकृत पर शौरसेनी प्राकृत के प्रभाव के फलस्वरूप हुए आंशिक पाठभेद को छोड़कर कोई अन्तर नहीं है। जहाँ किंचित् पाठभेद है वहाँ भी अर्थ-भेद नहीं है। आदरणीय पंडितजी ने इस ग्रन्थ में भगवतीआराधना की विजयोदया टीका से आचारांग में नहीं मिलता है। उनके द्वारा प्रस्तुत वह उद्धरण निम्न है–

तथा चोक्तमाचाराङ्गे– सुदं * आउस्सत्तो* भगवदा एवमक्खादा इह खलु संयमाभिमुख दुविहा इत्थी पुरिसा जादा हवंति। तं जहा सव्वसमण्णगदे णो सव्वसमण्णागदे चेव। तत्थ जे सव्वसमण्णागदे थिणा * हत्थपाणीपादे सव्विंदिय समण्णागदे तस्स णं णो कप्पदि एगमवि वत्थ धारिउं एवं परिहउं एवं अण्णत्थ एगेण पडिलेहगेण इति।

निश्चय ही उपर्युक्त सन्दर्भ आचारांग में इसी रूप में शब्दशः नहीं है किन्तु 'सव्वसमन्नागय' नामक पद और उक्त कथन का भाव आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध के अष्टम अध्ययन में आज भी सुरक्षित है। अतः इस आधार पर यह कल्पना करना अनुचित होगा कि यापनीय परम्परा का आचारांग, वर्तमान में श्वेताम्बर परम्परा में उपलब्ध आचारांग से भिन्न था। क्योंकि अपराजितसूरि द्वारा उद्धृत आचारांग के अन्य सन्दर्भ आज भी श्वेताम्बर परम्परा के इसी आचारांग में उपलब्ध हैं। अपराजित ने आचारांग के 'लोकविचय' नामक द्वितीय अध्ययन के पंचम उद्देशक के उल्लेखपूर्वक जो उद्धरण दिया है, वह आज भी उसी अध्याय के उसी उद्देशक में उपलब्ध है। इसी प्रकार उसमें "अहं पुण एवं जाणेज्ज उपातिकंते हेमंते.. ठविज्ज" जो यह पाठ आचारांग से उद्धृत है– वह भी वर्तमान आचारांग के अष्टम अध्ययन के चतुर्थ उद्देशक में है। उत्तराध्ययन, सूत्रकृतांग, कल्प आदि के सन्दर्भों की भी लगभग यही स्थिति है। अब हम उत्तराध्ययन के सन्दर्भों पर विचार करेंगे। आदरणीय पंडितजी ने जैन साहित्य की पूर्वपीठिका में अपराजित की भगवतीआराधना की टीका की निम्न दो गाथाएँ उद्धृत की हैं–

परिचत्तेसु वत्थेसु ण पुणो चेलमादिए।
अचेलपवरो भिक्खू जिणरूपधरे सदा॥

सचेलगो सुखी भवदि असुखी वा वि अचेलगी।
अहं तो सचेलो होक्खामि इदि भिक्खु न चिंतए॥
अहं तो सचेलो होक्खामि इदि भिक्खु न चिंतए॥

पंडितजी ने इन्हें उत्तराध्ययन की गाथा कहा है और उन्हें वर्तमान उत्तराध्ययन में अनुपलब्ध भी बताया है। किन्तु जब हमने स्वयं पंडितजी द्वारा ही सम्पादित एवं अनुवादित भगवतीआराधना की टीका देखी तो उसमें इन्हें स्पष्ट रूप से उत्तराध्ययन की गाथायें नहीं कहा गया है। उसमें मात्र "इमानि च सूत्राणि अचेलतां दर्शयन्ति" कहकर इन्हें उद्धृत किया गया है। आदरणीय पंडितजी को यह भ्रान्ति कैसे हो गई, हम नहीं जानते। पुनः ये गाथाएँ भी चाहे शब्दशः उत्तराध्ययन में न हों, किन्तु भावरूप से तो दोनों ही गाथाएँ और शब्दरूप से इनके आठ चरणों में से चार चरण तो उपलब्ध ही हैं। उपरोक्त उद्धृत गाथाओं से तुलना के लिए उत्तराध्ययन की ये गाथाएँ प्रस्तुत हैं–

"परिजुण्णेहिं वत्थेहिं होक्खामि त्ति अचेलए।
अदुवा "सचेलए होक्खं" इदं भिक्खू न चिन्तए॥
"एगया अचेलए होइ सचेले यावि एगया।"
एयं धम्महियं नच्चा नाणी नो परिदेवए॥

– उत्तराध्ययन, २/१२-१३

जिस प्रकार श्वेताम्बर परम्परा में ही चूर्णि में आगत पाठों और शीलांक या अभयदेव की टीका में आगत पाठों में अर्धमागधी और महाराष्ट्री प्राकृत की दृष्टि से पाठभेद रहा है, उसी प्रकार यापनीय परम्परा के आगम के पाठ माथुरी वाचना के होने के कारण शौरसेनी प्राकृत से युक्त रहे होंगे। किन्तु यहाँ यह भी स्मरण रखना आवश्यक है कि प्राचीन स्तर के सभी आगम ग्रन्थ मूलतः अर्धमागधी के रहे हैं। उनमें जो महाराष्ट्री या शौरसेनी के शब्द रूप उपलब्ध होते हैं, वे परवर्ती हैं। विजयोदया में आचारांग आदि के सभी आगमिक सन्दर्भों को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे पूर्णतः शौरसेनी प्रभाव से युक्त हैं। मूलतः आचारांग, उत्तराध्ययन आदि आगम तो निश्चित ही अर्धमागधी में रहे हैं। यहाँ दो सम्भावनाएँ हो सकती हैं, प्रथम यही है कि माथुरी वाचना के समय उन पर शौरसेनी का प्रभाव आया हो और यापनीयों ने उसे मान्य रखा हो। दूसरे यह है कि यापनीयों द्वारा उन आगमों का शौरसेनीकरण करते समय श्वेताम्बर परम्परा में मान्य आचारांग आदि से उनमें पाठभेद हो गया हो, किन्तु इस आधार पर भी यह कहना उचित नहीं होगा कि यापनीय और श्वेताम्बर परम्परा के आगम भिन्न थे। ऐसा पाठभेद तो एक ही परम्परा के आगमों में भी उपलब्ध है। स्वयं पं. कैलाशचन्द्र जी ने अपने ग्रन्थ जैन साहित्य का इतिहास-पूर्वपीठिका में अपराजितसूरि की भगवतीआराधना की टीका से आचारांग का जो उपर्युक्त पाठ दिया है, उसमें और स्वयं उनके द्वारा सम्पादित भगवतीआराधना की अपराजितसूरि की टीका में उद्धृत पाठ में ही अन्तर है– एक में 'थीण' पाठ है– दूसरे में 'थीरांग' पाठ है, जिससे अर्थ भेद भी होता है। एक ही लेखक और सम्पादक की कृति में भी पाठभेद हो तो भिन्न परम्पराओं में किंचित् पाठभेद होना स्वाभाविक है, किन्तु उससे उनकी पूर्ण भिन्नता की कल्पना नहीं की जा सकती है। पुनः यापनीय परम्परा द्वारा उद्धृत आचारांग,

उत्तराध्ययन आदि के उपर्युक्त पाठों की अचेलकत्व की अवधारणा का प्रश्न है, वह श्वेताम्बर परम्परा के आगमों में आज भी उपलब्ध है।

इसी प्रसंग में उत्तराध्ययन की जो अन्य गाथायें उद्धृत की गई हैं, वे आज भी उत्तराध्ययन के २३वें अध्ययन में कुछ पाठभेद के साथ उपलब्ध हैं। आराधना की टीका में उद्धृत इन गाथाओं पर भी शौरसेनी का स्पष्ट प्रभाव है। यह भी स्पष्ट है कि मूल उत्तराध्ययन अर्धमागधी की रचना है। इससे ऐसा लगता है कि यापनीयों ने अपने समय के अविभक्त परम्परा के आगमों को मान्य करते हुए भी उन्हें शौरसेनी प्राकृत में रूपान्तरित करने का प्रयास किया था, अन्यथा अपराजित की टीका में मूल आगमों के उद्धरणों का शौरसेनी रूप न मिलकर अर्धमागधी रूप ही मिलता है। इस सम्बन्ध में पं. नाथूरामजी प्रेमी का निम्न वक्तव्य विचारणीय है–

श्वेताम्बर सम्प्रदाय मान्य जो आगम ग्रन्थ हैं, यापनीय संघ शायद उन सभी को मानता था, परन्तु ऐसा जान पड़ता है कि दोनों के आगमों में कुछ पाठभेद था और उसका कारण यह हो कि उपलब्ध वल्लभी वाचना के पहले की कोई वाचना (संभवतः माथुरी वाचना) यापनीय संघ के पास थी, क्योंकि विजयोदया टीका में आगमों के जो उद्धरण हैं वे श्वेताम्बर आगमों में बिल्कुल ज्यों के त्यों नहीं बल्कि कुछ पाठभेद के साथ मिलते हैं। यापनीयों के पास स्कंदिल की माथुरी वाचना के आगम थे यह मानने में एक बाधा आती है, वह यह कि स्कंदिल की वाचना का काल वीरनिर्वाण ८२७-८४० अर्थात् ईसा की तृतीय शती का अन्त और चतुर्थशती का प्रारम्भ है, जबकि संघभेद उसके लगभग २०० वर्ष पहले ही घटित हो चुका था। किन्तु पं. नाथूरामजी की यह शंका इस आधार पर निश्चित हो जाती है कि वास्तविक सम्प्रदाय-भेद ईस्वी सन् की द्वितीय शताब्दी में न होकर पाँचवीं शती में हुआ। यद्यपि फल्गुमित्र की परम्परा की इस वाचना के सम्बन्ध में स्पष्ट निर्देश कहीं भी उपलब्ध नहीं है।

निष्कर्ष यह है कि यापनीय आगम वही थे, जो उन नामों से आज श्वेताम्बर परम्परा में उपलब्ध हैं। मात्र उनमें किंचित् पाठभेद था तथा भाषा की दृष्टि से शौरसेनी का प्रभाव अधिक था। यापनीय ग्रन्थों में आगमों के जो उद्धरण मिलते हैं उनमें कुछ तो वर्तमान श्वेताम्बर परम्परा के आगमों में अनुपलब्ध हैं, कुछ पाठान्तर के साथ उपलब्ध हैं। जो अनुपलब्ध हैं, उनके सम्बन्ध में दो विकल्प हैं– प्रथम यह कि मूलागमों के वे अंश बाद में श्वेताम्बर आचार्यों ने अगली वाचना में निकाल दिये और दूसरा यह कि वे अंश यापनीय मान्यता के प्रक्षिप्त अंश हों। किन्तु प्रथम विकल्प में इसलिए विश्वास नहीं होता कि यदि परवर्ती वाचनाओं में वे सब बातें, जो उस युग के आचार्यों को मान्य नहीं थी या उनकी परम्परा के विरुद्ध थीं, निकाल दी गई होती तो वर्तमान श्वेताम्बर आगमों में अचेलता के समर्थक सभी अंश निकाल दिये जाने चाहिए थे। मुझे ऐसा लगता है कि आगमों की वाचनाओं (संकलन) के समय केवल वे ही अंश नहीं आ पाये थे जो विस्मृत हो गये थे अथवा पुनरावृत्ति से बचने के लिए 'जाव' पाठ देकर वहाँ से हटा दिये गये थे। मान्यता भेद के कारण कुछ अंश जानबूझकर निकाल गये हों, ऐसा कोई भी विश्वसनीय प्रमाण हमें नहीं मिलता। किन्तु यह हो सकता

है कि वे अंश किसी अन्य गण की वाचना के रहे हों, जिनके प्रतिनिधि उस वाचना में सम्मिलित नहीं थे। कुछ ऐसे प्रमाण उपलब्ध हैं कि विभिन्न गणों में वाचना-भेद या पाठभेद होता था। विभिन्न गणों के निर्माण का एक कारण वाचना भेद भी माना गया है। यह कहा जाता है कि महावीर के ग्यारह गणधरों की नौ वाचनाएँ थीं अर्थात् महावीर के काल में भी वाचना-भेद था। क्योंकि प्रत्येक वाचनाचार्य की अध्यापन शैली भिन्न होती थी। ज्ञातव्य है कि जैन परम्परा में शब्द के स्थान पर अर्थ पर बल दिया जाता था, तीर्थंकर को अर्थ का प्रवर्तक माना गया था जबकि वैदिक परम्परा शब्द प्रधान थी। यही कारण है कि वाचना भेद बढ़ते गये। हमें यापनीय ग्रन्थों में उपलब्ध आगमिक उद्धरणों से वर्तमान आगमों के पाठों का जो पाठभेद मिलता है उनका कारण वाचना-भेद है, अर्थ-भेद नहीं, क्योंकि ऐसे अनुपलब्ध अंशों या पाठभेदों में विषय प्रतिपादन की दृष्टि से महत्वपूर्ण अन्तर नहीं है। किन्तु इस सम्भावना से पूरी तरह इन्कार नहीं किया जा सकता कि स्वयं यापनीयों ने भी अपनी मान्यता की पुष्टि के लिए कुछ अंश जोड़े हों अथवा परिवर्ति किये हों। श्वेताम्बर परम्परा में भी वल्लभी वाचना में या उसके पश्चात् भी आगमों में कुछ अंश जुड़ते रहे हैं– इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता। हम पण्डित कैलाशचन्द्रजी के इस कथन से सहमत हैं कि वल्लभी वाचना के समय और उसके बाद भी आगमों के स्वरूप में कुछ परिवर्तन हुए हैं। किन्तु उनके द्वारा प्रयुक्त 'बहुत' शब्द आपत्तिजनक है। फिर भी ध्यान रखना होगा कि इनमें प्रक्षेप ही अधिक हुआ है, विस्मृति को छोड़कर जान-बूझकर निकाला कुछ नहीं गया है।

किन्तु ऐसा प्रक्षेप मात्र श्वेताम्बरों ने किया है और दिगम्बरों तथा यापनीयों ने नहीं किया है– यह नहीं कहा जा सकता। सम्भव है कि यापनीय परम्परा ने भी आगमों में अपने अनुकूल कुछ अंश प्रक्षिप्त किये हों। मूलाचार, भगवतीआराधना आदि ग्रन्थों को देखने से ऐसा स्पष्ट लगता है कि उन्होंने अर्धमागधी आगम साहित्य की ही सैकड़ों गाथायें शौरसेनी प्राकृत में रूपान्तरित करके अपने इन ग्रन्थों की रचना की है, मूलाचार का लगभग आधा भाग प्रकीर्णकों, निर्युक्तियों एवं आगमों की गाथाओं से निर्मित है। यह तो निश्चित है कि प्राचीन आगम साहित्य अर्धमागधी में था। यापनीय ग्रन्थों में उपलब्ध आगमिक सन्दर्भों के सदैव शौरसेनी रूप ही मिलते हैं, जो इस तथ्य के स्पष्ट प्रमाण हैं कि उन्होंने अर्धमागधी आगम साहित्य को शौरसेनी में अपने ढंग से रूपान्तरित करने का प्रयत्न किया और इस प्रयत्न में उन्होंने अपने मत की पुष्टि का भी प्रयास किया।

अतः इस तथ्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि यापनीय आचार्यों ने भी मूल आगमों के साथ छेड़छाड़ की थी और अपने मत की पुष्टि हेतु उन्होंने उनमें परिवर्धन और प्रक्षेप भी किये।

मात्र श्वेताम्बर और यापनीय ही आगमों के साथ छेड़छाड़ करने के दोषी नहीं हैं, बल्कि दिगम्बर आचार्य और पण्डित भी इस दौड़ में पीछे नहीं रहे हैं। यापनीय ग्रन्थों में दिगम्बर परम्परा के द्वारा जो प्रक्षेपण और परिवर्तन किये गये हैं वे तो और भी अधिक विचारणीय हैं, क्योंकि इनके कारण अनेक यापनीय ग्रन्थों का यापनीय स्वरूप ही विकृत हो गया है। हमारे दिगम्बर विद्वान श्वेताम्बर ग्रन्थों में प्रक्षेपण की बात तो कहते हैं किन्तु वे इस बात को विस्मृत कर जाते हैं कि स्वयं

उन्होंने यापनीय और अपने ग्रन्थों में भी किस प्रकार हेर-फेर किये हैं। इस सम्बन्ध में मैं अपनी ओर से कुछ न कहकर दिगम्बर विद्वानों का मत प्रस्तुत करना चाहूँगा।

पं. कैलाशचन्द्रजी स्व-सम्पादित 'भगवतीआराधना' की प्रस्तावना में लिखते हैं– "विजयोदया के अध्ययन से प्रकट होता है कि उनके सामने टीका लिखते समय जो मूलग्रन्थ उपस्थित था, उसमें और वर्तमान मूल (ग्रन्थ) में अन्तर है। अनेक गाथाओं में वे शब्द नहीं मिलते जो टीकाओं में हैं।"

इससे स्पष्ट होता है कि जब दिगम्बर आचार्यों ने जब, इस यापनीय ग्रन्थ को अपने में समाहित किया होगा तो इसकी मूल गाथाओं के शब्दों में भी हेर-फेर कर दिया होगा। यदि पं. कैलाशचन्द्रजी ने उन सभी स्थलों का जहाँ उन्हें पाठभेद प्रतीत हुआ, निर्देश किया होता तो सम्भवतः हम अधिक प्रामाणिकता से कुछ बात कह सकते थे। टीका और मूल के सारे अन्तरों को हम भी अभी तक खोज नहीं पाये हैं। अतः अभी तो उनके मत को ही विश्वसनीय मानकर संतोष करेंगे। स्वयंभू के रिट्ठनेमिचरिउ (हरिवंशपुराण) में भी इसी प्रकार की छेड़-छाड़ हुई थी। इस सन्दर्भ में पं. नाथूरामजी प्रेमी लिखते हैं– "इसमें तो संदेह नहीं है कि इस अन्तिम अंश में मुनि जसकित्ति (यशकीर्ति) का भी हाथ है परन्तु यह कितना है यह निर्णय करना कठिन है। बहुत कुछ सोच-विचार के बाद हम इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि मुनि जसकित्ति को इस ग्रन्थ की कोई ऐसी जीर्ण-शीर्ण प्रति मिली थी जिसके अन्तिम पत्र नष्ट-भ्रष्ट थे और शायद अन्य प्रतियाँ दुर्लभ थीं, इसलिए उन्होंने गोपगिरि (ग्वालियर) के समीप कुमरनगरी के जैन मन्दिर में व्याख्यान करने के लिए इसे ठीक किया अर्थात् जहाँ-जहाँ जितना अंश पढ़ा नहीं गया था या नष्ट हो गया था, उसको स्वयं रचकर जोड़ दिया और जहाँ-जहाँ जोड़ा, वहाँ-वहाँ अपने परिश्रम के एवज में अपना नाम भी जोड़ दिया। इससे स्पष्ट है कि कुछ दिगम्बर आचार्यों ने दूसरों की रचनाओं को भी अपने नाम पर चढ़ा लिया।

इसी प्रकार तिलोयपण्णत्ति में भी पर्याप्त रूप से मिलावट हुई है। जहाँ 'तिलोयपण्णत्ति' का ग्रन्थ-परिमाण ८००० श्लोक बताया गया है वहाँ वर्तमान तिलोयपण्णत्ति का श्लोक-परिमाण ९३४० है अर्थात् लगभग १३४० श्लोक अधिक हैं। पं. नाथूरामजी प्रेमी के शब्दों में– ये इस बात के संकेत देते हैं कि पीछे से इसमें मिलावट की गयी है। इस सन्दर्भ में पं. फूलचन्द्रशास्त्री के, जैन साहित्य भास्कर, भाग ११, अंक प्रथम में प्रकाशित "वर्तमान तिलोयपण्णत्ति और उसके रचनाकार का विचार" नामक लेख के आधार पर लिखते हैं– "उससे मालूम होता है कि यह ग्रन्थ अपने असल रूप में नहीं रहा है। उसमें न केवल बहुत सा लगभग एक अष्टमांश प्रक्षिप्त है, बल्कि बहुत-सा परिवर्तन और परिशोध भी किया गया है, जो मूल ग्रन्थकर्ता के अनुकूल नहीं है।" इसी प्रकार कसायपाहुडसुत्त की मूल गाथाएँ १८० थीं, किन्तु आज उसमें २३३ गाथाएँ मिलती हैं– अर्थात् उसमें ५३ गाथाएँ परवर्ती आचार्यों द्वारा प्रक्षिप्त हैं। यही स्थिति कुन्दकुन्द के समयसार, वट्टकेर के मूलाचार आदि की भी है। प्रकाशित संस्करणों में भी गाथाओं की संख्याओं में बहुत अधिक अन्तर है। समयसार के ज्ञानपीठ के संस्करण में ४१५ गाथाएँ मिलती हैं– अर्थात् उसमें ५३ गाथाएँ परवर्ती

आचार्यों द्वारा प्रक्षिप्त हैं। तो अजिताश्रम संस्करण में ४३७ गाथायें। मूलाचार के दिगम्बर जैनग्रन्थमाला के संस्करण में १२४२ गाथाएँ हैं तो फलटण के संस्करण में १४१४ गाथाएँ हैं अर्थात् १६२ गाथाएँ अधिक हैं, यह सब इस बात का प्रमाण है कि दिगम्बर परम्परा के आचार्यों ने श्वेताम्बरों और यापनीयों की अपेक्षा बहुत अधिक प्रक्षेप एवं परिवर्तन किया है। इन उल्लेखों के अतिरिक्त वर्तमान में भी इस प्रकार के परिवर्तनों के प्रयास हुए हैं। जैसे 'धवला' के सम्पादन के समय मूल ग्रन्थ षट्खण्डागम से 'संजद' पद को हटा देना, ताकि उस ग्रन्थ के यापनीय स्वरूप या स्त्री-मुक्ति के समर्थक होने का प्रमाण नष्ट किया जा सके। इस सन्दर्भ में दिगम्बर समाज में कितनी ऊहापोह मची थी और पक्ष-विपक्ष में कितने लेख लिखे गये थे, यह तथ्य किसी से छिपा नहीं है। यह भी सत्य है कि अन्त में मूलप्रति में 'संजद' पद पाया गया। तथापि ताम्रपत्र वाली प्रति में वह पद नहीं लिखा गया, सम्भवतः भविष्य में वह एक नई समस्या उत्पन्न करेगा। इस सन्दर्भ में भी मैं अपनी ओर से कुछ न कहकर दिगम्बर परम्परा के मान्य विद्वान् पं. कैलाशचन्द्रजी के शब्दों को ही उद्धृत कर रहा हूँ। पं. बालचन्द्रशास्त्री की कृति "षट्खण्डागम-परिशीलन" के अपने प्रधान सम्पादकीय में वे लिखते हैं– "समूचा ग्रन्थ प्रकाशित होने से पूर्व ही एक और विवाद उठ खड़ा हुआ। प्रथम भाग के सूत्र ९३ में जो पाठ हमें उपलब्ध था, उसमें अर्थ-संगति की दृष्टि से 'संजदासंजद' के आगे 'संजद' पद जोड़ने की आवश्यकता प्रतीत हुई, किन्तु इससे फलित होने वाली सैद्धान्तिक व्यवस्थाओं से कुछ विद्वानों के मन आलोडित हुए और वे 'संजद' पद को वहाँ जोड़ना एक अनधिकार चेष्टा कहने लगे। इस पर बहुत बार मौखिक शास्त्रार्थ भी हुए और उत्तर-प्रत्युत्तर रूप लेखों की श्रृंखलाएँ भी चल पड़ी, जिनका संग्रह कुछ स्वतन्त्र ग्रन्थों में प्रकाशित भी हुआ। इसके मौखिक समाधान हेतु जब सम्पादकों ने ताड़पत्रीय प्रतियों के पाठ की सूक्ष्मता से जाँच करायी तब पता चला कि वहाँ की दोनों भिन्न प्रतियों में हमारा सुझाया गया संजद पद विद्यमान है। इससे दो बातें स्पष्ट हुईं– एक तो यह कि सम्पादकों ने जो पाठ– संशोधन किया है, वह गम्भीर चिन्तन और समझदारी पर आधारित है और दूसरी यह कि मूल प्रतियों से पाठ मिलान की आवश्यकता अब भी बनी हुई है, क्योंकि जो पाठान्तर मूडबिद्री से प्राप्त हुए थे और तृतीय भाग के अन्त में समाविष्ट किये गये थे उनमें यह संशोधन नहीं मिला।"

मेरे उपर्युक्त लेखन का तात्पर्य किसी भी भावनाओं को ठेस पहुँचाना नहीं है किन्तु मूलग्रन्थों के साथ ऐसी छेड़-छाड़ करने के लिए श्वेताम्बर, दिगम्बर, यापनीय– सभी समानरूप से दोषी हैं। जहाँ श्वेताम्बरों ने अपने ही पूर्व अविभक्त परम्परा के आगमों से ऐसी छेड़-छाड़ की, वहाँ यापनीयों ने श्वेताम्बर मान्य आगमों और आगमिक व्याख्याओं से और दिगम्बरों ने यापनीय परम्परा के ग्रन्थों से ऐसी ही छेड़-छाड़ की।

निष्कर्ष यह है कि इस प्रकार की छेड़-छाड़ प्राचीन काल से लेकर वर्तमान काल तक होती रही है। कोई भी परम्परा इस सन्दर्भ में पूर्ण निर्दोष नहीं कही जा सकती। अतः किसी भी परम्परा का अध्ययन करते समय यह आवश्यक है कि हम उन प्रक्षिप्त अथवा परिवर्धित अंशों पर निष्पक्ष

दृष्टि से विचार करें, क्योंकि इस छेड़-छाड़ में कहीं कुछ ऐसा अवश्य रह जाता है, जिससे यथार्थता को समझा जा सकता है।

परिवर्धनों और परिवर्तनों के बावजूद भी श्वेताम्बर आगमों की एक विशेषता है, वह यह कि वे सब बातें भी जिनका परम्परा से स्पष्ट विरोध है, उनमें यथावत् रूप से सुरक्षित हैं। यही कारण है कि श्वेताम्बर आगम जैन धर्म के प्राचीन स्वरूप की जानकारी देने में आज भी पूर्णतया सक्षम हैं। आवश्यकता है निष्पक्ष भाव से उनके अध्ययन की। क्योंकि उनमें बहुत कुछ ऐसा मिल जाता है, जिसमें जैनधर्म के विकास और उसमें आये परिवर्तनों को समझा जा सकता है। यही बात किसी सीमा तक यापनीय और दिगम्बर ग्रन्थों के संदर्भ में भी कही जा सकती है, यद्यपि श्वेताम्बर साहित्य की अपेक्षा वह अल्प ही है। प्रक्षेप और परिष्कार के बाद भी समग्र जैन साहित्य में बहुत कुछ ऐसा है, जो सत्य को प्रस्तुत करता है, किन्तु शर्त यही है कि उसका अध्ययन ऐतिहासिक और सम्प्रदाय निरपेक्ष दृष्टि से हो, तभी हम सत्य को समझ सकेंगे।

◆ आगमों के विच्छेद की अवधारणा

आगम के विच्छेद की यह अवधारणा जैनधर्म के श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों ही सम्प्रदायों में उल्लिखित हैं। दिगम्बर परम्परा में आगमों के विच्छेद की यह अवधारणा तिलोयपण्णत्ति, षट्खण्डागम की धवला टीका, हरिवंशपुराण, आदिपुराण आदि में मिलती है। इन सब ग्रन्थों में तिलोयपण्णत्ति अपेक्षा कृत प्राचीन है। तिलोयपण्णत्ति का रचनाकाल विद्वानों ने ईसा की छठीं-सातवीं शती के लगभग माना है। इसके पश्चात् षट्खण्डागम की धवला टीका, हरिवंशपुराण, आदिपुराण आदि ग्रन्थ आते हैं जो लगभग ई. की नवीं शती की रचनाएँ हैं। हरिवंशपुराण में आगम-विच्छेद की चर्चा को कुछ विद्वानों ने प्रक्षिप्त माना है क्योंकि वह यापनीय परम्परा का ग्रन्थ है और यापनीयों में नवीं-दसवीं शताब्दी तक आगमों के अध्ययन और उन पर टीका लिखने की परम्परा जीवित रही है।सम्भव यह भी है कि जिस प्रकार श्वेताम्बरों में आगमों के विच्छेद की चर्चा होते हुए भी आगमों की परम्परा जीवित रही उसी प्रकार यापनीयों में भी श्रुत विच्छेद की परम्परा का उल्लेख होते हुए भी श्रुत के अध्ययन एवं उन पर टीका आदि के लेखन की परम्परा जीवित रही है। पुनः हरिवंशपुराण में भी मात्र पूर्व एवं अंग ग्रन्थ के विच्छेद की चर्चा है शेष ग्रन्थ तो थे ही।

इन ग्रन्थों के अनुसार भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् गौतम, सुधर्मा (लोहार्य) और जम्बू ये तीन आचार्य केवली हुए, इन तीनों का सम्मिलित काल ६२ वर्ष माना गया है। तत्पश्चात विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्धन और भद्रबाहु ये पाँच आचार्य चतुर्दश पूर्वों के धारक श्रुतकेवली हैं। इन पाँच आचार्यों का सम्मिलित काल १०० वर्ष है। इस प्रकार भद्रबाहु के काल तक अंग और पूर्व की परम्परा अविच्छिन्न बनी रही। उसके बाद प्रथम पूर्वों साहित्य का विच्छेद प्रारम्भ हुआ। भद्रबाहु के पश्चात् विशाख, प्रोष्ठिल, क्षत्रिय, जय, नाग, सिद्धार्थ, धृतिसेन, विजय बुद्धिल, धर्मसेन और गंगदेव–ये ग्यारह आचार्य दस पूर्वों के धारक हुए। इनका सम्मिलित काल १८३ वर्ष माना गया है। इस प्रकार वीरनिर्वाण के ३४५ वर्ष तक पूर्वधरों का अस्तित्व रहा। इसके बाद पूर्वधरों के

विच्छेद के साथ ही पूर्व ज्ञान का विच्छेद हो गया। इनके पश्चात् नक्षत्र, यशपाल, पाण्डु, ध्रुवसेन और कंस ये पाँच आचार्य एकादश अंगों के ज्ञाता हुए। इनका सम्मिलित काल २२० वर्ष माना गया। इस प्रकार भगवान महावीर निर्वाण के ५६५ वर्ष पश्चात् आचारांग को छोड़कर शेष अंगों का भी विच्छेद हो गया। इनके बाद सुभद्र, यशोभद्र, यशोबाहु और लोहाचार्य ये चार आचार्य आचारांग के धारक हुए। इनका काल ११८ वर्ष रहा। इनके पश्चात् वीरनिर्वाण के ६८३ वर्ष पश्चात् अंग एवं पूर्व साहित्य के ग्रन्थों के पूर्णज्ञाता आचार्यों की परम्परा समाप्त हो गई। मात्र अंग और पूर्व साहित्य एकदेश के धारक आचार्य हुए। इनके बाद आचार्य धरसेन तक अंग और पूर्व के एकदेश ज्ञाता (आंशिकज्ञाता) आचार्यों की परम्परा चली। उसके बाद पूर्व और अंग साहित्य का विच्छेद हो गया। मात्र अंग और पूर्व साहित्य एकदेश के धारक आचार्य हुए। इनके बाद आचार्य धरसेन तक अंग और पूर्व के एकदेश ज्ञाता (आंशिकज्ञाता) आचार्यों की परम्परा चली। उसके बाद पूर्व और अंग साहित्य का विच्छेद हो गया। मात्र अंग और पूर्व के आधार पर उनके एकदेश ज्ञाता आचार्य द्वारा निर्मित ग्रन्थ ही शेष रहे। अंग और पूर्वधरों की यह सूची हमने हरिवंशपुराण के आधार पर दी है। अन्य ग्रन्थों एवं श्रवण-बेलगोला के कुछ अभिलेखों में भी यह सूची दी गयी है किन्तु इन सभी सूचियों में कहीं नामों में और कहीं क्रम में अन्तर है, जिससे इनकी प्रामाणिकता संदेहास्पद बन जाती है। किन्तु जो कुछ साहित्यिक और अभिलेखीय साक्ष्य उपलब्ध हैं उन्हें ही आधार बनाना होगा अन्य कोई विकल्प भी नहीं है। यद्यपि इन साक्ष्यों में भी एक भी साक्ष्य ऐसा नहीं है, जो सातवीं शती से पूर्व का हो। इन समस्त विवरणों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि दिगम्बर परम्परा में श्रुत विच्छेद की इस चर्चा का प्रारम्भ लगभग छठीं-सातवीं शताब्दी में हुआ और उसमें अंग एवं पूर्व साहित्य के ग्रन्थों के ज्ञाता आचार्यों के विच्छेद की चर्चा हुई है। श्वेताम्बर परम्परा में पूर्व ज्ञान के विच्छेद की चर्चा तो निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि आदि आगमिक व्याख्या ग्रन्थों में हुई है। किन्तु अंग-आगमों के विच्छेद की चर्चा मात्र तित्थोगालिक प्रकीर्णक के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं मिलती है। तित्थोगालिय प्रकीर्णक को देखने से लगता है कि यह ग्रन्थ लगभग छठीं-सातवीं शताब्दी में निर्मित हुआ है। इसका रचना काल और कुछ विषय-वस्तु भी तिलोयपण्णत्ति से समरूप ही है। प्रकीर्णक का उल्लेख, नन्दीसूत्र की कालिक और उत्कालिक ग्रन्थों की सूची में नहीं है किन्तु व्यवहारभाष्य (१०/७०४) में इसका उल्लेख हुआ है। व्यवहारभाष्य स्पष्टतः सातवीं शताब्दी शती के पूर्व अर्थात् लगभग ईस्वी सन् की छठीं शताब्दी में निर्मित हुआ होगा। यही काल तिलोयपण्णत्ति का भी है। इन दोनों ग्रन्थों में ही सर्वप्रथम श्रुत के विच्छेद की चर्चा है। तिथ्योगालिय में तीर्थकरों की माताओं के चौदह स्वप्न, स्त्री-मुक्ति तथा दस आश्चर्यों का उल्लेख से एवं नन्दीसुत्र, अनुयोगद्वार तथा आवश्यकनिर्युक्ति से इसमें अनेक गाथाएं अवतरित किये जाने से यही सिद्ध होता है कि यह श्वेताम्बर ग्रन्थ है। श्वेताम्बर परम्परा में प्रकीर्णक रूप में इसकी आज भी मान्यता है। इस ग्रन्थ की गाथा ८०७ से ८५७ तक में न केवल पूर्वों के विच्छेद की चर्चा है अपितु अंग साहित्य के विच्छेद की भी चर्चा है।

तित्थोगालिय एवं अन्य ग्रन्थों के साक्ष्य से ज्ञात होता है कि श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार अन्तिम चतुर्दशपूर्वधर आर्य भद्रबाहु हुए। आर्य भद्रबाहु के स्वर्गवास के साथ ही चतुर्दश पूर्वधरों की परम्परा समाप्त हो गयी। इनका स्वर्गवास काल वीरनिर्वाण के १७० वर्ष पश्चात् माना जाता है। इसके पश्चात् स्थूलिभद्र दस पूर्वों के अर्थ सहित और शेष चार पूर्वों के मूल मात्र के ज्ञाता हुए। यथार्थ में तो वे दस पूर्वों के ही ज्ञाता थे तित्थोगालिय में स्थूलिभद्र को दस पूर्वधरों में प्रथम कहा गया है। उसमें अन्तिम दसपूर्वी सत्यमित्र पाठभेद से सर्वमित्र को बताया गया है किन्तु उनके काल का निर्देश नहीं किया गया है। उसके बाद अनुक्रम से भगवान महावीर के निर्वाण के १००० वर्ष पश्चात् वाचक वृषभ के समय में पूर्वगत् श्रुत का विच्छेद हो जायेगा। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार दस पूर्वधरों के पश्चात् भी पूर्वधरों की परम्परा चलती रही है श्वेताम्बरों में अभिन्न अक्षर दस पूर्वधर और भिन्न अक्षर दस पूर्वधर ऐसे दो प्रकार के वर्गों का उल्लेख है जो सम्पूर्ण दस पूर्वों के ज्ञाता होते वे अभिन्न अक्षर दस पूर्वधर कहे जाते थे और जो आंशिक रूप से दस पूर्वों के ज्ञाता होते थे उन्हें भिन्न अक्षर दस पूर्वधर कहा जाता था।

इस प्रकार हम देखते हैं कि चतुर्दश पूर्वधरों के विच्छेद की इस चर्चा में दोनों परम्परा में चतुर्दश पूर्वी भद्रबाहु को ही माना गया है। श्वेताम्बर परम्परा के अनुसार वीरनिर्वाण के १७० वर्ष पश्चात् और दिगम्बर परम्परा के अनुसार १६२ वर्ष पश्चात् चतुर्दश पूर्वधरों का विच्छेद हुआ। यहाँ दोनों में मात्र आठ वर्षों का अन्तर है किन्तु दस पूर्वधरों के विच्छेद के सम्बन्ध में दोनों परम्पराओं में कोई समरूपता नहीं देखी जाती। श्वेताम्बर परम्परानुसार आर्य सर्वमित्र और दिगम्बर परम्परा के अनुसार आर्य धर्मसेन या आर्य सिद्धार्थ अन्तिम दस पूर्वी हुए हैं। श्वेताम्बर परम्परा में आर्य सर्वमित्र को अन्तिम दस पूर्वधर कहा गया है। दिगम्बर परम्परा में भगवतीआराधना के कर्त्ता शिवार्य के गुरुओं के नामों में सर्वगुप्त गणि और मित्रगणि नाम आते हैं किन्तु दोनों में कोई समरूपता हो यह निर्णय करना कठिन है। दिगम्बर परम्परा में दस पूर्वधरों के पश्चात् एकदेश पूर्वधरों का उल्लेख तो हुआ है किन्तु उनकी कोई सूची उपलब्ध नहीं होती। अतः इस सम्बन्ध में किसी प्रकार की तुलना कर पाना सम्भव नहीं है।

पूर्व साहित्य के विच्छेद की चर्चा के पश्चात् तित्थोगालिय में अंग साहित्य के विच्छेद की चर्चा हुई है जो निम्नानुसार है–

उसमें उल्लिखित है कि वीरनिर्वाण के १२५० वर्ष पश्चात् विपाकसूत्र सहित छः अंगों का विच्छेद हो जायेगा। इसके पश्चात् वीरनिर्वाण सं. १३०० में समवायांग का, वीरनिर्वाण सं. १३५० में स्थानांग का, वीरनिर्वाण सं. १४०० में कल्प-व्यवहार का, वीरनिर्वाण सं. १५०० में आचारदशा का, वीरनिर्वाण सं. १९०० में सूत्रकृतांग का और वीरनिर्वाण सं. २००० में निशीथसूत्र का विच्छेद होगा। फिर वीरनिर्वाण सं. २०,००० में आचारांग का, वीरनिर्वाण सं. २०५०० में उत्तराध्ययन का, वीरनिर्वाण सं. २०९०० में दशवैकालिक मूल का और वीरनिर्वाण सं. २१,००० में दशवैकालिक के अर्थ का विच्छेद होगा।

ज्ञातव्य है कि पण्डित दलसुखभाई ने जैन साहित्य के बृहद् इतिहास की भूमिका में आचारांग का विच्छेद वीरनिर्वाण के २३०० वर्ष पश्चात् लिखा है किन्तु मूल गाथा से कहीं भी यह अर्थ फलित नहीं होता। उन्होंने किस आधार पर यह अर्थ किया यह हम नहीं जानते हैं। हो सकता है कि उनके पास इस गाथा का कोई दूसरा पाठान्तर हो।

इस प्रकार हम देखते हैं कि अंग आगमों के विच्छेद की चर्चा श्वेताम्बर परम्परा में भी चली है किन्तु इसके बावजूद भी श्वेताम्बर परम्परा ने अंग साहित्य को चाहे आंशिक रूप से ही क्यों न हो सुरक्षित रखने का प्रयास किया है।

प्रथम तो प्रश्न यह है कि विच्छेद का अर्थ तत्-तत् ग्रन्थ का सम्पूर्ण रूप से विनाश है? मेरी दृष्टि में विच्छेद का अर्थ यह नहीं है कि उस ग्रन्थ का सम्पूर्ण लोप हो गया। मेरी दृष्टि में विच्छेद का तात्पर्य उसके कुछ अंशों का विच्छेद ही मानना होगा। यदि हम निष्पक्ष दृष्टि से विचार करें तो ज्ञात होता है कि श्वेताम्बर परम्परा में जो भी अंग साहित्य आज अवशिष्ट हैं वे उस रूप में तो नहीं हैं जिस रूप में उनकी विषय-वस्तु का उल्लेख स्थानांग, समवायांग, नन्दीसूत्र आदि में हुआ है। यह सत्य है कि न केवल पूर्व साहित्य अपितु अंग साहित्य का भी बहुत कुछ अंश विच्छिन्न हुआ है। आज आचारांग के प्रथम श्रुतस्कन्ध का सातवाँ महापरिज्ञा नामक अध्याय अनुपलब्ध है। भगवतीसूत्र, ज्ञाताधर्मकथा, अन्तकृद्दशा, अनुत्तरौपपातिक, प्रश्नव्याकरण, विपाकदशा आदि ग्रन्थों की बहुत कुछ सामग्री विच्छिन्न हुई है, इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। क्योंकि स्थानांग में दस दशाओं की जो विषय-वस्तु वर्णित है वह उनकी वर्तमान विषय-वस्तु से मेल नहीं खाती है। उनमें जहाँ कुछ प्राचीन अध्ययन विलुप्त हुए हैं वहीं कुछ नवीन सामग्री समाविष्ट भी हुई है। अन्तिम वाचनाकार देवर्धिगणि ने स्वयं भी इस तथ्य को स्वीकार किया है कि मुझे जो भी त्रुटित सामग्री मिली है। उसको ही मैंने संकलित किया है। अतः आगम ग्रन्थों के विच्छेद की जो चर्चा है उसका अर्थ यही लेना चाहिये कि यह श्रुत-संपदा यथावत् रूप में सुरक्षित नहीं रह सकी। वह आंशिक रूप से विस्मृति के गर्भ में चली गई। क्योंकि भगवान महावीर के निर्वाण के पश्चात् लगभग एक हजार वर्ष तक साहित्य मौखिक रहा और मौखिक परम्परा में विस्मृति स्वाभाविक है। विच्छेद का क्रम तभी रूका जब आगमों का लिखित रूप दे दिया गया।

दिगम्बर परम्परा में श्रुत-विच्छेद सम्बन्धी यह जो चर्चा है उसके सम्बन्ध में यह बात विशेष रूप से ज्ञातव्य है कि उसमें श्रुतधरों के अर्थात् श्रुत के ज्ञाता आचार्यों के विच्छेद की चर्चा हुई है न कि श्रुत ग्रन्थों के विच्छेद की चर्चा हुई है दूसरे यह कि पूर्व और अंग के इस विच्छेद की चर्चा में भी पूर्व और अंगों के एकदेश ज्ञाता आचार्यों का अस्तित्व तो स्वीकार किया ही गया है। धरसेन के सम्बन्ध में भी यह मात्र कहा गया है कि वे अंग और पूर्वों के एकदेश ज्ञाता थे।

इनके बाद अंग एवं पूर्व के एकदेश ज्ञाता आचार्यों की परम्परा भी समाप्त हो गयी हो ऐसा उल्लेख हमें किसी भी दिगम्बर ग्रन्थ में नहीं मिला। यही कारण है कि पं. दलसुखभाई मालवणिया आदि कुछ विद्वान इन उल्लेखों को श्रुतधरों के विच्छेद का उल्लेख मानते हैं न कि श्रुत के विच्छेद

का पुनः इस चर्चा में मात्र पूर्व और अंग और साहित्य के विच्छेद की ही चर्चा हुई है। कालिक और उत्कालिक सूत्रों के अथवा छेदसूत्रों के विच्छेद की कहीं कोई चर्चा नहीं उठी है। दुर्भाग्य यह है कि दिगम्बर विद्वानों ने श्रुतधरों को ही श्रुत का विच्छेद मान लिया और कालिक, उत्कालिक आदि आगमों के विच्छेद को ही श्रुत का विच्छेद मान लिया और कालिक, उत्कालिक आदि आगमों के विच्छेद की चर्चा न होने पर भी उनका विच्छेद स्वीकार कर लिया। यह सत्य है कि जब श्रुत के अध्ययन की परम्परा मौखिक हो तो श्रुतधर के विच्छेद से श्रुत का विच्छेद नहीं माना जा सकता। दूसरे मौखिक परम्परा से चले आ रहे श्रुत में विस्मृति आदि के कारण किसी अंश-विशेष के विच्छेद को पूर्ण विच्छेद मानना भी समीचीन नहीं है। विच्छेद की इस चर्चा का तात्पर्य मात्र यही है कि महावीर की यह श्रुत-सम्पदा अक्षुण्ण नहीं रह सकी। और उसके कुछ अंश विलुप्त हो गये। अतः आंशिक रूप में जिनवाणी आज भी है, इसे स्वीकार करने में किसी को कोई विप्रतिपत्ति नहीं होना चाहिये।

◆ अर्धमागधी आगमों की विषय-वस्तु सरल है

अर्धमागधी आगम साहित्य की विषय-वस्तु मुख्यतः उपदेशपरक, आचारपरक एवं कथापरक है। भगवती के कुछ अंश, प्रज्ञापना, अनुयोगद्वार, जो कि अपेक्षाकृत परवर्ती है, को छोड़कर उनमें प्रायः गहन दार्शनिक एवं सैद्धान्तिक चर्चाओं का अभाव है। विषय-प्रतिपादन सरल, सहज और सामान्य व्यक्ति के लिए भी बोधगम्य है। वह मुख्यतः विवरणात्मक एवं उपदेशात्मक है। इसके विपरीत शौरसेनी आगमों में आराधना और मूलाचार को छोड़कर लगभग सभी ग्रन्थ दार्शनिक एवं सैद्धांतिक चर्चा से युक्त है। वे परिपक्व दार्शनिक विचारों के परिचायक है। गुणस्थान और कर्मसिद्धान्त की वे गहराइयाँ, जो शौरसेनी आगमों में उपलब्ध है, अर्धमागधी आगमों में उनका प्रायः अभाव ही है। कुन्दकुन्द के समयसार के समान उनमें सैद्धान्तिक दृष्टि से अध्यात्मवाद के प्रतिस्थापन का भी कोई प्रयास परिलक्षित नहीं होता। यद्यपि ये सब उनकी कमी भी कही जा सकती है, किन्तु चिन्तन के विकास क्रम की दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट रूप से यह फलित होता है कि अर्धमागधी आगम साहित्य प्राथमिक स्तर का होने से प्राचीन भी है और साथ ही विकसित शौरसेनी आगमों के लिए आधारभूत भी। समवायांग में जीवस्थानों के नाम से १४ गुणस्थानों का मात्र निर्देश है, जबकि षट्खण्डागम जैसा प्राचीन शौरसेनी आगम भी उनकी गम्भीरता से चर्चा करता है। मूलाचार, भगवतीआराधना, कुन्दकुन्द के ग्रन्थ और गोम्मटसार आदि सभी में गुणस्थानों की विस्तृत चर्चा है। चूँकि तत्वार्थ में गुणस्थानों की चर्चा एवं स्यादवाद-सप्तभंगी का अभाव है, अतः ये सभी रचनाएँ तत्त्वार्थ के बाद की कृतियाँ मानी जा सकती हैं। इसी प्रकार कषायपाहुड, षट्खण्डागम, गोम्मटसार आदि शौरसेनी आगम ग्रन्थों में कर्मसिद्धांत की जो गहन चर्चा है, वह भी अर्धमागधी आगम साहित्य में अनुपलब्ध है। अतः शौरसेनी आगमों की अपेक्षा अर्धमागधी आगमों की सरल, बोधगम्य एवं प्राथमिक स्तर की विवरणात्मक शैली उनकी विशेषता एवं प्राचीनता की सूचक है।

◆ तथ्यों का सहज संकलन

अर्धमागधी आगमों में तथ्यों का सहज संकलन किया गया है अतः अनेक स्थानों पर सैद्धान्तिक दृष्टि से उनमें विसंगतियाँ भी पायी जाती है। वस्तुतः ये ग्रन्थ अकृत्रिम भाव से रचे गये हैं और उन्हें उनके सम्पादन काल में भी संगतियुक्त बनाने का कोई प्रयास नहीं किया गया है। एक ओर उनमें अहिंसा के सूक्ष्मता के साथ पालन के निर्देश है तो दूसरी ओर ऐसे अनेक विवरण भी है जो इस सूक्ष्म अहिंसक जीवनशैली के अनुकूल नहीं है। इसी प्रकार एक ओर उनमें न केवल मुनि की अचेलता का प्रतिपादन है अपितु उसका समर्थन भी किया गया है, तो दूसरी ओर वस्त्र, पात्र के साथ-साथ मुनि के उपकरणों की लम्बी सूची भी मिल जाती है। एक ओर केशलोच का विधान है तो दूसरी क्षुर-मुण्डन की अनुज्ञा भी है। उत्तराध्ययन में वेदनीय के भेदों में क्रोध वेदनीय आदि का उल्लेख है, जो कि कर्मसिद्धान्त के ग्रन्थों में यहाँ तक कि स्वयं उत्तराध्ययन के कर्मप्रकृति नामक अध्ययन में भी अनुपलब्ध है, उक्त साक्ष्यों से ऐसा प्रतीत होता है कि अर्धमागधी आगम साहित्य जैन संघ का, निष्पक्ष इतिहास प्रस्तुत करता है। वस्तुतः तथ्यों का यथार्थ रूप में प्रस्तुतीकरण उसकी अपनी विशेषता है। वस्तुतः तथ्यात्मक विविधताओं एवं अन्तर्विरोधों के कारण अर्धमागधी आगम साहित्य के ग्रन्थों के काल क्रम का निर्धारण भी सहज हो जाता है।

◆ अर्धमागधी आगमों में जैनसंघ के इतिहास का प्रामाणिक रूप

यदि हम अर्धमागधी आगमों का समीक्षात्मक दृष्टि से अध्ययन करें, तो हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन परम्परा के आचार एवं विचार में देशकालगत परिस्थितियों के कारण कालक्रम में क्या-क्या परिवर्तन हुए इसको जानने का आधार अर्धमागधी आगम ही है, क्योंकि इन परिवर्तनों को समझने के लिए उनमें उन तथ्यों के विकास क्रम को खोजा जा सकता है। उदाहरण के रूप में जैन धर्म में साम्प्रदायिक अभिनिवेश कैसे दृढ़-मूल होता गया, इसकी जानकारी ऋषिभाषित, उत्तराध्ययन, सूत्रकृतांग और भगवती के पन्द्रहवें शतक के समीक्षात्मक अध्ययन से मिल जाती है। ऋषिभाषित में नारद, मंखलिगोशाल, असितदेवल, तारायण, याज्ञवल्क्य, बाहुक आदि ऋषियों को अर्हत ऋषि कहकर सम्मानित किया गया है। उत्तराध्ययन में भी कपिल, नमि, करकण्डु, नग्गति, गर्दभाली, संजय आदि का सम्मानपूर्वक स्मरण किया गया और सूत्रकृतांग में इनमें से कुछ को आचारभेद के बावजूद भी परम्परा-सम्मत माना गया। किन्तु ज्ञाताधर्मकथा में नारद की और भगवती के पन्द्रहवें शतक में मंखली गोशाल की समालोचना भी की गई है। इस आधार पर हम कह सकते है कि अर्धमागधी आगम साहित्य में जैन परम्परा में अन्य परम्पराओं के प्रति उदारता का भाव कैसे परिवर्तित होता गया और साम्प्रदायिक अभिनिवेश कैसे दृढ़मूल होते गये इसका यथार्थ चित्रण उपलब्ध हो जाता है। इसी प्रकार आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध, आचारचूला, दशवैकालिक, निशीथ आदि छेदसूत्र तथा उनके भाष्य और चूर्णियों के अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि जैनाचार में कालक्रम में क्या-क्या परिवर्तन हुआ है। इसी प्रकार ऋषिभाषित उत्तराध्ययन, भगवती,

ज्ञाताधर्मकथा आदि के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि पार्श्वपत्यों का महावीर के संघ पर क्या प्रभाव पड़ा और दोनों के बीच सम्बन्धों में कैसे परिवर्तन होता गया। इसी प्रकार के अनेक प्रश्न, जिनके कारण आज का जैन समाज साम्प्रदायिक कठघरों में बन्द है, अर्धमागधी आगमों के निष्पक्ष अध्ययन के माध्यम से सुलझाये जा सकते है। शौरसेनी आगमों में मात्र मूलाचार और भगवती आराधना को जो अपनी विषय-वस्तु के लिये अर्धमागधी आगम साहित्य के ऋणी हैं, इस कोटि में रखा जा सकता है, किन्तु शेष आगमतुल्य शौरसेनी ग्रन्थ जैनधर्म को सीमित घेरों में आबद्ध ही करते हैं।

◆ अर्धमागधी-आगम शौरसेनी-आगम और परवर्ती महाराष्ट्री व्याख्या साहित्य के आधार

अर्धमागधी-आगम शौरसेनी आगम और महाराष्ट्री व्याख्या साहित्य के आधार रहे हैं, क्योंकि चिन्तन के विकास के साथ-साथ देश, काल और सहगामी परम्पराओं के प्रभाव से बहुत कुछ ऐसी भी सामग्री है, जो उनकी अपनी मौलिक कही जा सकती है फिर भी अर्धमागधी आगमों को उनके अनेक ग्रन्थों के मूल स्रोत के रूप में स्वीकार किया जा सकता है। मात्र मूलाचार में ही तीन सौ से अधिक गाथाएं उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आवश्यकनिर्युक्ति, जीवसमास, आतुरप्रत्याख्यान, चन्द्रवेध्यक (चन्दावेज्झाय) आदि में उपलब्ध होती है। इसी प्रकार भगवती आराधना में भी अनेक गाथायें अर्धमागधी आगम और विशेष रूप से प्रकीर्णकों (पइन्ना) से मिलती है। षट्खण्डागम और प्रज्ञापना में भी जो समानताएँ परिलक्षित होती है, उनकी विस्तृत चर्चा पण्डित दलसुखभाई मालवणिया ने (प्रो. ए. एन. उपाध्ये व्याख्यायनमाला में) की है। नियमसार की कुछ गाथाएँ अनुयोगद्वार एवं इतर आगमों में भी पाई जाती है, जबकि समयसार आदि कुछ ऐसे शौरसेनी आगम ग्रन्थ भी है, जिनकी मौलिक रचना का श्रेय उनके कर्ताओं को ही है। तिलोपन्नति का प्राथमिक रूप विशेष रूप से आवश्यक निर्युक्ति तथा कुछ प्रकीर्णकों के आधार पर तैयार हुआ था, यद्यपि बाद में उसमें पर्याप्त रूप से परिवर्तन और परिवर्धन किया गया है। इस प्रकार शौरसेनी आगमों के निष्पक्ष अध्ययन से यह बात स्पष्ट है कि उनका मूल आधार अर्धमागधी आगम साहित्य ही रहा है तथापि उनमें जो सैद्धान्तिक गहराइयाँ और विकास परिलक्षित होते हैं, वे उनके रचनाकारों की मौलिक देन है।

◆ अर्धमागधी आगमों का कर्तृत्व अज्ञात

अर्धमागधी आगमों में प्रज्ञापना, दशवैकालिक और छेदसूत्रों के कर्तृत्व छोड़कर शेष के रचनाकारों के सम्बन्ध में हमें कोई स्पष्ट जानकारी प्राप्त नहीं होती है। यद्यपि दशवैकालिक आर्य शयम्भवसूरि की, छेदसूत्र आर्यभद्रबाहु की और प्रज्ञापना श्यामाचार्य की कृति मानी जाती है। महानिशीथ का उसकी दीमकों से भक्षित प्रति के आधार पर आचार्य हरिभद्र ने समुद्धार किया था वह स्वयं उसी में उल्लेखित है। जबकि अन्य आगमों के कर्ताओं के बारे में हम अन्धकार में ही हैं। सम्भवतः उसका मूल कारण यह रहा होगा कि सामान्यजन में इस बात का पूर्ण विश्वास बना रहे कि अर्धमागधी आगम गणधर अथवा पूर्वधरों की कृति है। इसलिये कर्ताओं ने अपने नाम का उल्लेख

नहीं किया। यह वैसी ही स्थिति है जैसी हिन्दू पुराणों के कर्ता के रूप में केवल वेद व्यास को जाना जाता है। यद्यपि वे अनेक आचार्यों की ओर पर्याप्त परवर्तीकाल की रचनाएँ हैं।

इसके विपरीत शौरसेनी आगमों की मुख्य विशेषता यह है कि उनमें सभी ग्रन्थों का कर्तृत्व सुनिश्चित है। यद्यपि उनमें भी कुछ परिवर्तन और प्रक्षेप परवर्ती आचार्यों ने किये हैं। फिर भी इस सम्बन्ध में उनकी स्थिति अर्धमागधी आगम की अपेक्षा काफी स्पष्ट है। अर्धमागधी आगमों में तो यहाँ तक भी हुआ है कि कुछ विलुप्त कृतियों के स्थान पर पर्याप्त परवर्ती काल में दूसरी कृति ही रख दी गई इस सम्बन्ध में प्रश्नव्याकरण की सम्पूर्ण विषय-वस्तु के परिवर्तन की चर्चा पूर्व में ही की जा चुकी है। अभी-अभी अंगचूलिया और बंगचूलिया नामक दो विलुप्त आगमों का, जो भोगीलाल लेहरचन्द भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर में उपलब्ध है, अध्ययन किया तो पता चला कि वे लोंकाशाह के पश्चात् अर्थात् सोलहवीं या सत्रहवीं शताब्दी में किसी अज्ञात आचार्य ने बनाकर रख दिये हैं। यद्यपि इससे यह निष्कर्ष भी नहीं निकाल लेना चाहिए कि यह स्थिति सभी अर्धमागधी आगमों की है। सत्य तो यह है कि उनके प्रक्षेपों और परिवर्तनों को आसानी से पहचाना जा सकता है, जबकि शौरसेनी आगमों में हुए प्रक्षेपों को जानना जटिल है।

आगमों की विषय-वस्तु के सम्बन्ध में जिस अतिशयता की चर्चा परवर्ती आचार्यों ने की है, वह अतिरंजना उनकी विश्वसनीयता पर प्रश्न चिन्ह उपस्थित करती है। हमारी श्रद्धा और विश्वास चाहे कुछ भी हो किन्तु तर्क, बुद्धि और गवेषणात्मक दृष्टि से तो ऐसा प्रतीत होता है कि आगम साहित्य की विषय-वस्तु में क्रमशः विकास ही होता रहा है। यह कहना कि आचारांग के आगे प्रत्येक अंग ग्रन्थ की श्लोक संख्या एक दूसरे से क्रमशः द्विगुणित रही थी अथवा १४ वें पूर्व की विषय-वस्तु इतनी थी कि उसे चौदह हाथियों के बराबर स्याही से लिखा जा सकता था, विश्वास की वस्तु हो सकती है, किन्तु बुद्धिगम्य नहीं है।

अन्त में विद्वानों से मेरी यह अपेक्षा है कि वे आगमों और विशेष रूप से अर्धमागधी आगमों का अध्ययन श्वेताम्बर, दिगम्बर, मूर्तिपूजक, स्थानकवासी या तेरापंथी दृष्टि से न करें अपितु इन साम्प्रदायिक अभिनिवेशों से ऊपर उठकर करें, तभी हम उनके माध्यम से जैनधर्म के प्राचीन स्वरूप का यथार्थ दर्शन कर सकेंगे और प्रामाणिक रूप से यह भी समझ सकेंगे कि कालक्रम में उनमें से कैसे और क्या परिवर्तन हुए है। आज आवश्यकता है पं. बेचरदासजी जैसी निष्पक्ष एवं तटस्थ बुद्धि से उनके अध्ययन की। अन्यथा दिगम्बर को उसमें वस्त्रसम्बन्धी उल्लेख प्रक्षेप लगेंगे तो श्वेताम्बर सारे वस्त्रपात्र के उल्लेखों को महावीरकालीन मानने लगेगा और दोनों ही यह नहीं समझ सकेंगे कि वस्त्र-पात्र का क्रमिक विकास किन परिस्थितियों में और कैसे हुआ है। यही स्थिति अन्य प्रकार के साम्प्रदायिक अभिनिवेश से युक्त अध्ययन की भी होगी। पुनः शौरसेनी और अर्धमागधी आगमों का तुलनात्मक अध्ययन भी उनमें निहित सत्य को यथार्थ रूप से आलोकित कर सकेगा। आशा है युवा-विद्वान् मेरी इस प्रार्थना पर ध्यान देंगे।

जैन आगम साहित्य का परिचय देने के उद्देश्य से सम्प्रतिकाल में अनेक प्रयत्न हुए हैं। सर्वप्रथम पाश्चात्य विद्वानों में हर्मन जेकोबी शूब्रिंग, विन्टरनित्ज आदि ने अपनी भूमिकाओं एवं स्वतंत्र निबन्धों में इस पर प्रकाश डाला। इस दिशा में अंग्रेजी में सर्वप्रथम हीरालाल रसिकलाल कापडिया ने A History of the Canonical Literature of the Jainas नामक पुस्तक लिखी। यह ग्रन्थ अत्यन्त शोध परक दृष्टि से लिखा गया और आज भी एक प्रामाणिक ग्रन्थ के रूप में मान्य किया जाता है। इसके पश्चात् प्रो. जगदीशचन्द्र जैन का ग्रन्थ प्राकृत साहित्य का इतिहास भी इस क्षेत्र में दूसरा महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान की जैन साहित्य का बृहद् इतिहास योजना के अंतर्गत प्रकाशित प्रथम तीन खण्डों में प्राकृत आगम साहित्य का विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है। इसी दिशा में आचार्य देवेन्द्रमुनिशास्त्री की पुस्तक जैनागम मनन और मीमांसा एक महत्वपूर्ण कृति है। पं. कैलाशचंद्र जी द्वारा लिखित जैन साहित्य के इतिहास की पूर्व पीठिका में अर्धमागधी आगम साहित्य का और उसके प्रथम भाग में शौरसेनी आगम साहित्य का उल्लेख हुआ है किन्तु उसमें निष्पक्ष अध्ययन दृष्टि का निर्वाह नहीं हुआ है और अर्धमागधी आगम साहित्य के मूल्य और महत्व को सम्यक् प्रकार से नहीं समझा गया है।

पूज्य आचार्य श्री जयन्तसेनसूरिजी ने प्रस्तुत कृति की सृजना जन-साधारण को आगम साहित्य की विषय-वस्तु का परिचय देने के उद्देश्य की है, किन्तु जब मैंने इस कृति को देखा तो मुझे लगा कि उन्होंने पूरी प्रामाणिकता के साथ संशोधनात्मक दृष्टि का भी निर्वाह किया है। यह बात उनकी सहज विद्वत्ता की परिचायक है। साथ ही उन्होंने इसके लेखन में अपने को साम्प्रदायिक अभिनिवेश से भी मुक्त रखा है, इससे उनकी उदार एवं व्यापक दृष्टि का परिचय मिल जाता है। प्रस्तुत कृति बारह अध्यायों में विभक्त हैं। प्रथम तीन अध्याय अर्धमागधी आगमों के महत्व, प्रामाण्य, वर्गीकरण एवं रचनाकाल का उल्लेख करते हैं। इस चर्चा में आचार्य श्री ने पूर्णतः अन्वेषक दृष्टि का निर्वाह किया है। अध्याय क्रमांक चार से सात तक चार अध्यायों में आगमों की विषय-वस्तु का विवरण दिया गया है। आठवाँ अध्याय आगमिक व्याख्या साहित्य से सम्बन्धित है। नवें अध्याय में आगम में वर्णित समाज-व्यवस्था का, दसवें शासन-व्यवस्था का, ग्यारहवें में अर्थ-व्यवस्था का और बारहवें में धर्म-व्यवस्था का चित्रण है। ये अन्तिम चार अध्याय सामान्य पाठक द्वारा आगमों के मूल्य एवं महत्व को समझने में अति सहायक है। आशा है, पाठकगण इस कृति के पठन से आगमों के विषय का सहज ही रसास्वादन कर सकेंगे। इस हेतु हम आचार्यश्री के आभारी रहेंगे कि उन्होंने आगमों की विषय-वस्तु को सहज और बोधगम्य रूप में हमारे सामने प्रस्तुत किया है। मैं व्यक्तिगत रूप से भी आचार्यश्री का आभारी हूँ कि उन्होंने भूमिका लिखने के माध्यम से मुझे आगम-साहित्य के आलोडन का सहज अवसर दिया।

प्रो. सागरमल जैन
पार्श्वनाथ शोधपीठ, वाराणसी

पुरोवचनिका

◆ अमृतमयी धारा और धर्म त्रिवेणी

भारतदेश 'जगद्गुरु' पद के गौरव से विभूषित माना गया है। इस गौरवपूर्ण पद की स्वीकृति में इस देश के प्राचीनतम ज्ञानराशि के अक्षय भाण्डागार का पूर्ण योगदान रहा है। यहाँ धर्म की प्रधानता को सर्वोपरि स्थान देते हुए सिद्ध तपस्वियों, महापुरुषों, महर्षियों तथा त्यागी-विरागियों ने सतत सात्विक साधना के द्वारा वैचारिक मन्थन करके सार्वभौम-सत्यरूप अमृत की उपलब्धि की और उसे चिर सुरक्षित रखने के लिए अक्षर देह प्रदान कर प्राणिमात्र के कल्याण का पथ प्रशस्त किया। इस पावन पथ पर धर्म-त्रिवेणी का प्रवाह अविरल प्रवहमान रखने वाले जैन, ब्राह्मण और बौद्ध धर्मानुयायी सुदीर्घकाल से अपने-अपने सर्वमान्य धर्म-ग्रंथों में आगम वेद तथा पिटकों को हिमालय के सर्वोच्च शिखर से निकली हुई अमृतमयी धारा का स्वरूप मानते हैं।

इस पवित्रतम धर्म त्रिवेणी की धाराओं से न केवल भारतवासी ही अपितु विराट् विश्व के ज्ञान-पिपासु मनीषीगण भी युगों से अमृतपान करते रहे हैं। युग बीत गये किन्तु आगमों की सत्ता इतनी सुदृढ़ जमी हुई है कि इनका आश्रय पा लेने पर सनातन-सत्यों की समष्टि को चिर-स्थिर रखनेवाला यह साहित्य मानव-मात्र को सत्य के दर्शन की प्रेरणा देता है, समुचित मार्ग का निर्देश करता है, कर्तव्याकर्तव्य का विवेक सिखाता है तथा सांसारिक प्रपञ्चों से मुक्त होकर मोक्ष पथ का पथिक बनने के सर्वोत्तम लक्ष्य की ओर अग्रसर करता है।

◆ आगमिक चिन्तन की विशेषता

एक विशिष्ट इकाई में उत्पन्न और कालान्तर में सुसमृद्ध हुए आगमिक चिन्तन की सर्वोपरि विशेषता यह है कि यह देश, काल की परिधि का अतिक्रमण करता हुआ विश्वचिन्तन की प्रतिष्ठा को प्राप्त कर रहा है। यही कारण है कि इस चिन्तन का प्रभाव न केवल भारतवर्ष के निवासियों पर ही पड़ा, अपितु आस-पास के सभी एशियाई देशों को भी अपने प्रभाव से आकृष्ट किया। आज तो विश्व के सुसमृद्ध देशों में भी यह एशियाई संस्कृति का एक महत्वपूर्ण प्रतिनिधित्व कर रहा है।

◆ जैन आगम विचार

यहाँ हम प्रस्तुत ग्रंथ के आलोक में चर्चित अनुशीलित जैन आगमों पर विचार करते हैं। वेद, आगम और बौद्ध-पिटकों की समानता में विराजमान जैन आगम आप्त-उक्ति, श्रुतज्ञान, आगम आदि विभिन्न अभिधानों से सुप्रसिद्ध हैं। इन आगमों की संख्या विस्तृत है। ये विशुद्ध रूप से भगवान महावीर की वाणी हैं, जिसे उपदेश के रूप

में श्रुत, एकादश गणधरों ने प्राप्त करके संकलनपूर्वक ग्रंथों के आकार में प्रस्तुत किया है।

प्राचीनकाल में 'श्रुतज्ञान' चौदह पूर्वों में अन्तर्भूत था। ये चौदह पूर्व उत्पाद पूर्व, अग्रायणीय पूर्व आदि नामों से प्रसिद्ध थे। ये सभी अंगों से पूर्व तीर्थंकरों द्वारा अभिहित होने से 'पूर्व' कहे गये। इन्हीं पूर्वों पर आधारित उपदेशों को विशिष्ट शक्ति सम्पन्न गणधर नाम-गोत्र, लब्धिशाली महापुरुषों ने सूत्ररूप में ग्रथित करके शिष्य-प्रशिष्यों तक पहुँचाया। ये सभी बातें आगमों में ही कथित हैं। अन्य बाह्य प्रमाणों की अपेक्षा किये बिना स्वयं आगमों में ही विविध प्रसंगों में आगमों के प्रादुर्भाव का कथन हुआ है। आगमों की संख्यागत बहुलता की दृष्टि से पूर्वाचार्यों की मान्यताओं में विभिन्नता आई और सम्प्रदायों का प्रवर्तन हुआ। तथापि मुख्य लक्ष्य में कोई भिन्नता नहीं आई, यह अत्यंत महत्वपूर्ण बात है।

'आगम' शब्द अनेक व्युत्पत्ति और परिभाषाओं से गौरवान्वित है। आगम शब्द को कुछ विद्वान 'रूढ़' मानते हैं तो कुछ 'योगरूढ़' मानते हैं। रूढ़वादी परिभाषाओं के द्वारा अपनी भावना को व्यक्त करते हैं, जबकि 'योगरूढ़वादी' व्याकरणानुसारी व्युत्पत्तियों के आधार पर अपने विचारों को अभिव्यक्ति देते हैं। 'उपासकाध्ययन' में आगम शब्द की परिभाषा इस प्रकार दी गई है—

◆ **हेयोपदेयरूपेण चतुर्वर्ग-समाश्रयात्।**
कालत्रय-गतानर्थान् गमयन्नागमः स्मृतः ॥१००॥

इसके अनुसार 'हेय और उपादेय रूप से धर्म, अर्थ, काम मोक्षरूप चतुर्वर्ग के समाश्रय से त्रिकालगत अर्थों का जो ज्ञान कराये वह 'आगम' कहा जाता है। आचार्य हेमचन्द्र ने 'अभिधान-चिन्तामणि-नाममाला' के देवकाण्ड में कहा है—

◆ **राद्धसिद्धकृतेभ्योऽन्त आप्तोक्तिः समयागमौ।**

तथा **स्वोपज्ञवृत्ति** में स्पष्ट किया है कि—

आगम्यत इति आगमः' अर्थात् 'सिद्धान्त, आप्तोक्ति, समय तथा आगम' में समानार्थक हैं।

अन्य धर्मावलम्बी आचार्यों ने भी आगम की परिभाषा और व्युत्पत्तियां इन्हीं के समान दी हैं। यथा— 'पातंजल योग दर्शन' के 'व्यास भाष्य' में — **'आप्तेन दृष्टोऽनधिगतोऽर्थः परत्र स्वबोधसंक्रान्तये शब्देनोपदिश्यते, शब्दात् तदर्थ विषया वृत्ति.** ' इसी को 'भोजवृत्ति' में 'आप्तवचनमागमः' कहकर पुष्टि की गई है।

यह है कि 'आगम स्मर्यमाण- कर्तृक हैं, सार्ववर्णिक हैं, राजमार्ग हैं। एक ही तत्व के प्रतिपाद्यभूत उपक्रम को क्रियाशीलता की ओर केंद्रित करते हैं। 'आगच्छति परम्परया इति आगमः' अर्थात् जो सत्य-रहस्य परम्परा से आ रहा है, वही आगम है।

आगमों में अनन्त शास्त्रकोटियों का ज्ञान समाविष्ट है। इस शब्द में 'आ' उपसर्ग के अर्थ (१) ईषद् और (२) समन्तात् दोनों आते हैं। गम शब्द का अर्थ बोध अथवा ज्ञान है। ये दोनों अर्थ जैन आगमों में यथार्थतः समाविष्ट हैं जो हेयता एवं उपादेयता के विवेचन से ज्ञेय हैं।

आगम एक ऐसा परिपूर्ण ज्ञान है, जो सर्वतोमुखी और सम्यक् है। प्राचीन टीकाकारों ने आगम का अर्थ 'अभेद परामर्श देनेवाली ज्ञानमयी शक्ति' कहा है। आगम का एक अर्थ 'अवतरण' भी है।इस दृष्टि से जैन आगम भगवान महावीर के उपदेशों के अवतरण से ही उपबृहित हैं।

आगम शब्द के यावन्मात्र अर्थों का समन्वय जैन आगमों पर सभी प्रकार से घटित हो जाता है। आगमों से कर्तव्य कर्मों की आज्ञारूप वस्तु की प्राप्ति होती है, जिसे 'आज्ञावस्तु समन्ताच्च गम्यत इत्यागमो मतः' इस व्युत्पत्ति से सार्थक कहा जा सकता है। परम्परा की दृष्टि से ये आगम बौद्धिक तथा सामाजिक जीवन के प्रधान स्रोत हैं। इनकी अनवरतता से चतुर्वर्ग के धर्म और मोक्ष की तथ्य पूर्ण व्यवस्थाएं प्रस्तुत हुई हैं। इनमें 'आत्मप्रकाश, स्मृति-परिशुद्धि, कर्तव्यबोध एवं जड़ीभव के निराकरण के उपायों का समुचित उल्लेख हुआ है। इन दिव्यागमों की भूमिका पर आध्यात्मिक तत्वों की सशक्त प्रतिष्ठा हुई है। तीर्थंकरों की वाणी के सार से संवलित इन आगमों की व्यापक परिधि में ऐसा कोई भी उपादेय, कल्याणकारी विषय नहीं छूटा है, तथा जो संकेतमात्र से कह दिया है, उसे परम उपकारी महर्षियों पूर्वाचार्यों ने टीका, भाष्य, व्याख्या आदि के माध्यम से स्पष्ट कर दिया है। यही कारण है कि आगम और आगमों से सम्बद्ध साहित्य अतिविस्तृत हो गया है। अंग, उपांग, प्रकीर्णक, छेदसूत्र, मूलसूत्र आदि आगमों का विषय-विस्तार सर्वसाधारण की ज्ञान सीमा से बहुत ही दूर होता जा रहा है। विरले आचार्य ही इस ज्ञान-सिन्धु में गोता लगाकर रत्नों को प्राप्त करते हैं। पारम्पिक दृष्टिकोण तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण के परिप्रेक्ष्य में निरीक्षण, दर्शन और बुद्धि-व्यापार द्वारा ज्ञान प्राप्त करने वाले स्वतंत्रचेता आचार्य इस आगमरूप धरोहर को सुरक्षित रखने और इनमें निहित वास्तविक ज्ञान राशि से परिचित कराने का निरन्तर प्रयास करते आए हैं।

ज्ञान-प्राप्ति के सर्वोत्तम साधनभूत जैनागमों से समुचित बोध की उपलब्धि के लिये– '१. दर्शन, २. अवग्रह निरीक्षण, ३. ईहा-वर्गीकरण, ४. अवाय-निष्कर्ष तथा ५. धारणा-नियमीकरण तथा सम्प्रसारण' ये पाँच चरण निर्धारित हैं। इनके आधार पर किये जा रहे वाचन, लेखन, व्याख्यान आदि क्रिया-कलापों से सर्वज्ञोपदिष्ट अध्यात्म की धूरी पर समाज को चरम लक्ष्य एवं परम कर्तव्य का ज्ञान कराया जा रहा है किन्तु यह एक *एकांगी प्रयासमात्र कहा जाएगा। क्योंकि परिचय की परिधि में इतने आगमों को आबद्ध* करने से समुचित निरूपण नहीं हो पाता है।

◆ **आचार्य श्री जयन्तसेन सूरीश्वरजी की भावना**

आचार्यवर्य श्री जयन्तसेन सूरीश्वरजी महाराज ने इस कमी का अनुभव किया और जैनागमों के सांस्कृतिक पक्ष मात्र को उजागर करने के साथ ही इनके समुचित परिज्ञान विभिन्न मान्यताओं का अध्ययन, शास्त्र एवं अन्यान्यशास्त्रों का विचार, ऐतिहासिक पक्ष, अन्तर्विरोध, चिन्तनपरम्परा, रीतिपरम्परा, विश्वास, जीवन-पद्धति, समन्वय-प्रधानता आदि अपेक्षित तत्वों का प्रतिपादन, दूरकालवर्ती संकेतों का स्पष्टीकरण तथा व्याख्या सापेक्ष विषयों का सांगोपांग निरूपण करने की आवश्यकता को भी अनुभव किया। यहाँ यह भी संकेत करना प्रासंगिक ही होगा कि आचार्य श्री अद्यावधि विविध विषयक अनेक ग्रंथों का प्रणयन कर चुके हैं।

यद्यपि देश-विदेश के अनेक विख्यात विद्वानों ने जैन आगमों के विशिष्ट विषयों पर विस्तार से विवेचन किया है, तथापि समग्र विषयों के विस्तार से विमर्श के प्रयास नहीं हुए हैं, यह कहना असंगत नहीं है। चिन्तन दारिद्रय को हटाने तथा इन आगमों में विराजमान सर्वोपयोगी, सर्वसापेक्ष, प्राचीन समन्वय संस्कृति का उन्मीलन करने के लिए ज्ञान-गरिमा से मण्डित विविध शास्त्रों के विज्ञाता, प्राञ्जल और प्रामाणिक शैली के साहित्यकार आचार्य प्रवर जैसे मनीषी की लेखनी प्रवृत्त हो, यह नितान्त आवश्यक था।

आचार्यश्री ने प्राचीन और नवीन उपलब्ध आगमिक साहित्य का चिन्तन और मन्थन करके पाया कि आगमिक चिन्तन की शाश्वत सार्थकता को दृश्यसत्ता-शरीर, प्राण, मन और बुद्धि आदि को केन्द्र में रखकर इनके चारों ओर दृष्टि रखने की प्रवृत्ति तो इन लेखकों ने प्रयासपूर्वक प्रस्तुत की है किन्तु हमारे आगमों ने जिस अदृश्यसत्ता 'आत्मा' को पार्थिव उपलब्धियों की अपेक्षा मानव जाति के लिये जीवन के केंद्र में प्रतिष्ठित किया और अध्यात्मपरक जीवन के सभी स्तरों को आलोकित करने की दृष्टि के लिये अपेक्षित विवेचन को पर्याप्त स्थान नहीं दिया है। इसके साथ ही आगमों का परिचय कराने वाले विद्वानों ने विवेचना में 'उत्कृष्ट प्रस्तुति' अथवा 'सामान्य सूचनात्मक विवेचनों' से पाठकों के अन्तरंग को वैज्ञानिक प्रणाली से मुख्य प्रस्थापनाओं को आत्मसात कराने में भी औदार्य नहीं दिखाया है।

देश एवं काल की सीमाओं का अतिक्रमण करके समग्र एशियाई संस्कृति का प्रतिनिधित्व करने वाले इन आगमों के द्वारा एक बार पुनः अपने विस्मृत संस्कारों और कर्तव्यों का स्मरण दिलाने तथा मानव-मात्र को विनाश के गर्त से बचाने के लिए सूरीश्वरजी द्वारा किया गया सत्संकल्प इस 'आगमों के अनुशीलन' में परिणत हुआ है।

◆ **गम्भीर अध्ययन से तत्व-प्राप्ति**

"येऽन्विष्यन्ति निमज्जथ सागरतलं तैर्मौक्तिकं लभ्यते"

—जो सागर के तल में डूब कर खोज करते हैं, उन्हीं को मोती-रत्न प्राप्त होते हैं।

इस सूक्ति को सार्थक करते हुए प्रस्तुत ग्रंथ के प्रणेता 'श्रीजयन्त सेन सूरीश्वरजी महाराज' ने निरन्तर शास्त्रावगाहन-पूर्वक जिन रत्नों की उपलब्धि की है, उसे मध्यममार्ग का अवलम्बन लेकर सर्वबोध्य भाषा में जैन आगम-साहित्य का विभिन्न दृष्टियों से अनुशीलन किया है। इसकी संक्षिप्त विवरणिका इस प्रकार है—

प्रस्तुत अनुशीलन बारह अध्यायों में आवर्जित हैं। इन अध्यायों में क्रमशः—

१— आगमः: साम्प्रतिक, आविर्भाव की भूमिका- शीर्षक से लक्षण प्रामाण्य, उपदेष्टा जैसे विषयों पर चर्चा करते हुए प्रचलित ऊहापोहों की तथ्यात्मक विवेचना की गई है।

२— आगमों का वर्गीकरण-इस शीर्षक से आगमों की द्वादशांगता, संकलन, संख्यावृद्धि का कारण, वर्गीकरण का रूप, अंग-अंगबाह्य आदि शब्दों का आशय, आगमों का वर्गीकरण, दिगम्बर परम्परा में वर्गीकरण का रूप, आगमों की साम्प्रतिक संख्या, स्थानकवासी परम्परा मान्य आगम, जैसे उपशीर्षकों के द्वारा शास्त्रीय प्रमाणों के साथ, बिना किसी पक्षपात के, तटस्थरूप से दिग्दर्शन कराया है।

३— आगमों का रचनाकाल प्ररूपित करते हुए इस अध्याय में 'आगम सुरक्षा में बाधाएँ; पाटलीपुत्र, मथुरा, वल्लभी (प्रथम और द्वितीय), वाचनाएँ, दिगम्बर परम्परा में शास्त्रलेखन की स्थितियों की प्रामाणिक प्रस्तुति' की गई है। कथन की मनोज्ञता इतनी उत्तम है कि पाठक के मन में उठने वाले संशयों को स्वयं उठाकर उनका समाधान भी दिया है। कहीं भी सम्प्रदायगत दुराग्रह को अवकाश नहीं दिया गया है। तुलना में वैदिक साहित्य के सम्बंध में कथित विचारों पर विमर्श भी किया है। यथावश्यक बौद्ध पिटकों के संरक्षणादि के लिए हुई व्यवस्था प्रक्रिया का भी स्मरण दिलाया है। वाचनाएं यहाँ चार वर्णित हैं, जबकि छह वाचनाऐं भिन्न-भिन्न समयों में हुई थीं, ऐसा उल्लेख भी मिलता है।

४— अंग आगमों का बाह्य परिचय— इस अध्याय का उद्देश्य अंग आगमों के बाह्य वैशिष्ट्य से परिचित कराना है। इसमें श्रुतपुरुष का परिचय देकर 'नाम-निर्देश आचारादि अंगों के नामों का अर्थ, अंगों की भाषाशैली, अंगों का क्रम, अंगो का पद-परिमाण, दिगम्बर परम्परा में अंग आगम' परक लघुशीर्षकों में सप्रमाण परिचय कराया है। जैन सम्प्रदाय की दोनों शाखाओं की मान्यता का तारतम्य इस परिचय श्रृंखला से स्पष्ट हो जाता है।

५— अंग आगमों का आन्तर परिचय— इस शीर्षक से वर्ण्य विषय स्वयं स्पष्ट है। इसमें प्रत्येक अंग/आगम का संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित अन्तरंग परिचय दर्शित है। दोनों परम्पराओं में प्रवर्तित मान्यताओं का निदर्शन एवं प्रत्येक अंग आगम का

विषय-दर्शन श्लाघनीय है । इससे इतर सम्प्रदाय के अध्येताओं के लाभ से निषेध नहीं किया जा सकता ।

६— उपलब्ध अंग आगमों का परिचय— यह अध्याय वर्तमान उपलब्ध अंग आगमों का विस्तार से उनके अध्ययन, प्रकरण, चूलिका आदि के विषय-विशेष का परिचय कराता है । प्रासंगिक रूप में यत्रतत्र महत्ता, समीक्षा एवं उनकी भाषा शास्त्रीय विमर्श के साथ प्राचीनता, उत्तर कालिक और शैली, भाषा एवं चूर्णिकारों के मन्तव्यों को भी यहाँ प्रस्तुत करके रोचकता लायी गई है । इस अध्याय का महत्व इस दृष्टि से भी बढ़ गया है कि प्रत्येक अंग का समग्र विषय स्पष्ट होने के साथ ही, वर्णित दृष्टान्त, कथा, सिद्धान्त आदि के उल्लेख्य तथ्यों की ओर भी ध्यान दिलाया गया है ।

इन अंग आगमों के विदेशी विद्वानों द्वारा किये गये अनुवाद, शोधपूर्ण प्राक्कथन तथा निबंध लेखन आदि का भी परिचय दिया गया है, जो अति महत्वपूर्ण है ।

७— अंग बाह्य आगमों का परिचय— श्रुतकेवलियों स्थविरों आदि के द्वारा विरचित ग्रंथों को- अनंग-प्रविष्ट प्रकीर्णक, उपांग अथवा अंगबाह्य शब्द से सम्बोधित किया गया है । इनके परिचय में भेद-प्रभेदों के कारण विविधता का होना स्वभाविक ही है । किन्तु सूरीश्वरजी इसे आगमों के प्रमाणों से ही व्यवस्थित रूप में समझाते हैं । मूल शीर्षक के अनुसार परम्परा-मान्य प्रत्येक अंगबाह्य का परिचय देते हुए यहाँ विवेचन सरणि में आचार्यों की टीका, भाष्य, चूर्णी आदि में प्रकटित मान्यताओं को भी समुपस्थित किया है । सभी उपांगों में वर्णित विषयों का प्रकरणानुसार परिचय सार-सञ्चयनी दृष्टि से दिया है । लेखन एवं चयन शैली इतनी मनोरम है कि पूरे ग्रंथ का वास्तविक स्वरूप सहजरूप से प्रत्यक्ष हो जाता है । छेदसूत्र, मूलसूत्र, निर्युक्ति आदि के परिचय भी समीक्षण सहित इसी अध्याय में उपलब्ध है । परम्परा में जिन अन्य ग्रंथों को आगमों के रूप में मान्यता मिली है उन १३ ग्रंथों का परिचय देकर वैदेशिकों की कृतकार्यता से भी अवगत कराया गया है ।

८— आगमिक व्याख्या साहित्य— यह सर्वमान्य सत्य है कि 'ग्रंथगत विषयवस्तु का रहस्योद्घाटन उसके विश्लेषण अथवा व्याख्या के बिना दुरूह है ।' हजारों वर्षों के अन्तराल में स्थित आगम-वाङ्मय के गाम्भीर्य का परिज्ञान उन पर सिद्धहस्त, मर्मज्ञ, तपःपूत एवं पारम्परिक प्रज्ञा के धनी आचार्यों द्वारा इन आगमों पर 'निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका, विवरण, वृत्ति, दीपिका, टिप्पण, अवचूरि, विवेचन, छाया, अक्षरार्थ पंचिका, वचनिका, टब्बा, भाषाटीका, अनुवाद' आदि निरन्तर लिखे गये हैं । इनकी विविधता, विशिष्टता, उदात्तता, गम्भीरता आदि से सर्वसामान्य को अवगत कराने के ध्येय से यह अध्याय लिखा गया है । यहाँ प्रसंग प्राप्त व्याख्या के प्रकार, अभिधेय, संकलित आगमों

के नाम, प्रमुख व्याख्याकार, (प्राकृत, संस्कृत तथा लोकभाषा के) व्याख्याकारों का, उनकी अन्यान्य कृतियों का और व्यक्तित्व का समालोचना-पूर्वक परिचय कराया है। यह 'सांकेतिक विहंगावलोकन' होते हुए भी अपने आपमें परिपूर्ण है।

९— आगम साहित्य में समाज व्यवस्था— यह अध्याय इस ग्रंथ का शिखर रूप कहा जा सकता है, क्योंकि अन्यान्य लेखक आगमों की महत्ता व्यक्त करने के लिये धार्मिक, दार्शनिक और सांस्कृतिक पक्ष पर ही लिखते रहे हैं। जनमानस को छूने वाले, उनसे निकटता स्थापित करने तथा सामाजिक व्यवस्था के ग्राह्यतत्वों को आत्मसात कराने में यह अध्याय मार्गदर्शक होगा। इसमें 'वर्णव्यवस्था, वर्णों की उत्पत्ति, प्रत्येक वर्ण के कार्य, श्रेणी संगठन, पारिवारिक जीवन, विवाह-प्रथा, सन्तान के प्रति ममत्व, लौकिक देवी देवता, जादू-टोना और अन्धविश्वास, आमोद-प्रमोद, मनोरंजन के साधन, जीवनोपयोगी साधन, जीवन यापन स्तर, मरण संस्कार, चिकित्सा आदि के तात्विक विषयों को उद्धृत किया है।

१०— आगम साहित्य में शासन व्यवस्था के उल्लेख— शीर्षक इस अध्याय में राजा और राजपद, राजा की दिनचर्या, राजा का उत्तराधिकारी, राज्याभिषेक, राजा का अन्तःपुर, राजा के प्रधान पुरुष, सैन्य व्यवस्था, राज्य की आय के स्रोत, गाँव, एक छत्र राज, अपराध और दण्ड, हाकार और धिक्कार नीतियाँ, न्याय व्यवस्था आदि विषयों पर सूक्ष्म अध्ययन पूर्वक तत्कालीन स्थिति का दिग्दर्शन अत्यन्त उपयोगी हुआ है।

११— आगमों में अर्थोपार्जन व्यवस्था का उल्लेख— यह जनजीवन के अत्यावश्यक अंग का प्रकाशक अध्याय है। इसमें कृषि, श्रम, पूंजी और प्रबंध सम्बंधी अर्थोपार्जन के साधनों का विवेचन हुआ है। "कृषि उपज, अन्न की सुरक्षा के उपाय, पशुपालन, वनोपज, कताई-बुनाई, आभूषण निर्माण, उपकरण निर्माण, सुगन्ध, इत्र, धूप आदि के व्यापारी, अन्य कारीगरी, अन्य पेशेवर लोग, भृत्य, दास आदि, अर्थोपार्जन के विविध रूप प्रमुख व्यापार केंद्र, यातायात के साधन, प्रस्थान समारोह, मुद्रा, माप तोल, उधार लेना देना, व्यापारिक संगठन जैसे— उपशीर्षकों के माध्यम से सम्पूर्ण जीवन शैली का विराट दर्शन इस अध्याय का लौकिक प्रस्थान है।

१२— आगम साहित्य में धार्मिक व्यवस्था का रूप— जैन आगमों का प्रमुख प्रतिपाद्य धर्म है। उसके परिप्रेक्ष्य में मानव के अस्तित्व की समस्त आस्थाएँ, व्यवस्थाएं, प्रतिष्ठाएँ तथा निष्ठाएँ स्वतः स्फूर्त होती गई किन्तु इनका प्रकाश शारदीय पूर्णिमा के चन्द्रमा के परम आह्लादक प्रकाश में नक्षत्रों के समान टिमटिमाते रहे। लगता है ये उपर्युक्त ९, १० तथा ११ वें अध्यायों में पुनर्जीवन को ही प्राप्त नहीं हुए, अपितु अमरत्व की स्थिति में भी पहुँच गये।

यहीं यह '**आगम और आगम साहित्य का अनुशीलन**' विराम लेता है।

◆ **उपसंहार**

यह अनुशीलन अपने आप में अनूठा एवं परिपूर्ण है। यह इतिहास, समीक्षा, उद्‌बोधन, अन्तः साक्ष्य के आधार पर कथातत्व, शास्त्रीय तथ्य एवं मृदुल खण्डन-मण्डन तथा सुखद सामञ्जस्य को अपने में समेटते हुए पारदर्शी स्वरूपाङ्कन का अनूठा प्रयास है, यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है।

लेखन में किसी राजाज्ञा के प्रति अवनत न होते हुए उत्कट श्रम, स्वाध्याय और प्रौढ़ ज्ञान को उपस्थित करने में सफलता का वरण तो किया ही है, साथ ही अनेक अनुद्‌घाटित पक्षों के संशयास्पद विचारों को उद्‌घाटित करने में भी मानक कीर्तिमान स्थापित किया है। यह ग्रंथ जैन आगमों और उनके सम्बंध में विभिन्न प्रकार की भ्रान्तियों का निवारण करते हुए शास्त्रीय पक्ष का मण्डन भी करता है।

यहाँ महाकवि हर्ष की यह उक्ति स्मरण हो आती है कि– "वाग् जन्म वैफल्यमसह्यशल्यं गुणाद् भुते वस्तुनि मौनिता चेत्" अर्थात् किसी अद्‌भुत गुणों वाली वस्तु के गुणों के प्रति मौन रहना, वाणी के जन्म की विफलता ही है और वह असहनीय काँटा भी है।" अतः इस अद्‌भुत गुणोंवाली कृति और वर्तमान जैनजगत के देदीप्यमान नक्षत्र तुल्य ग्रंथकार की जितनी प्रशंसा की जाए वह न्यून ही होगी।

आज के युग में आगमों की रक्षा, अध्ययन-अध्यापन और उसके सर्वाङ्गीण अनुशीलन की महती आवश्यकता की पूर्ति इस ग्रंथ से सहज सम्भव होगी यह हमारा पूर्ण विश्वास है। देश-विदेश के जो विद्वान अनुसन्धान-प्रवृत्ति में जुटे हुए हैं उनके लिये यह 'अनुशीलन' निश्चय ही मार्गदर्शक सिद्ध होगा।

इस आर्ष-पुरुषार्थ के लिये आचार्य प्रवर श्री जयन्त सेन सुरीश्वरजी महाराज सदैव वन्दनीय और अभिनन्दनीय है। भविष्य में और भी ऐसी कृतियों के निर्माण की अपेक्षा के साथ आपके नैरोग्यपूर्ण दीर्घजीवन की मङ्गल कामना करते हुए आपके चिर स्थिर यश का प्रसार हो तथा विद्वान समुदाय इस कृति का मनोयोग पूर्वक अध्ययन करें, समादर करें, यही शुभेच्छा है।

निदेशक
बी.एम. बिड़ला शोध केंद्र
विश्वविद्यालय मार्ग
उज्जैन (म.प्र.)

डॉ. रुद्रदेव त्रिपाठी
साहित्य सांख्ययोग दर्शनाचार्य,
एम.ए. (संस्कृत-हिंदी), पी-एच.डी.,
डी.लिट्., तन्त्रागम भास्कर

प्राक्कथन

विश्व के जितने भी धर्म हैं, उन सबका अपना-अपना साहित्य है। उसमें उनकी धर्म-दर्शन विषयक मान्यताओं का प्रतिपादन किया गया है। वैदिक परम्परा में वेद है तो बौद्ध परम्परा में त्रिपिटक। मसीही धर्म में बाईबिल है तो इस्लाम में कुरान। इन सबका अपनी-अपनी परम्परा में विशिष्ट महत्व है। इसी प्रकार जैन परम्परा में आगम साहित्य है। सूत्र, ग्रंथ, सिद्धांत, प्रवचन, आज्ञा, वचन उपदेश, प्रज्ञापन, आगम, आप्तवचन, ऐतिह्य, आम्नाय और जिन वचन, श्रुत ये सभी आगम के पर्यायवाची शब्द हैं। आजकल आगम शब्द का प्रयोग अधिक होने लगा है किंतु प्राचीन काल में श्रुत शब्द का प्रयोग अधिक होता था।

यह तो स्पष्ट है कि आगम साहित्य जैन धर्मावलम्बियों का परम पावन साहित्य है, फिर भी आगम की परिभाषा या अर्थ जानना आवश्यक प्रतीत होता है। आगम की परिभाषा से यह स्पष्ट हो जायेगा कि इस शब्द से कौनसा तथ्य/रहस्य ध्वनित होता है।

"आगम" 'आ' उपसर्ग और 'गम' धातु से निष्पन्न हुआ है। 'आ' उपसर्ग का अर्थ पूर्ण है और गम धातु का अर्थ गति प्राप्ति है। इस संदर्भ में आचार्यों ने आगम की जो परिभाषाएँ दी हैं, उनमें से कुछ इस प्रकार हैं–

"जिससे वस्तु तत्व का परिपूर्ण ज्ञान हो, वह आगम है।"

आ- समन्ताद् गम्यते वस्तु तत्वमनेने त्यागमः।

जिससे पदार्थों का यथार्थ ज्ञान हो, वह आगम है

आगम्यन्ते मर्यादयाऽवबुद्धयन्तेऽर्थाः अनेनेत्यागमः॥

– रत्नाकरावतारिकावृत्ति

जिससे पदार्थों का परिपूर्णता के साथ मर्यादित ज्ञान हो, वह आगम है। जो तत्व आचार परम्परा से वासित होकर आता है, वह आगम है। **–आवश्यक मलयगिरिवृत्ति, नन्दीसूत्र वृत्ति।**

उपचार से आप्तवचन भी आगम माना जाता है। आप्त का कथन आगम है।

आप्तोपदेशः शब्दः – न्याय सूत्र १/१/७

जिससे सही शिक्षा प्राप्त होती है, विशेष ज्ञान उपलब्ध होता है, वह शास्त्र आगम या श्रुतज्ञान कहलाता है।

उपर्युक्त परिभाषाओं में आप्त शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि आप्त कौन ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि जिन्होंने राग-द्वेष को जीत लिया है, वह जिन तीर्थंकर, सर्वज्ञ, भगवान, आप्त है और उनका उपदेश एवं वाणी ही जैनागम है, क्योंकि उनमें वक्ता के साक्षात् दर्शन एवं वीतरागता के कारण दोष की संभावना नहीं होती और न पूर्वापर विरोध तथा युक्ति बाध ही होता है।[१]

सम्पूर्ण आगम साहित्य को निम्नानुसार वर्गीकृत किया गया है—

अंग, उपांग, मूलआगम, छेद आगम और प्रकीर्णक।

अनुयोगों के अधार पर आगमों का वर्गीकरण इस प्रकार है—

चरण करणानुयोग, धर्मकथानुयोग, गणितानुयोग और द्रव्यानुयोग।

विषय साम्य की दृष्टि से अपृथक्त्वानुयोग और पृथक्त्वानुयोग ये दो भाग किये गए हैं।

जहाँ तक आगम ग्रंथों की संख्या का प्रश्न है इस सम्बंध में मतैक्य नहीं है। श्वेताम्बर जैन परम्परा में मूर्ति पूजक परम्परा पैंतालीस आगम ग्रंथ स्वीकार करती है तो स्थानकवासी जैन परम्परा बत्तीस। दिगम्बर जैन परम्परा अपने आगम ग्रंथ इन दोनों परम्पराओं से अलग ही स्वीकार करती है। यहाँ इस विषय पर विस्तार से कुछ लिखना प्रासंगिक प्रतीत नहीं होता।

राष्ट्रसंत, जैन धर्म प्रभावक तीर्थोद्धारक कुशल प्रवचनकार, सिद्धहस्त लेखक, सरस कवि, प्रशांतमूर्ति, सरल स्वभावी, मृदुभाषी पूज्य आचार्य भगवंत श्रीमद् विजय जयंतसेन सूरीश्वरजी म.सा. की विविध विषयक अनेक पुस्तकें अभी तक प्रकाशित हो चुकी हैं। जिनमें प्रवचन, कथा, काव्य, निबंध, व्याख्या परक तो है ही, साथ ही जैन धर्मावलम्बियों के लिए नित्य उपयोग में आने वाली पुस्तकें भी सम्मिलित हैं। आचार्य भगवंत एक चिंतक भी हैं। उनका यह स्वरूप उनकी चिंतन प्रधान पुस्तकों में देखने को मिलता है। उन्होंने अनेक महत्वपूर्ण एवं उपयोगी ग्रंथों का पुनर्मुद्रण भी करवाया है। इस प्रकार आचार्य भगवंत माँ भारती के भण्डार को समृद्ध करते जा रहे हैं।

यह मेरे लिए सौभाग्य का विषय है कि मुझे आचार्य भगवंत ने अपने नवीनतम ग्रंथ "जैन आगम साहित्य : एक अनुशीलन" का न केवल अवलोकन करने का अवसर प्रदान किया वरन्, उस पर लिखने का भी अवसर दिया। वैसे जैन आगम साहित्य पर अद्यावधि बहुत कुछ लिखा जा चुका है। फिर भी प्रस्तुत ग्रंथ की अपनी कुछ अलग विशेषताएँ हैं, जो उसमें प्रतिपाद्य विषय को देखने पर स्पष्ट हो जाती हैं।

---

१. जैन आगम साहित्य : मनन और मीमांसा पृष्ठ ५-६

सम्पूर्ण ग्रंथ को कुल बारह अध्यायों में बाँटा गया है। प्रथम अध्याय में आगम का लक्षण, आगम प्रामाण्य, वैदिक दृष्टि और आगमों के उपदेष्टा पर प्रकाश डाला गया है। यह अध्याय आगम साहित्य को समझने में सहायक है। दूसरे अध्याय में आगमों का वर्गीकरण किया गया है। इसमें आगमों की संख्या पर विचार करते हुए वर्गीकरण के रूप भी बताये गये है। साथ ही अंग-अंगबाह्य शब्दों को भी समझाया गया है। इससे जैन धर्मेतर व्यक्ति को समझने में काफी सहायता मिलती है।

तीसरा अध्याय आगमों के रचना काल से सम्बंधित है। श्रुत परम्परा से जब ज्ञान के क्षय होने-नष्ट होने की सम्भावना हुई तो तत्कालीन विज्ञ आचार्यों ने आगम साहित्य को शुद्ध रूप में सुरक्षित रखने के लिये परिषदों का आयोजन करके आगम साहित्य को संग्रहीत किया और फिर लिपिबद्ध कर सुरक्षित किया। ऐसी जितनी भी वाचनायें हुई उनका संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित विवरण इस अध्याय में दिया गया है।

अध्याय चार, पाँच और छः में अंग आगमों का बाह्य एवं आन्तर परिचय दिया गया है। चौथे अध्याय में अंग आगमों का नाम निर्देश, नामों का अर्थ, उनकी भाषा शैली, अंगों का क्रम, अंगों का पद परिमाण आदि पर प्रकाश डाला गया है। पाँचवें और छठे अध्याय में अंग आगमों का सांगोपांग परिचय दिया गया है। इस परिचय से प्रत्येक अंग आगम की विषय वस्तु का सम्पूर्ण परिचय मिल जाता है।

अध्याय क्रमांक सात में अंग बाह्य आगमों का परिचय दिया गया है। प्रत्येक अंग बाह्य आगम का सम्पूर्ण परिचय दिया गया है। जिससे उनकी विषयवस्तु की जानकारी सहज ही मिल जाती है।

अध्याय क्रमांक आठ में आगमिक व्याख्या साहित्य पर प्रकाश डाला गया है। इसमें व्याख्या के प्रकार व्याख्या के प्रकारों का अभिधेय, व्याख्या प्रकारों में संकलित आगमों के नाम के साथ ही प्रमुख व्याख्याकार, भाष्यकार, चूर्णिकार, टीकाकार लोक भाषा टीकाकार आदि का परिचय दिया है। उसके पश्चात् व्याख्या ग्रंथों का परिचय दिया गया है।

अध्याय एक से अध्याय आठ तक का विवरण यदि विस्तार से लिखा जाए तो ग्रंथ का स्वरूप कुछ और ही हो जाता है किंतु आचार्य भगवंत ने अपनी कलम के जादुई स्पर्श से लेखन कुछ इस प्रकार किया है कि गागर में सागर समा गया है। थोड़े में ही विस्तृत परिचय मिल जाता है।

अध्याय क्रमांक नौ में आगम साहित्य में वर्णित समाज-व्यवस्था पर प्रकाश डाला गया है। इसमें वर्ण और जाति, ब्राह्मणों के सम्बंध में जैन मान्यता का दृष्टिकोण,

ब्राह्मण आदि चार वर्णों के कार्य, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, श्रेणी संगठन, पारिवारिक जीवन, संतान के प्रति ममता, लौकिक, देवी-देवता, जादू-टोना, अंधविश्वास, आमोद-प्रमोद के साधन जीवनोपयोगी साधन, जीवन यापन स्तर, मरण संस्कार, आयुर्वेद आदि विषयों पर प्रकाश डाला गया है।

अध्याय क्रमांक दस में आगम साहित्य में शासन व्यवस्था सम्बंधी मिलने वाले विवरण का उल्लेख किया गया है। इसमें राजा और राजपद, राजा की दिनचर्या का प्रारम्भ, राजा का उत्तराधिकारी, राजा का अंतःपुर, राजा के प्रधानपुरुष, सैन्य व्यवस्था, राज्य की आय के स्रोत, शासन की इकाई गांव, राजा का एकछत्र राज, अपराध और दण्ड, न्याय-व्यवस्था पर विचार किया गया है। इस प्रकार आगमों में शासन व्यवस्था सम्बंधी लगभग समस्त आवश्यक बातों का विवरण उपलब्ध होता है।

अध्याय क्रमांक ग्यारह में अर्थोपार्जन व्यवस्था का उल्लेख किया गया है। चूंकि प्रारम्भ में प्रत्येक देश में कृषि का अपना विशेष महत्व था, इसलिए हर स्थान पर पहले कृषि का विवरण अवश्य मिलता है। आगमों में कृषि उपज, अन्न की सुरक्षा के उपाय, पशुपालन का विवरण तो मिलता ही है, साथ ही वनोपज, खनिज पदार्थ, कताई, बुनाई, आभूषण निर्माण, लोह मिट्टी आदि के उपकरणों का निर्माण, सुगंध, इत्र, धूप के व्यापारी आदि का विवरण भी उपलब्ध होता है। फिर कारीगर, अन्य पेशेवर लोग, भृत्य, दास आदि की जानकारी भी मिलती है। प्रमुख व्यापारिक केंद्रों का परिचय देकर यातायात के साधनों का उल्लेख किया गया है। माप-तौल, उधार लेन-देन और व्यापारिक संगठनों का उल्लेख भी आगम साहित्य में मिलता है, जिनका समुचित विवरण आचार्य देव ने इस अध्याय में दिया है।

अध्याय क्रमांक बारह में आगम साहित्य में धार्मिक व्यवस्था पर प्रकाश डाला गया है।

चूंकि सम्पूर्ण आगम साहित्य धर्म और दर्शन विषयक ग्रंथ है। अतः उनमें धर्म और दार्शनिक विषयों का प्रतिपादन विस्तार से किया गया है। आचार्य भगवंत ने अध्याय क्रमांक नौ, दस और ग्यारह में धर्मेतर और दर्शनेतर विषयों का विवरण प्रस्तुत कर कतिपय विद्वानों के उस मंतव्य को समाप्त कर दिया है जो यह कहते हैं कि जैनागमों में धर्म-दर्शन के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। वास्तव में अभी तक जैन आगम साहित्य का अध्ययन इस दृष्टि से हुआ ही नहीं है। आवश्यकता इस बात की है कि समग्र आगम साहित्य का पृथक-पृथक सांस्कृतिक अध्ययन प्रस्तुत किया जावे तो अनेक ऐसे तथ्य सामने आ जावेंगे जिनसे अभी तक सब अपरिचित हैं। आगम साहित्य केवल धर्म और दर्शन का ही प्रतिपादन नहीं करते वरन् उनमें इतिहास, भूगोल, अर्थशास्त्र,

समाजशास्त्र तर्कशास्त्र, मनोविज्ञान गणित, ज्योतिष, परामनोविज्ञान, राजनीति, कला, नीति शास्त्र जैसे विषयों से सम्बंधित सामग्री भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है।

आचार्य भगवंत ने अपने इस ग्रंथ में धर्मेतर एवं दर्शनेतर विषय पर प्रकाश डालकर बहुत बड़ा उपकार किया है। यह विवरण अनुसंधानकर्ताओं के लिये अत्यंत उपयोगी रहेगा। यह भी विश्वास किया जाता है कि इस विवरण को देखकर जिज्ञासु विद्वान स्वतंत्र रूप से इन विषयों पर अनुसंधान करें। यदि कोई अनुसंधानकर्ता की दृष्टि इस ओर नहीं जाती है तो जैन विद्या में संलग्न विद्वान आचार्यों, मुनिराजों, विद्वानों और संस्थानों से विनम्र आग्रह है कि वे अब इस दिशा में योजनायें बनायें और इस कार्य को आगे बढ़ायें ताकि भ्रांत धारणाओं का खण्डन हो सके।

अंत में मैं यही विश्वास करता हूँ कि आचार्य भगवंत ने जो दिशा प्रदान की है उसे आगे बढ़ाने का प्रयास किया जावेगा और आचार्य भगवंत से भी यही निवेदन है कि वे भी इस दिशा में उन विद्वानों को प्रेरणा प्रदान करें जो उनके सम्पर्क में है। आचार्य भगवंत से यह भी आशा है कि भविष्य में उनकी ओर से और भी महत्वपूर्ण ग्रंथ समाज को मिलते रहेंगे जो समाज का मार्गदर्शन करेंगे।

इसी आशा और विश्वास के साथ—

उज्जैन

१९ मई १९९४

डॉ. तेजसिंह गौड़

अनुक्रमणिका

(i) स्वकथ्य		iii
(ii) प्रकाशकीय		vii
(iii) भूमिका	डॉ. सागरमल जैन	१
(iv) पुरोवचनिका	डॉ. रुद्रदेव त्रिपाठी	४५
(v) प्राक्कथन	डॉ. तेजसिंह गौड़	५३

◆ **अध्याय १– आगम : सांप्रतिक आविर्भाव की भूमिका**

आगम का लक्षण, आगम प्रामाण्य: वैदिक दृष्टि सांप्रतिक आगमों का उपदेष्टा। १

◆ **अध्याय २– आगमों का वर्गीकरण**

आगमों की संख्या वृद्धि का कारण, आगमों के वर्गीकरण का रूप, अंग-अंग बाह्य आदि शब्दों का आशय, आगमों का वर्गीकरण, दिगम्बर परम्परा में वर्गीकरण का रूप, आगमों की सांप्रतिक संख्या, स्थानकवासी परम्परा मान्य आगम। ५

◆ **अध्याय ३– आगमों का रचनाकाल**

आगम सुरक्षा में बाधाएँ, पाटलीपुत्र की वाचना, माथुरी वाचना, वल्लभी वाचना (प्रथम), वल्लभी वाचना (द्वितीय), दिगम्बर परम्परा में शास्त्र लेखन। १७

◆ **अध्याय ४– अंग आगमों का बाह्य परिचय**

नाम निर्देश, आचारादि अंगों के नामों का अर्थ, अंगों की भाषा शैली, अंगों का क्रम, अंगों का पद परिमाण, श्वेताम्बर परम्परा, दिगम्बर परम्परा, दिगम्बर परम्परा में अंग आगम। २५

◆ **अध्याय ५– अंग आगमों का आन्तर परिचय**

आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग-समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृतदशा, अनुत्तरोपपातिक दशा, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र, दृष्टिवाद। ३९

◆ **अध्याय ६– उपलब्ध अंग आगमों का परिचय**

आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग-समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञाताधर्मकथा, उपासकदशांग, अन्तकृतदशा, अनुत्तरोपपातिक दशा, प्रश्नव्याकरण, विपाक सूत्र। ४४

◆ **अध्याय ७– अंगबाह्य आगमों का परिचय**

कालिक, उत्कालिक, दिगम्बर परम्परा मान्य अंगबाह्य, सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, वैनयिक, कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन,

कल्प्य-व्यवहार, कल्प्याकल्प, महाकल्प्य, पुंडरीक, महापुंडरीक, निषिद्धिका, उपांगविभागगत आगम, औपपातिक, राजप्रश्नीय, जीवाभिगमसूत्र, प्रज्ञापना, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, निरयावलिका आदि। दशाश्रुत स्कंध, व्यवहार सूत्र, वृहतकल्पसूत्र, निशीथसूत्र, मूलसूत्रों का परिचय, उत्तराध्ययन, दशवैकालिकसूत्र, आवश्यकसूत्र, चूलिकासूत्र, नंदीसूत्र, अनुयोगद्वारसूत्र, महानिशीथ, जीतकल्प, पिण्डनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति, चतुःशरण, आतुरप्रत्याख्यान, महाप्रत्याख्यान, भक्तपरिज्ञा, तंदुलवैचारिक, संस्तारक, गच्छाचार, गणि विद्या, देवेन्द्र स्तव, मरणसमाधि। ७६

◆ **अध्याय ८– आगमिक व्याख्या साहित्य**

व्याख्या के प्रकार, व्याख्या के प्रकारों का अभिधेय, व्याख्या के प्रकारों में संकलित आगमों के नाम, कतिपय प्रमुख व्याख्याकार, भाष्यकार, चूर्णिकार, टीकाकार, लोकभाषा टीकाकार, व्याख्या ग्रंथों का परिचय, आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञप्ति, ज्ञाता-धर्म कथा, उपासकदशांग, अन्तकृतदशा, प्रश्नव्याकरण, विपाकसूत्र, औपपातिकसूत्र, राजप्रश्नीय, जीवाभिगमसूत्र, प्रज्ञापनासूत्र, सूर्यप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, निरयावलिका, कल्पावतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूला और वृष्णिदशा, व्यवहारसूत्र, बृहत्कल्प, दशाश्रुतस्कंध, निशीथसूत्र, दशवैकालिकसूत्र, आवश्यकसूत्र, नन्दीसूत्र, अनुयोगद्वारसूत्र, अवशिष्ट आगमों के व्याख्या ग्रंथ (पिंडनिर्युक्ति, महानिशीथ, जीतकल्प, चतुःशरण आतुर प्रत्याख्यान, भक्तपरिज्ञा, संस्तारक, गच्छाचार, तंदुलवैचारिक, चन्द्रवेध्यक, देवेन्द्रस्तव, गणिविद्या, महाप्रत्याख्यान, वीर स्तव)। ११६

◆ **अध्याय ९– आगम साहित्य में समाज व्यवस्था**

वर्ण और जाति, ब्राह्मणों के सम्बंध में जैन मान्यता का दृष्टिकोण, ब्राह्मण आदि चार वर्णों के कार्य, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, श्रेणी संगठन, पारिवारिक जीवन, संतान के प्रति ममता, लौकिक देवी देवता, जादू टोना और अंधविश्वास, आमोद-प्रमोद और मनोरंजन के साधन, जीवनोपयोगी साधन, जीवन यापन स्तर, मरण संस्कार, आयुर्वेद। १६४

◆ **अध्याय १०– आगम साहित्य में शासन व्यवस्था के उल्लेख**

राजा और राजपद, राजा की दिनचर्या का प्रारम्भ, राजा का उत्तराधिकारी, राजा का अंतःपुर, राजा के प्रधान पुरुष, सैन्य व्यवस्था, राज्य की आय के स्रोत, शासन की इकाई गाँव, राजा का एकछत्र राज, अपराध और दण्ड, न्याय-व्यवस्था। १८५

♦ अध्याय ११– आगमों में अर्थोपार्जन व्यवस्था का उल्लेख

कृषि उपज, अन्न की सुरक्षा के उपाय, पशुपालन, वनोपज, खनिज पदार्थ, कताई-बुनाई, आभूषण निर्माण, लोह मिट्टी आदि के उपकरणों का निर्माण, सुगंध, इत्र, धूप आदि के व्यापारी, अन्य कारीगरी, अन्य पेशेवर लोग, भृत्य दास आदि, कतिपय प्रमुख व्यापार केंद्र, यातायात के साधन माप-तौल, उधार लेना देना व्यापारिक संगठन। २००

♦ अध्याय १२– आगम साहित्य में धार्मिक व्यवस्था का रूप

धर्म की बहुलक्षी व्याख्या, आगमगत, निर्ग्रंथ साधना के सिद्धांत, व्रत नियम पालन की दुष्करता, निर्ग्रंथ श्रमण का वेश, निर्ग्रंथ श्रमणचर्या का रूप, निर्ग्रंथ श्रमणों का संकटमय जीवन, जनसामान्य के श्रद्धा केन्द्र, प्रव्रज्या के लिए अभिभावकों की अनुज्ञा आवश्यक, निष्क्रमण समारोह, दीक्षा का निषेध, दीक्षा के प्रकार, निर्ग्रंथों के प्रकार, अन्य श्रमण परम्पराएँ, शाक्य श्रमण, परिव्राजक श्रमण, आजीवक श्रमण, अन्य श्रमण व्रती साधु, अन्य मतमतांतर। २२१

जैन आगम साहित्य
एक अनुशीलन

अध्याय-१

आगम : सांप्रतिक अविर्भाव की भूमिका

सभी धर्म परम्पराओं में अपने-अपने धर्मग्रंथों का महत्व है । इस दृष्टि से यदि हम भारतीय धर्मग्रंथों का मूल्यांकन करें तो वैदिक धर्म में जैसा 'वेद' का और बौद्ध धर्म में जैसा 'त्रिपिटक' का महत्व है, वैसा ही महत्व जैन धर्म में आगमों का है ।

♣ आगम का लक्षण

आप्त के उपदेश के कथन को आगम कहते हैं ।[१] अर्थात् पूर्वापर विरुद्धादि दोषों के समूह से रहित एवं सम्पूर्ण पदार्थों के द्योतक आप्त वचन आगम है और आप्त उसे कहते हैं, जिसने राग, द्वेष, मोहादि दोषों का निःशेष रूपेण क्षय होने से सर्वज्ञ, वीतराग और सर्वदर्शी अवस्था प्राप्त कर ली है ।[२] अतः सर्वज्ञ, जिन, वीतराग होने से आप्त का वचन प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के विरोध से रहित, वस्तु स्वरूप का दर्शक तथा सभी जीवों का हित करने वाला होता है । उसके द्वारा समस्त अनन्त धर्मों से विशिष्ट जीव आदि पदार्थ जाने जाते हैं । इसीलिए जैन धर्म में मुख्य रूप से जिनों के उपदेश, कथन एवं वाणी की संकलना जिन ग्रंथों में हुई है, उन्हें और उनसे अनुप्राणित अन्य शास्त्रों को 'आगम' कहकर प्रमाण माना गया है ।

♣ आगमन प्रामाण्य : वैदिक दृष्टि

आगम प्रमाण के संबंध में जैन दृष्टिकोण का तो ऊपर संकेत किया गया है, लेकिन वेदों के प्रामाण्य के बारे में मीमांसकों को का मत है कि उन्हें किसी ने बनाया नहीं है । वे सनातन हैं । अनादिकाल से इसी प्रकार चले आ रहे हैं । उनकी सत्यता किसी व्यक्ति विशेष के गुणों पर आधारित नहीं है । अमुक व्यक्ति ने वेद बनाए और वह व्यक्ति वीतराग है, पूर्ण है, सर्वज्ञ है और अनन्त ज्ञानी है, इसलिए वेद प्रमाणभूत है, ऐसा नहीं मानना चाहिए और अमुक काल में उनकी रचना हुई है, यह बात भी नहीं है । वेद तो अनादि एवं अपौरुषेय हैं और यही अनादित्व और अपौरुषेयत्व उनके प्रामाण्य के कारण हैं ।

---

१ [क] आप्तव्याहतिरागमः - वसुनंदी श्रावकाचार
[ख] आप्तोपदेशः शब्द - न्याय सूत्र १/१०७

२. आप्तिर्हि राग द्वेष मोहाना मैकान्तिक आत्यंतिकश्च क्षयः सा येषामस्ति ते खल्वाप्ताः ।
- स्याद्वाद मंजरी

मनुष्य पुराण प्रिय है। प्राचीनता के प्रति उसे गौरव होता है। इसीलिए प्राचीनकाल में शास्त्र प्रामाण्य के लिए अपौरुषेयत्व एवं अलौकिकता आवश्यक मानी गई हो और जो शास्त्र नया हो तथा किसी पुरुष विशेष ने बनाया हो, उसकी प्रतिष्ठा अलौकिक एवं अपौरुषेय शास्त्र की अपेक्षा कम आँकी जाती हो। इसी कारण संभवतः वेदों को अलौकिक एवं अपौरुषेय मानने की परंपरा शुरू हुई हो। जैनों के सामने भी यही आक्षेप हुआ होगा कि तुम्हारे आगम तो नए हैं, उनका कोई प्राचीन आधार नहीं है, अतः उनको प्रमाण नहीं माना जा सकता।

इस भ्रांत धारणा का निराकरण करने के लिए जैनों ने उत्तर दिया कि यदि प्रामाण्य की कसौटी अपौरुषेयत्व और अनादित्व ही हो तो द्वादशांगभूत आगम गणिपिटक कभी नहीं था, यह भी नहीं, कभी नहीं है, यह भी नहीं और कभी नहीं होगा, यह भी नहीं। वह तो था और रहेगा। वह ध्रुव है, नियत है, शाश्वत है, अक्षय है, अव्यय है, अवस्थित है और नित्य है।[1] इसके पीछे तर्क था, युक्ति थी, जिसका उल्लेख इस प्रकार है—

संसार में प्रज्ञापनीय भाव अनादि अनन्त है, किन्तु सत्य एक है और तथ्य भी एक है। लेकिन विभिन्न देशकाल पुरुष की अपेक्षा से उस सत्य का आविर्भाव नाना प्रकार से होता है। अतः जब कभी कोई भी सम्यग्ज्ञाता उसकी प्ररूपणा करेगा, तो काल भेद होने पर भी उस प्ररूपणा में भेद नहीं हो सकता। क्योंकि इन आविर्भावों में एक ही सनातन सत्य अनुस्यूत रहता है। इसी बात को स्पष्ट करने के लिए आचारांग सूत्र में कहा कि जो अरिहंत हो गए हैं, जो अभी वर्तमान हैं और जो भविष्य में होंगे, उन सबका एक ही उपदेश है कि किसी भी प्राण, जीव, भूत और सत्व की हत्या मत करो, उन पर अपना स्वामित्व मत जमाओ, उनको परतंत्र मत बनाओ और उन्हें मत सताओ। यही धर्म ध्रुव है, नित्य है, शाश्वत है और विवेकी पुरुषों द्वारा बताया गया है।[2] इसका फलितार्थ यह हुआ कि यदि सनातन सत्य की ओर दृष्टि देकर आविर्भाव के प्रकारों की उपेक्षा कर दी जाए तो जो भी राग, द्वेष विजेता जिन होगा, उसके उपदेश में अंतर, भेद को अवकाश नहीं है। ऐसा कोई काल नहीं, जब सनातन सत्य का अभाव हो जाए। अतएव इस दृष्टि से वेद के समान जैन आगमों को भी अनादि अनन्त एवं अपौरुषेय कहा जा सकता है।

इस स्थिति में प्रश्न होता है कि सांप्रत काल में सत्य का आविर्भाव किसने किया और कैसे किया? इस दृष्टिकोण से विचार किया जाए, तो जैन आगम सादि अपौरुषेय सिद्ध होते हैं—

---

१ नंदीसूत्र ५७, समवायांग सूत्र १४८

२. आचारांग ४/१२६

तप, नियम, ज्ञान रूप वृक्ष पर आरुढ़ होकर अनन्त ज्ञानी केवली भगवान भव्य जनों के प्रतिबोधार्थ ज्ञान कुसुम की वृष्टि करते हैं, जिन्हें गणधर अपने बुद्धि पट में झेलकर प्रवचन माला गूँथते हैं।[१]

पूर्वोक्त कथन का सारांश यह हुआ कि जैसे अमुक दृष्टि से वेद नित्य है, अविनाशी हैं, अनन्त है, अपौरुषेय है, वैसे ही जैनागम भी अमुक अपेक्षा से नित्य है, अनादि है, अनन्त है एवं अपौरुषेय है। लेकिन इसके साथ ही यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि शास्त्र वचन अथवा ज्ञान स्वतंत्र स्वयंभू नहीं है, किन्तु वक्ता की वचन रूप क्रिया के साथ संबद्ध है। लेखक या वक्ता यदि निःस्पृह है, करुणा पूर्ण है, सभी प्राणियों को आत्मवत् समझने वाला है और आध्यात्मिक क्लेशों से दूर है, तो तत्प्रणीत शास्त्र, वचन भी सार्वकालिक एवं सार्वभौमिक हितकर होता है, किन्तु उससे विपरीत लक्षण वाले व्यक्ति के वचन प्रमाण नहीं माने जा सकते। अतएव शास्त्र, वचन अथवा ज्ञान का प्रामाण्य तदाधारभूत पुरुष पर अवलंबित है। जो शास्त्र या वचन अनादि अपौरुषेय माने जाते हैं, उनके प्रामाण्य की कसौटी भी यही है।

♣ सांप्रतिक आगमों का उपदेष्टा

इस प्रकार आगमों के पौरुषेयत्व-अपौरुषेयत्व, सादित्व, अनादित्व का समन्वय होने के साथ प्रामाण्य अप्रामाण्य की गुत्थी सहज में सुलझ जाती है। लेकिन इसी प्रसंग में एक दूसरा प्रश्न होता है कि पौरुषेय होने पर भी जब आगम प्रमाण भूत है, तो वर्तमान में उपलब्ध आगमों के उपदेष्टा कौन हैं? संक्षेप में इसका उत्तर है कि भगवान महावीर इनके उपदेष्टा हैं। यद्यपि महावीर से पूर्व भगवान ऋषभदेव आदि भगवान पार्श्वनाथ पर्यन्त तेईस तीर्थंकर और हो चुके हैं। उनमें से कुछ पौराणिक, प्रागैतिहासिक हैं और कुछ ऐतिहासिक भी हैं, लेकिन जैन परंपरा की यह मान्यता है कि तीर्थंकर भले ही अनेक हो, किन्तु तत्काल में जो भी अंतिम तीर्थंकर होता है, उसी का उपदेश और शासन आचार विचार के लिए समाज को मान्य होता है। इस दृष्टि से भगवान महावीर के अंतिम तीर्थंकर होने से उन्हीं का उपदेश अंतिम उपदेश है और वहीं प्रमाणभूत हैं। शेष तीर्थंकरों का उपदेश उपलब्ध भी नहीं है और यदि वह हो भी तब भी वह भगवान महावीर के उपदेश में गर्भित हो गया है, ऐसा मानना चाहिए। क्योंकि भगवान महावीर ने यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि उनके उपदेश का

---

१. तव नियम णाण रुक्खं आरुढ़ो केवली अमियनाणी
तो मुयइ नाण वुट्ठिं भविय जण विबोहणट्ठाए॥
तं बुद्धिमएण पडेण गणहरा गिण्हिउं निरवसेसं
तित्थयर भासियाइं गंथंति तओ पवयणट्ठा।- आवश्यक निर्युक्ति ८९, ९०

संवाद भगवान पार्श्वनाथ के उपदेश से है तथा यह भी शास्त्रों में कहा गया है कि पार्श्वनाथ और महावीर के आध्यात्मिक संदेश में मूलतः कोई भेद नहीं है, कुछ बाह्याचार में भले ही भेद दिखता हो।[1]

पूर्व में यह भी संकेत है कि तीर्थंकरों की देशना गणधर सूत्रबद्ध करते हैं। अतः प्रस्तुत में भी यही समझ लेना चाहिए कि भगवान महावीर ने जो उपदेश दिया है, उसे गणधर भगवन्तों ने सूत्रबद्ध किया है। इसीलिए अर्थोपदेशक या अर्थ रूप शास्त्र के कर्ता तो भगवान महावीर और शब्द रूप शास्त्र के कर्ता गणधर भगवंत हैं।[2]

यद्यपि आज जैन परंपरा में शास्त्र के लिए आगम या सूत्र शब्द विशेष रूप से प्रचलित हैं, लेकिन प्राचीन काल में आगम के बजाय श्रुत या सम्यक् श्रुत प्रचलित थे।[3] इसी से आगम केवली या सूत्र केवली के बजाय श्रुत केवली शब्द का प्रयोग देखने में आता है। स्थविरों की गणना में भी श्रुतस्थविर को स्थान मिला है।[4] यह भी श्रुत शब्द की प्राचीनता को सिद्ध करता है। लेकिन इसका आशय यह नहीं है कि आगम शब्द प्रयुक्त ही नहीं होता था। उस समय भी वार्तमानिक परंपरा की तरह आगम शब्द प्रचलित था। जैसे—सुत्तागम, अत्थागम, अत्तागम, अणंतरागम आदि।[5] आचार्य उमा स्वाति की दृष्टि में सिर्फ श्रुत या आगम ही नहीं, किन्तु श्रुत, आप्तवचन, आगम, उपदेश, ऐतिह्य आम्नाय, प्रवचन और जिनवचन ये सभी आगम बोधक पर्यायवाची अपर नाम हैं।[6]

इस प्रकार आगमों के सांप्रतिक आविर्भाव भूमिका का संकेत करने के अनन्तर अब आगे आगमों के वर्गीकरण व उसके कारण पर विचार करते हैं।

¤

1.Doctrine of the Jainas, Page 29

२. अत्थ भासइ अरहा सुत्तं गथंति गणहरा निउणा।
सासणस्स हियट्ठाए तओ सुत्तं पवत्तइ॥
– आवश्यक निर्युक्ति १/९२, धवला भाग १ पृष्ठ ६४, ७२

३. नंदी ४१

४. स्थानांग सूत्र १५९

५. अनुयोग द्वार सूत्र १४४

६. तत्वार्थ भाष्य १/२०

अध्याय २

आगमों का वर्गीकरण

पूर्व में दो बातें स्पष्ट की गई हैं कि तीर्थंकर की वीतरागता एवं सर्वार्थ साक्षात्कारिता के कारण आगम प्रमाण है एवं अर्थ रूप आगम के कर्ता तीर्थंकर एवं शब्द रूप के कर्ता गणधर हैं। समवायांग आदि आगमों से यह मालूम होता है कि भगवान महावीर ने जो उपदेश दिया, उसकी संकलना, गणधरों द्वारा द्वादशांगों—आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्या प्रज्ञप्ति (भगवती), ज्ञाता धर्म कथा, उपासक दशा, अन्तकृत, दशा, अनुत्तरोववाइ, प्रश्न व्याकरण, विपाक सूत्र और दृष्टिवाद में हुई और वे गणि पिटक इसलिए हैं कि गणि के लिए श्रुत के भण्डार हैं।[१]

इस प्रकार साक्षात् तीर्थंकर के उपदेश का संकलन तो एक निश्चित संख्या के ग्रंथों से हुआ, लेकिन जैन परंपरा के अनुसार केवल द्वादशांगी ही आगमान्तर्गत नहीं है। उनके अतिरिक्त अन्य शास्त्र भी आगम रूप में मान्य है, जो गणधरों द्वारा संकलित नहीं है। गणधर तो केवल द्वादशांगी की रचना करते हैं। अतः समय प्रवाह के साथ आगमों की संख्या बढ़ती गई।

♣ आगमों की संख्या वृद्धि का कारण

जैन अनुश्रूति के अनुसार तीर्थंकर के समान अन्य प्रत्येक बुद्ध कथित आगम भी प्रमाण है, क्योंकि वे जो भी उपदेश देते हैं, उसमें और तीर्थंकर के उपदेश में कोई अन्तर नहीं होता। अतः प्रत्येक बुद्ध महापुरुषों ने जो भी उपदेश दिया, उसे भी आगम में समाविष्ट कर लेना स्वाभाविक था। इसी प्रकार गणिपिटक के आधार पर मन्दबुद्धि शिष्यों को समझाने के लिए श्रुतकेवली आचार्यों द्वारा रचित ग्रंथ आगमों के साथ अविरोधी तथा आत्मार्थ की ही पुष्टि करने वाले होते हैं, अतः उन्हें भी आगम मान लिया गया। क्योंकि सम्पूर्ण श्रुतज्ञानी-श्रुतकेवली (चतुर्दश पूर्वी) गणधर प्रणीत सम्पूर्ण द्वादशांगी रूप जिनागम के सूत्र और अर्थ के विषय में निष्णात होते हैं। अतएव उनकी योग्यता एवं क्षमता की उपेक्षा नहीं हो सकती। वे जो कुछ कहेंगे या लिखेंगे, उसका जिनागम के साथ कुछ भी विरोध नहीं हो सकता। जिनोक्त विषयों का संक्षेप या विस्तार करके तत्कालीन समाज के अनुकूल ग्रंथ रचना करना ही उनका

---

१ दुवालसारे गणिपिडगे। – समवायांग १ और १३६

– नंदीसूत्र ४१ आदि।

एकमात्र प्रयोजन होता है। अतः संघ ने उनके ग्रंथों को भी आगम के अंतर्गत मान लिया।

इसके बाद कालक्रम से वीर निर्वाण के १७० और मतान्तर से १६२ वर्षों बाद जब श्रुतकेवली का अभाव हो गया और केवल दस पूर्व ज्ञाता आचार्य ही रह गए, तब उनकी विशेष योग्यता को ध्यान में रखकर जैन संघ ने दस पूर्वधर ग्रंथित ग्रंथों को भी आगमन में समाविष्ट कर लिया। इसके लिए भी कारण यही था कि उनके द्वारा ग्रंथित ग्रंथ आगमों के आशय की पुष्टि करने वाले हैं और उनका आगमों से विरोध इसलिए नहीं हो सकता क्योंकि वे निश्चित रूप से सम्यग्दृष्टि होते हैं। इसकी सूचना निम्नलिखित गाथा से भी मिलती है–

सुत्तं गणहर कथिदं, तहेव पत्तेयबुद्ध कथिदं च।
सुद केवलिणा कथिदं, अभिण्ण दस पुव्व कथिदंच[१] ॥

उक्त कथन से यह संकेत मिलता है कि आगम कोटि में किसी भी ग्रंथ को ग्रहण करने का मानदण्ड क्या है? अतएव जब दस पूर्वधरों की परंपरा विच्छिन्न हो गई और उनके द्वारा रचित ग्रंथों तक को आगम मानकर संख्या सीमित कर ली जाती, तब भी एक बात थी। लेकिन उस काल के बाद भी कुछ ऐसे प्रकीर्णक ग्रंथ हैं जो आगमों की तरह मान्य हैं। उसका कारण यही था कि तत्कालीन प्रभावक आचार्यों द्वारा रचित ये ग्रंथ भी वैराग्य भाव में वृद्धि कराने में विशेष उपयोगी, सक्षम और समर्थ होने के साथ-साथ निर्दोष भी थे।

इस प्रकार समय प्रवाह से जब जैनागम की संख्या बढ़ने लगी, तब उनका वर्गीकरण करना आवश्यक हो गया। भगवान महावीर के मौलिक उपदेशों का संग्रह गणधर कृत द्वादशांगों में था ही। उसमें तो किसी प्रकार का परिवर्तन, परिवर्धन या संशोधन किया जाना न तो शक्य था और न ही वैसा करना किसी को अभीष्ट था। अतएव सोचा गया कि भगवान महावीर का संकलित उपदेश स्वयं अपने मूल रूप में एक वर्ग बना रहे और उससे अन्य का पार्थक्य भी सिद्ध हो जाए, जिससे सामान्य से सामान्य जन यह जान ले कि साक्षात् आगम कौन-सा है एवं पश्चाद्वर्ती आगमन कौन-सा है।

---

१. मूलाचार ५/८०। यही गाथा जयधवला में उद्धृत है। पृष्ठ १५३। इसी भाव को व्यक्त करने वाली गाथा संस्कृत में द्रोणाचार्य ने ओघ निर्युक्ति की टीका में उद्धृत की है। पृष्ठ ३।

♣ आगमों के वर्गीकरण का रूप

वैसे तो जैन परम्परा में समस्त श्रुत ज्ञान के मुख्य रूप से द्रव्य श्रुत और भाव श्रुत ये दो भेद करके उनका भाषा, ध्वनि, लिपि सम्यक्, मिथ्या, शैली, वक्ता, मुख्य गौण आदि की अपेक्षाओं से विशद विचार किया है, लेकिन प्रस्तुत में मूल उपदेष्टा के आशय की अधिक निकटता, मुख्यता को ध्यान में रखकर आगमों का जिन दो भेदों में वर्गीकरण किया गया है, उनके नाम हैं—अंग और अंगबाह्य।[१]

अंग बाह्य ग्रंथों के लिए प्रकीर्णक, संज्ञा भी प्रचलित थी, ऐसा नंदी सूत्र से प्रतीत होता है।[२] निरायवली सूत्र के प्रारम्भिक उल्लेख से प्रतीत होता है कि अंग शब्द को ध्यान में रख कर अंग बाह्य ग्रंथों की संज्ञा उपांग भी थी और उससे यह भी ज्ञात होता है कि किसी एक समय निरायावली आदि पाँच ही उपांग माने जाते थे। समवायांग, नंदी, अनुयोग और पाक्षिक सूत्र के समय तक समग्र आगम के मुख्य दो ही विभाग थे - अंग और अंग बाह्य। आचार्य उमास्वाति के तत्वार्थ सूत्र भाष्य से भी यह फलित होता है कि उनके समय तक भी अंग प्रविष्ट और अंग बाह्य ऐसे ही विभाग प्रचलित थे।[३]

♣ अंग-अंगबाह्य आदि शब्दों का आशय

सामान्य दृष्टि से अंग और अंग बाह्य आदि शब्दों का प्रयोग प्रधानता-अप्रधानता, मुख्यता, गौणता में रखकर किया गया है कि आचार आदि बारह अंग जैन श्रुत में प्रधान हैं, विशेष प्रतिष्ठित हैं। विशेष प्रामाण्य युक्त हैं एवं मूल उपदेष्टा के आशय के अधिक निकट हैं, जबकि अंग बाह्य सूत्र अंगों की अपेक्षा गौण हैं तथा मूल उपदेष्टा के आशय के कम निकट हैं। श्री जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण ने इन दोनों का पार्थक्य प्रदर्शित करने के लिए कहा है-

अंगश्रुत का सीधा सम्बन्ध गणधरों से हैं, जबकि अनंग अंग बाह्य श्रुत का सम्बन्ध स्थविरों से है। अथवा गणधरों के पूछने पर तीर्थंकर परमात्मा ने जो उपदेश दिया बताया, वह अंगश्रुत है एवं बिना पूछे जो अपने आप बताया, वह अंग बाह्य श्रुत है। अथवा जो श्रुत सदा एक रूप रहता है, वह अंगश्रुत है एवं परिवर्तित अर्थात् न्यूनाधिक होता रहता है वह अंग बाह्य श्रुत हैं।[४]

---

१. अनुयोग द्वार सूत्र ३/ नंदी सूत्र ४४ में भी ऐसे ही दो भेद हैं। वहाँ अंगबाह्य के लिए अणंगपविट्ठ शब्द भी प्रयुक्त है। (सूत्र ४४ का अन्त)

२. २_ से तं. अणंग परिंटु। नंदी सूत्र ४४

३. तत्वार्थ भाष्य १/२०

४. गणहर थेर कयं वा आएसा मुक्क वागरणओ वा।
धुंव चल विसेसओ वा अंगाणंगेसु नाणंत ॥ विशेषावश्यक भाष्य ५५०

आचार्य जिनभद्र के उक्त कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि जिस समय संघ में शास्त्रों की मुख्यता गौणता का प्रश्न उठा होगा कि किस शास्त्र विशेष को महत्व दिया जाए व किसे कम महत्व दिया जाए, तब उसके समाधान के लिए उन्होंने उपर्युक्त तीन विशेषताएं बतला कर समस्त शास्त्रों एवं उनके मानने वालों की प्रतिष्ठा सुरक्षित रख कर समन्वय कर दिया होगा।

वर्तमान में अंग बाह्य के लिए जो उपांग शब्द प्रचलित हैं वह अति प्राचीन नहीं हैं तो भी चूर्णियों एवं तत्वार्थ भाष्य जितना प्राचीन तो है ही । वर्तमान में जो अमुक अंग का अमुक उपांग है, यह भेद भी प्राचीन प्रतीत नहीं होता, क्योंकि अंगोपांग रूप भेद प्राचीन होता तो नन्दीसूत्र में इसका उल्लेख अवश्य मिलता। इससे स्पष्ट है कि नन्दी सूत्र के समय में अंग और उपांग रूप भेद करने की नहीं, किन्तु अंग-अनंग अथवा अंग प्रविष्ट - अंग बाह्य रूप भेद करने की प्रथा रही है।

दूसरी बात यह कै कि उपांगों के क्रम के विषय में विचार करने पर मालूम होता है कि यह क्रम अंगों के क्रम से सम्बद्ध नहीं है. उपांग का मतलब होता है कि जो विषय अंग में है, उसी से सम्बन्धित विषय का वर्णन किया जाए। अथवा जो विषय अंगों में यथास्थान स्पष्ट न किया जा सका हो, उसे उपांग में स्पष्ट करना। ऐसा होने पर अंग और उपांग का पारस्परिक सम्बन्ध बैठ सकता है। लेकिन वर्तमान में माने गए उपांगों से यह बात स्पष्ट नहीं होती। जैसे ज्ञाताधर्मकथा का उपांग जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति और उपासक दशा का उपांग चन्द्र प्रज्ञप्ति कहा जाता है, लेकिन इनके विषयों में कोई समानता या सामंजस्य नहीं है। यही बात अन्य अंगों-पांगों के विषय मे समझनी चाहिए। इस प्रकार बारह अंगों की उनके उपांगों के साथ कोई एकरूपता नहीं दीखती। सिर्फ लोकरुढ़ि से अंग उपांग का सम्बन्ध बैठाया गया हो, ऐसा प्रतीत होता है।

उपांग और अंग बाह्य ये दोनों शब्द यद्यपि अंग व्यतिरिक्त आगमों के लिए प्रयुक्त हुए हैं, लेकिन इनके अर्थ में बड़ा अन्तर है। अंग बाह्य शब्द से तो ऐसा आभास होता है कि इन आगमों का अंगों के साथ सम्बन्ध नहीं है, जबकि उपांग शब्द का अंगों के साथ सीधा सम्बन्ध है। यह शब्द किसने प्रचलित किया, यह जानने का तो कोई साधन नहीं है, लेकिन प्रतीत होता है कि अंग बाह्यों की प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए अथवा अंगों के समकक्ष प्रामाण्य को स्थापित करने के लिए किसी गीतार्थ ने उन्हें उपांग नाम से संबंधित करना प्रारम्भ किया होगा।

इसी तरह अंग बाह्य और अनंग प्रविष्ट ये दो शब्द भी विचारणीय हैं। यद्यपि दोनों का सामान्य आशय यह लिया जाता है कि द्वादशांगों से भिन्न आगम, लेकिन

बाह्यअंग से यह आशय झलकता है कि जिनकी प्रामाणिकता लोकव्यवहार से रुढ़ हो, वे अंग बाह्य आगम हैं। जब कि अनंग प्रविष्ट शब्द इस आशय को स्पष्ट करता है कि गणधरों ने जिन सूत्रों की रचना की, वे तो अंगप्रविष्ट आगम हैं और प्रत्येक बुद्ध, श्रुतकेवली, दस पूर्वधर आदि ने जिन आगमों की रचना की, वे अंगों के तात्पर्य को ही व्यक्त करने वाले होने से अंग आगमों से व्यतिरिक्त शेष आगमों के लिए अंगों जितने प्रमाण भूत हैं। हमारी दृष्टि से उनके लिए अनंग प्रवृष्ट शब्द का प्रयोग किया जाना अधिक उपयुक्त है।

♣ आगमों का वर्गीकरण–

पूर्व में बताया गया है कि अंग प्रविष्ट आगमों के नाम व संख्या निश्चित है, लेकिन समय प्रवाह के साथ प्रत्येक बुद्ध, श्रुत केवली, दस पूर्वधर एवं प्रभावक आचार्यों के ग्रंथ भी आगम के रूप में प्रमाण भूत मान लिये गये। उनका सामान्य से अंगबाह्य आगम इस वर्ग में समावेश तो अवश्य कर लिया गया, किन्तु कौन कौन से ग्रंथ ग्रहण किये गये ? इसके लिए विभिन्न दृष्टिकोण देखने को मिलते हैं। जैसे कि नंदी सूत्र के अनुसार अंग बाह्य आगमों के भेद-प्रभेद और उनमें ग्रहण किये गये ग्रंथों के नाम इस प्रकार हैं–

अंग बाह्य श्रुत के मूल में दो भेद हैं– आवश्यक और आवश्यक व्यतिरिक्त।

आवश्यक श्रुत सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान के भेद से छह प्रकार का है। इसमें साध्वाचार के अवश्य कारणीय क्रिया कलापों का वर्णन है। गुणों के द्वारा आत्मा को वश में करना आवश्यकीय है। ऐसा वर्णन जिसमें हो, उसे आवश्यक श्रुत कहते हैं।

आवश्यक व्यतिरिक्त श्रुत दो प्रकार का है- कालिक और उत्कालिक। जिस श्रुत का रात्रि व दिन के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय किया जाता है, वह कालिक श्रुत है और जो निश्चित काल से भी भिन्न काल में पढ़ा जा सकता है, उसे उत्कालिक श्रुत कहते हैं।

उत्कालिक श्रुत के अनेक प्रकार हैं। जैसे– दशवैकालिक, कल्पाकल्प, चुल्कल्प श्रुत, महाकल्प श्रुत आदि। इसी प्रकार कालिक श्रुत के भी अनेक प्रकार हैं। जैसे– उत्तराध्ययन, दशाश्रुतस्कंध, कल्प, बृहत्कल्प आदि।[१]

---

१. विशेष जानकारी व नामों के लिए नंदीसूत्र पृष्ठ ४४ देखें।

♣ दिगंबर परंपरा में वर्गीकरण का रूप–

श्वेतांबर परंपरा की तरह दिगंबर परंपरा में भी श्रुत के अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य ये दो भेद माने गये हैं। इन भेदों के लिए भी श्वेतांबर परंपरा की तरह माना गया है कि साक्षात् तीर्थंकर का आचारांग आदि बारह प्रकार का ज्ञान अंग प्रविष्ट है और गणधर देव के शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा अल्पायु-बुद्धि- बल वाले प्राणियों के अनुग्रह के लिए अंगों के आधार से रचे गये संक्षिप्त ग्रंथ अंगबाह्य है। धवला से सिद्ध होता है कि आगम के अंगबाह्य और अंगप्रविष्ट ऐसे दो विभाग उस समय तक दिगंबर परंपरा में निर्धारित हो चुके थे।[१] अंग प्रविष्ट आगमों के नाम व संख्या श्वेतांबर परंपरा के समान है और अंगबाह्य आगमों के कालिक और उत्कालिक ये दो भेद किये गये हैं।[२] और फिर चौदह नाम बताये गये हैं – सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, वैनयिक कृतिकर्म, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, कल्प व्यवहार, कल्पाकल्प, महाकल्प, पुंडरीक, महापुंडरीक और निषिद्धिका।[३] किन्तु अंग ज्ञान की परंपरा वीर निर्वाण के ६८३ वर्ष तक चली और उसके बाद वह आंशिक रूप से चलकर अन्त में विच्छिन्न हो गयी, ऐसी दिगंबर परंपरा की मान्यता है।

जैन साहित्य का इतिहास – 'पूर्व पीठिका' के लेखक पंडित श्री कैलाशचंद्र जी शास्त्री ने अंगपरंपरा के विच्छेद के संबंध में निम्नलिखित दृष्टिकोण प्रस्तुत किये हैं–

'तदनुसार दिगंबर परंपरा में वीर निर्वाण के ६८३ वर्ष पर्यन्त अंगज्ञान की परंपरा प्रवर्तित रही है।'

..... क्योंकि महावीर निर्वाण के पश्चात् ६८३ वर्ष पर्यन्त ही दिगंबरों में अंगज्ञानियों की परंपरा चालू रही। उसके पश्चात् उस परंपरा का विच्छेद हो गया। यद्यपि परंपरा से होने वाले आचार्यों में अंगज्ञान उत्तरोत्तर घटता गया, तथापि आंशिक ज्ञान की परंपरा ६८३ वर्ष पर्यन्त अविच्छिन्न चलती रही। (पृष्ठ ५३४)।

..... इसी परिपाटी के अनुसार द्वादशांग श्रुत अविकल रूप से अंतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु को प्राप्त हुआ। दिगंबर मान्यता के अनुसार श्रुतकेवली भद्रबाहु का स्वर्गवास दक्षिण में हुआ और उनका उत्तराधिकार उनके शिष्य गोवर्धनाचार्य को प्राप्त हुआ। यद्यपि सकल श्रुतज्ञान विच्छेद तो श्रुतकेवली भद्रबाहु के साथ ही हो

---

१. धवला पुस्तक १ पृष्ठ ९६
२. तत्त्वार्थ राजवार्तिक १/२०
३. धवला पुस्तक १ पृष्ठ ९६,

गया, तथापि गौतम गणधर से जो परंपरा चालू हुई थी कि अंगश्रुत को प्रवाहित करने के लिए उसे उसके योग्य उत्तराधिकारी को सौंप दिया जाये, वह ६८३ वर्ष पर्यन्त चालू रही।' (पृष्ठ ५३८)।

अपने कथन के समर्थन में विद्वान लेखक ने अनेक युक्तियाँ दी हैं, लेकिन दूसरे उद्धरण में आगत 'आंशिक ज्ञान की परंपरा ....." एक ऐसा वाक्य है, जो सभी प्रदत्त युक्तियों की निःसारता को प्रकट कर देता है। क्योंकि एक तरफ तो यह कहा है कि वीर निर्वाण से ६८३ वर्ष पर्यन्त अंग ज्ञान की परंपरा प्रवर्तित रही और दूसरी तरफ यह उल्लेख करते हैं कि "उत्तरोत्तर घटता गया, तथापि आंशिक ज्ञान की परंपरा ६८३ वर्ष पर्यन्त अविच्छिन्न चलती रही"। दोनों कथनों पर गंभीरता से विचार करते हैं, तो यह स्पष्ट नहीं होता कि अंग ज्ञान की परंपरा ६८३ वर्ष तक जैसी की तैसी अविच्छिन्न, अविकल रूप में प्रवर्तित रही या आंशिक रूप में प्रवर्तित रही ? यदि गणधरों के बाद ही आंशिक रूप में अंगज्ञान की परंपरा विच्छिन्न होती हुई भद्रबाहु तक आयी हो, तो उन्हें भी पूर्ण श्रुत ज्ञानी मानना भी विचारणीय हो जाता है। यदि भद्रबाहु स्वामी ही पूर्ण श्रुतज्ञानी थे और उनके पार्श्ववर्तियों और पूर्ववर्तियों श्रमणों को ज्ञान नहीं था, तो यह कैसे माना जा सकता है कि परिपाटी के क्रम में किसी एक को ही पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता था, जब कि गुरु को सभी शिष्य समान होते थे और वे बिना किसी भेद भाव के अध्ययन कराते थे। उनमें से अनेक ऐसे हो सकते हैं कि ज्ञान का कुछ अंश ग्रहण कर के अथवा कुछ निष्णात हो कर शिष्य परंपरा को अध्ययन कराते हुए ज्ञान का विस्तार करते हों। इसलिए यह कहना अतिश्योक्ति ही माना जायेगा कि ६८३ वर्ष बाद श्रुत का पूर्णतया विच्छेद हो गया, याने समाप्त हो गया, किसी को ज्ञान रहा ही नहीं। पंडितजी की यह कल्पना बौद्धों के दीप निर्वाण की तरह ज्ञान निर्वाण को मानने से मिलती जुलती है। क्या पंडितजी का यही अभिप्राय है ?

यदि मान लिया जाये कि भद्रबाहु के साथ पूर्ण श्रुतज्ञान समाप्त हो गया, तो यह कैसे कहा जा सकता है कि आज जो दिगंबर परंपरा में प्रमाणभूत ग्रंथ है, वे तीर्थंकर की वाणी का प्रतिनिधित्व करते हैं। उनकी प्रमाणता का आधार क्या है ? श्वेतांबर परंपरा तो उन्हें अंगबाह्य आगमों के वर्ग में समाविष्ट कर सकती है, लेकिन स्वयं दिगंबर परंपरा को यह निर्णय करना है कि जब भद्रबाहु स्वामी तक ही श्रुत परंपरा चली, तो उनके मान्य ग्रंथों की रचना का आधार क्या है ? इसी सन्दर्भ में यह भी समझ लेना चाहिए कि–

भावस्स णत्थि णासो, णत्थि अभावस्स चेव उप्पादो। तब तीर्थंकर की वाणी ६८३ वर्ष तक ही रही और उसके बाद सर्वथा विनष्ट हो गयी, यह तो वदतो व्याघात दोषापत्ति का अवसर प्रदान करता है। अतएव हम अपने मान्य विद्वानों से यह अनुरोध करेंगे कि सांप्रदायिक व्यामोह से अतिक्रान्त हो कर असत्य का परिमार्जन करने के साथ सत्य तथ्यों को समझने का प्रयास करें और यह कहें कि अंगज्ञान की उत्तरोत्तर

घटती हुई परंपरा ६८३ वर्ष के बाद भी चलती रही, जिसे उत्तरवर्ती आचार्यों ने लिपिबद्ध किया।

अब एक प्रश्न और रह जाता है कि भद्रबाहु स्वामी के जीवित रहते हुए भी ग्यारह अंगों को संकलित करने की जल्दी क्यों की गयी? इसके उत्तर के लिए तत्कालीन स्थिति पर ध्यान देना होगा। एक तो यह कि द्वादशवर्षीय भयंकर दुर्भिक्ष के कारण श्रमण संघ विच्छिन्न हो गया था। कुछ श्रमण परिस्थिति को देख कर सुविधानुसार संकट को पार करने के लिए दक्षिण आदि की ओर चले गये थे और जो अवशिष्ट थे, वे भी दुर्भिक्ष के कारण काल कवलित हो गये और कुछ उसके सन्निकट थे।

इस स्थिति में यह विचार आना स्वाभाविक था कि जब श्रमण संघ तितर-बितर हो गया है, अनेक विद्वान श्रमण काल के गाल में समा चुके हैं और भविष्य में न जाने किस संकट पूर्ण स्थिति का सामना करना पड़ेगा। अत: श्रुति परंपरा से प्राप्त श्रुत को संकलित कर लिया जाये और इसके लिए जिसको जो-जो अंश ज्ञात था, उसे क्रमबद्ध व्यवस्थित बनाने का प्रयत्न किया गया। इस कार्य में सदाशयता अधिक है, न कि श्रुतकेवली की अवमानना या उपेक्षा की दृष्टि। अवमानना की कल्पना तो आग्रहशील व्यक्ति ही कर सकते हैं।

यदि विद्वान श्रमणों के द्वारा कृत आगमों के संकलन को 'मित्रस्य चक्षुषा' सभी साम्य है की दृष्टि से देखा जाये, तो इसका अभिनन्दन ही किया जाना चाहिये कि जब दुर्भिक्ष के कारण मगध में विद्यमान श्रमणवर्ग का जीवन संकट में था, कि जब किसको जीवन छोड़ देना पड़े और मगध के बाहर गये श्रमणों की क्या स्थिति है? ऐसी स्थिति में आगमों के संकलन की तैयारी करना जरूरी था और इसीलिए वह प्रयास किया भी गया। इसमें श्रुत केवली की उपेक्षा बताना और यह कहना कि इस प्रकार से संकलित किये गये अंगों को प्रमाण कैसे माना जा सकता है? अपने आप में उपकारक के प्रति द्वेष बुद्धि का परिचय देता है।

दूसरी बात यह है कि एक तरफ तो जब हम यह मानते हैं कि जीवन क्षणभंगुर है। क्या पता, कब किसकी जीवन लीला समाप्त हो जाये? उस स्थिति में इस संभावना को कैसे स्वीकार किया जा सकता है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी को दुर्भिक्ष के बाद भी निश्चित रूप से जीवित रहना ही चाहिये और यह निर्णय तो वही कर सकता है, जिसकी मौत के साथ मित्रता हो। संभवत: ६८३ वर्ष तक ही अविच्छिन्न श्रुत परंपरा के चलने का निर्णय देने वाले ही ऐसा कह सकते हैं। दूसरा कोई ऐसी अतिश्योक्ति पूर्ण बात कहने की योग्यता नहीं रखता और फिर भी कहता है, तो इसे दु:साहस ही मानना पड़ेगा। अत: श्वेतांबर परंपरा तो यही कहती है कि सामयिक परिस्थितियों के कारण अंगश्रुत जैसा का तैसा वर्तमान में उपलब्ध नहीं है, बहुत सा अंश विच्छिन्न भी हुआ है और अवशिष्ट अंश लिपिबद्ध हो कर पवित्र निधि के रूप में सुरक्षित है।

आगम के अनुसंधानकर्ता पौर्वात्य एवं पाश्चात्य विद्वान डॉ. जेकोबी आदि का भी यही मत है कि समय की दृष्टि से जैनागम का रचना काल जो भी माना जये, किन्तु उसमें जिन तथ्यों का संग्रह है, वे तथ्य ऐसे नहीं है, जो उसी काल के हों। ऐसे कई तथ्य उसमें संग्रहित हैं, जिनका संबंध प्राचीन पूर्व परंपरा से है।[१] अतएव विच्छिन्नता के बारे में निर्णय देने वाले विद्वानों को इस ओर भी देखना चाहिए।

इसी प्रकार से जैन साहित्य का इतिहास पूर्व पीठिका और दूसरी बातें भी विचारणीय है, लेकिन उपसंहार के रूप में हमारा यह मन्तव्य है कि 'जैन साहित्य का इतिहास पूर्व पीठिका' के लेखक या अन्य दिगंबर विद्वान सामान्य रूप से दिगंबर जैन साहित्य का इतिहास लिखें, तो जैन साहित्य कोष की वृद्धि में नया योग दे सकते हैं। जो होना था, सो हो चुका, फिर भी नयी सृजनात्मक प्रक्रिया की आशा तो की ही जा सकती है।

♣ आगमों की सांप्रतिक संख्या

वर्तमान में जैनों द्वारा जो ग्रंथ आगम माने गये हैं, उनका वर्गीकरण व उनकी संख्या इस प्रकार है—

जैन परंपरा में मुख्य तीन संप्रदाय हैं— १. श्वेताम्बर मूर्तिपूजक, २. स्थानक वासी और ३. दिगंबर। इन सब ने अंग और अंग बाह्य रूप में शास्त्रों के दो विभाग किये हैं और इस विषय में भी उनमें कोई विवाद नहीं है कि सकल श्रुत का मूल आधार गणधर ग्रंथित आचार आदि द्वादशांग है। बारह अंगों के नामों के संबंध में भी उनमें प्रायः एक मत है एवं वे यह भी मानते हैं कि अंतिम अंग दृष्टिवाद का लोप हुआ है।

अंगबाह्य अंगों की रचना स्थविरों द्वारा हुई, यह मान्यता भी तीनों संप्रदायों में एक जैसी है। लेकिन किन ग्रंथों को अंगबाह्य आगमों में ग्रहण करना या किन्हें न करना, यह विवादास्पद है। दिगंबरों में तो पूर्व काल में यह मान्यता प्रचलित थी कि बारह अंग और चौदह अंग बाह्य कुल छब्बीस आगम हैं। लेकिन वीर निर्वाण के पश्चात् श्रुत का क्रमशः ह्रास होते होते ६८३ वर्ष के बाद कोई अंगधर या पूर्वधर आचार्य नहीं रहे, जिससे आगम का विच्छेद हो गया।

वर्तमान में जो ग्रंथ प्राप्त है, वे सब अंग और पूर्व के आंशिक ज्ञाता आचार्यों द्वारा रचित है। अतएव दिगंबर संप्रदाय में आगमों की विद्यमानता, उनकी संख्या आदि के सिवाय अन्य कुछ विशेष विचार नहीं किया गया है। लेकिन श्वेतांबर संप्रदाय के मत से अंग और अंगबाह्य दोनों प्रकार के आगम अधिकांशतः सुरक्षित हैं। ग्यारह अंगों की विद्यमानता को श्वेतांबर परंपरा के दोनों संप्रदायों ने स्वीकार किया है, लेकिन अंगबाह्य आगमों की संख्या में भिन्नता है। कुछ आगम ऐसे हैं, जिन्हें

---

१. Doctrine of the Jainas, page - 15

श्वेताम्बर मूर्ति पूजकों ने ही माना है, किन्तु स्थानकवासी परंपरा ने नहीं माना है। उसका आगे स्पष्टीकरण किया जा रहा है।

जिन अंग बाह्य शास्त्रों को आगम माना गया है, उनकी संख्या अधिकतम चौतीस है। वे निम्न लिखित पाँच भागों में विभाजित हैं– १. उपांग, २. प्रकीर्णक, ३. छेदसूत्र, ४. मूलसूत्र और ५. चूलिका सूत्र। अंगों और उक्त पाँच वर्गों में वर्गीकृत अंगबाह्य आगमों के नाम क्रमशः इस प्रकार है–

ग्यारह अंग आगम– १. आचार, २. सूयगड़ (सूत्र- कृत), ३. ठाण (स्थान), ४. समवाय, ५. वियाह पण्णत्ति (व्याख्या प्रज्ञाप्ति), ६. नाया धम्म कहाओ (ज्ञाता धर्म कथा), ७. उवासगदसाओं (उपासक दशा), ८. अंतगडदसाओ (अन्तकृत दशा) ९. अनुतरोव वाइय दसाओ (अनुत्तरोपपातिक दशा), १०. पण्हावागरणाइं (प्रश्न व्याकरणानि) और ११. विवाग सुयं (विपाक श्रुतम्)। बारहवाँ अंग दिट्ठिवाय अर्थात् दृष्टिवाद विच्छिन्न हो गया है।

बारह उपांग– १. उववाइय (औपपातिकम्), २. रायपसेणइज्जं (राज प्रसेन जित्कं) अथवा राय पसेणियं (राजप्रश्नीयं), ३. जीवा जीवाभिगम, ४. पण्णवणा (प्रज्ञापना), ५. सूर पण्णत्ति (सूर्य प्रज्ञप्ति), ६. जंबूदीव पण्णत्ति (जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति), ७. चंद पण्णत्ति (चंद्र प्रज्ञप्ति), ८. निरयावलियाओ (निरयावलिक), ९. कप्पवडिंसियाओ (कल्पावतंसिका), १०. पुप्फियाओ (पुष्पिका), ११. पुप्फचुलाओ (पुष्प चूला) और १२. वण्हि दसाओ (वृष्णि दशा)।

दस प्रकीर्णक– १. चउसरण (चुतः शरण), २. आउर पच्चक्खाण (आतुर प्रत्याख्यान), ३. भत्त परिज्ञा (भक्त परिज्ञा), ४. संथार (संस्तार), ५. तंदुलवेयालिय (तन्दुल वैचारिक), ६. चंद वेज्झय (चन्द्र वैद्यक), ७. देविंदत्थय (देवेन्द्रस्तव), ८. गणिविज्जा (गणिविद्या), ९. महापच्चक्खाण (महाप्रत्याख्यान) और १० वीरत्थय (वीरस्तव)।

छह छेद सूत्र– १. आयरदसा (आचार-दशा), २. कप्प (कल्प), ३. ववाहर (व्यवहार), ४. निसीह (निशीथ), ५. महानिसीह (महानिशीथ), ६. जीय कप्प (जीतकल्प)। जीतकल्प के स्थान पर कोई कोई पंचकप्प (पंचकल्प) को मानते हैं।

दो चूलिका सूत्र– १. नंदी और २. अणु योग दारा (अनुयोग द्वाराणि)।

चार मूलसूत्र– १. उत्तरज्झयण (उत्तराध्ययन), २. दसवेयालिय (दशवैकालिक), ३. आवस्सय (आवश्यक) और ४. पिंडनिज्जुत्ति (पिंडनिर्युक्ति)।

अंग बाह्य आगमों की गणना में कोई कोई पिंड निर्युक्ति के स्थान में ओघनिर्युक्ति को ग्रहण करते हैं।

दस प्रकीर्णकों और छेद सूत्रों के नामों में भी भेद देखा जाता है।

स्थानांग सूत्र (२७७) में चन्द्र प्रज्ञप्ति, सूर्यप्रज्ञप्ति, जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति और द्वीप सागर इन चार प्रज्ञप्तियों को अंगबाह्य कहा गया है। इनमें से जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति के अतिरिक्त शेष तीन कालिक हैं।[१] आचार प्रकल्प (निशीथ),[२] आचार दशा, बंध दशा, द्विगृद्धि दशा, दीर्घ दशा और संक्षेपिता दशा का भी स्थानांग (७५५) में उल्लेख है, किन्तु वेद्यदशा आदि अनुपलब्ध है। टीकाकार के समय में भी यही स्थिति थी। अत: निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि ये कौन से ग्रंथ थे। समवायांग में उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययनों के नाम दिये हैं[३] तथा दशा, कल्प और व्यवहार इन तीन के उद्देशन काल की भी चर्चा है, किन्तु उनकी छेद संज्ञा नहीं दी गयी है। छेद संज्ञा कब प्रचलित हुई और प्रारंभ में उसमें कौन-कौन से ग्रंथ सम्मिलित थे, यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। आवश्यक निर्युक्ति में सर्व प्रथम छेद सूत्र का उल्लेख मिलता है। उससे प्राचीन उल्लेख अधुना अप्राप्य है। इससे अभी यह कहा जा सकता है कि आवश्यक निर्युक्ति के काल में छेद सूत्र का एक पृथक् वर्ग स्थापित हो चुका था।

कुवलयमाला[४] में भी श्रमणों के अध्ययन और चिन्तन योग्य ग्रंथों व विषयों के नाम गिनाये हैं, उनमें सर्वप्रथम आचार आदि अंगों का व तदनन्तर प्रज्ञापना, सूर्य प्रज्ञप्ति, चन्द्र प्रज्ञप्ति का उल्लेख है।

श्री चंद्र आचार्य ने सुख बोधा समाचारी (लेखन काल ई.स. १११२) की रचना की है। उसमें उन्होंने जो वर्णन किया है, उससे यह पता चलता है कि उनके काल तक अंग और उपांग तथा अमुक अंग और अमुक उपांग यह व्यवस्था बन चुकी थी। इसके अतिरिक्त यह भी फलित होता है कि उनके समय तक अंग, उपांग, प्रकीर्णक ये नाम तथा उपांगों में कौन-कौन से ग्रंथ समाविष्ट हैं, यह निश्चित हो चुका था।मूल संज्ञा किसी की भी नहीं मिलती, जो आगे चल कर आवश्यक आदि को मिली। जिनप्रभ आचार्य ने अपने 'सिद्धान्तागमस्तव' में आगमों का नाम पूर्वक स्तवन किया है, किन्तु वर्गीकरण नहीं किया है। आचार्य उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थ भाष्य में अंग के साथ उपांग शब्द का निर्देश किया है और अंगबाह्य ग्रंथ ही उन्हें उपांग शब्द से अभिप्रेत है। आचार्य उमास्वाति ने अंगबाह्य की जो सूची दी है, उसे भी जिनप्रभ आचार्य ने अपने विधिमार्ग प्रथा ग्रंथ में समाविष्ट किया है। विधि मार्ग प्रथा ग्रंथ में उन्होंने आगमों के स्वाध्याय की तपोविधि का वर्णन किया है।

---

१. स्थानांग १५२
२. स्थानांग ४३३, समवायांग २८
३. समवायांग, समवाय ३६
४. कुवलयमाला पृष्ठ ३४

उसमें क्रम से ५१ ग्रंथों का उल्लेख है और अन्त में जिस अंग का जो उपांग है, उसका उल्लेख किया है। साथ ही एक मतान्तर का भी उल्लेख किया है कि– अण्णे पुण चंद पण्णत्ति सूर पण्णत्ति च भगवई उवंग भणंति। तेम्मि मएण उवासगदसाईणं पंचण्ह-मंगाणं उवंग निरयावलिया सुयक्खंधो।

आचार्य जिनप्रभ के समय तक वर्तमान काल प्रसिद्ध वर्गीकरण स्थिर हो चुका था। इसकी सूचना 'वायणाविही' की उत्थानिका से मिलती है। इस सूची में 'मूल ग्रंथ' ऐसा उल्लेख तो अवश्य है, किन्तु पृथक रूप से 'आवश्यक' और 'दशवैकालिक' का उल्लेख नहीं है। इसकी सूचना इससे मिलती है।

इन सब विभिन्न दृष्टिकोणों द्वारा यह तो प्रतीत हो जाता है कि अमुक ग्रंथ अंग और अमुक उपांग है, लेकिन आज जो उपांगों का वर्गीकरण श्वेतांबर परंपरा में प्रचलित है, वह कब और किसने किया, यह जानने का निश्चित साधन उपलब्ध नहीं है।

♣ स्थानकवासी परंपरा मान्य आगम

ऊपर उन ग्रंथों के नामों का उल्लेख किया गया है, जिन्हें आगम कहा जाता है, लेकिन श्वेतांबर स्थानकवासी परंपरा में ग्यारह अंगों के अतिरिक्त अंगबाह्य आगमों में से बारह उपांग, चार छेदसूत्र, चार मूलसूत्र और एक आवश्यक इस प्रकार इक्कीस ग्रंथों को आगम के रूप में मान्य किया है। इसलिए इस परंपरा में ग्यारह अंग और इक्कीस अंगबाह्य ग्रंथ कुल बत्तीस आगम प्रमाण माने जाते हैं। स्थानकवासी परंपरा मान्य इक्कीस अंगबाह्य ग्रंथों के साथ-साथ और ग्रंथों को आगम मानने से श्वेतांबर मूर्तिपूजक परंपरा में पैंतालीस आगम माने गये हैं। उसका स्पष्टीकरण निम्न प्रकार है–

स्थानकवासी और मूर्तिपूजक परंपराओं में आगमों की संख्या भिन्नता के दो कारण हैं। पहला यह कि दस प्रकीर्णक ग्रंथ केवल श्वेतांबर मूर्तिपूजक परंपरा में माने गये हैं, स्थानकवासी में नहीं। तथा दूसरा यह कि छेद सूत्र के छह भेदों में से महानिशीथ और जीतकल्प तथा मूल सूत्र के चार भेदों में से पिंडनिर्युक्ति, इन तीन को स्थानकवासी परंपरा में प्रमाणभूत नहीं माना है या इन्हें लुप्त माना गया है। इस प्रकार तेरह ग्रंथों की अल्पाधिकता के कारण दोनों परंपराओं के आगमों की संख्या भिन्न-भिन्न है।

इसे प्रकार आगमों के वर्गीकरण की प्रणाली जो वीर निर्वाण के अनन्तर जिस रूप में प्रवाहित होती हुई सांप्रत काल में प्रचलित है, उसे यहाँ संक्षेप में प्रस्तुत किया है। अब आगे के प्रकरण में अंगप्रविष्ट एवं अंगबाह्य आगमों के रचना काल पर दृष्टिपात करेंगे। ¤

अध्याय ३

आगमों का रचनाकाल

पूर्वोक्त संकेतों से यह स्पष्ट है कि आगम शब्द का वाच्य कोई एक ग्रंथ विशेष नहीं, अपितु केवली, श्रुतकेवली, पूर्वधर आदि श्रमण महापुरुषों द्वारा रचित अनेक ग्रंथों को आगम के रूप में मान्य किया गया है। अतएव आगमों की रचना कब हुई? इसके लिए यद्यपि समय की कोई एक निश्चित रेखा निर्धारित नहीं की जा सकती, फिर भी ऐतिहासिक दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि भगवान महावीर ने विक्रम पूर्व ५०० में उपदेश देना प्रारंभ किया था। अत: सांप्रतिक उपलब्ध आगमों की उससे पहले रचना होना संभव नहीं है और वल्लभी में वि.सं. ५१० या मतान्तर से ५२३ में पुस्तक लेखन किया गया। अत: इसी काल मर्यादा को ध्यान में रखकर वार्तमानिक आगमों के रचनाकाल पर विचार किया जा सकता है कि प्रारंभ विक्रम पूर्व ५०० में भगवान महावीर की देशना है और अन्त वि.सं. ५१० या ५२३ है।

आगमों के रचनाकाल के बारे में ऊपर जो संकेत किया गया है, उसमें स्थूल रूप से दो बातें ध्यान आकर्षित करती हैं। वे ये कि उपलब्ध आगमों का आदि स्रोत कौन है और उन्हें लिपि बद्ध करने का अंतिम समय क्या है। ऐतिहासिक दृष्टि से वाङ्मय का काल निर्धारित करते समय इन दो बातों पर भी विचार किया जाता है।

जैन परंपरा को यह बात स्वीकार करने में कभी भी किसी प्रकार का दुराग्रह नहीं रहा है कि जैन तीर्थंकरों की परंपरा प्रागैतिहासिक होने पर भी उपलब्ध समग्र जैन साहित्य का आदि स्रोत जैनागम रूप अंग साहित्य वेद जितना प्राचीन नहीं है, फिर भी भगवान महावीर और तथागत बुद्ध के समकालीन होने से उसे बौद्ध पिटको के समकालीन तो माना ही जा सकता है।

लेकिन अनुसंधान कर्ताओं की दृष्टि से यह स्पष्ट हो जाता है कि आगमों में संकलित ऐसे कई तथ्य हैं, जिनका संबंध प्राचीन पूर्व परंपरा से है।

अब यह प्रश्न होता है कि भगवान महावीर के समय में ही गणधरों ने आगमों को लिपिबद्ध क्यों नहीं किया? क्या उन्हें अक्षर और लिपिज्ञान नहीं था? उत्तरवर्तीकाल में ही आचार्यों द्वारा आगम लिपिबद्ध क्यों किये गये? और वैसा करने का क्या कारण रहा? इस सब प्रश्नों के उत्तर में यह कहना पर्याप्त है कि आगमों को उसी समय (भगवान महावीर के देशना काल में) लिपिबद्ध न करने का कारण गणधरों आदि को अक्षर ज्ञान न होना नहीं था। उस युग में धारणा के अनुसार धर्मशास्त्रों के प्रति आदर और श्रद्धा व्यक्त करने के लिए कंठस्थ करने की पद्धति थी।

महान लिपि शास्त्री श्री गौरीशंकर हीराचंद ओझा का यह निश्चित मत है कि लेखन के साधन- ताड़पत्र, भोज-पत्र, कागज, स्याही, लेखनी आदि का परिचय हमारे पूर्वजों को अति प्राचीन काल से था एवं अक्षरज्ञान में वे पूर्ण निष्णात थे। बौद्धिक प्रगल्भता तथा पांडित्य से वे ओतप्रोत थे और धर्मशास्त्रों के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में वे लेखन का उपयोग करते थे। लेकिन धर्मशास्त्रों को अंकित करने की परंपरा उनके द्वारा नहीं अपनायी गयी, श्रद्धा और सम्मान की दृष्टि की अपेक्षा से।

जिज्ञासु धर्मशास्त्रों को आदर एवं विनय पूर्वक अपने-अपने गुरुओं- आचार्यों से मौखिक प्राप्त करते थे और इस प्रकार से प्राप्त होने वाले शास्त्रों को कंठस्थ करते एवं उन पाठों की बार-बार परावर्तना करते हुए स्मृति में रखते। इस तथ्य को प्रमाणित करने के लिए शास्त्रों के लिए वर्तमान में प्रयुक्त 'श्रुति, स्मृति एवं श्रुत' शब्द पर्याप्त हैं। धर्मवाणी में कहीं पर भी अनुपयोगी काना, मात्रा, अनुस्वार, विसर्ग आदि का प्रवेश न हो जाये अथवा आवश्यक का अपमार्जन न हो जाये, इसकी भी वे पूरी सावधानी रखते थे। वर्तमान में उपलब्ध वेदों और अवेस्ता गाथाओं के पाठ इस बात के साक्षी है कि वेदों और अवेस्ता के विशुद्ध उच्चारणों की सुरक्षा का वैदिक पुरोहितों और अवेस्ता के पंडितों ने कितना ध्यान रखा है। इसी कारण वे अपने मूल रूप को आज भी जैसा का तैसा सुरक्षित बनाये हुए हैं।

जैन परंपरा ने भी अपने आगमों को सुरक्षित रखने का वैसा ही प्रयत्न किया और आवश्यक विधि विधानों, क्रिया कांडों के सूत्रों की अक्षर संख्या, पदसंख्या, ह्रस्व-दीर्घ अक्षर व उच्चारण के गुण दोषों आदि का (जिनका स्पष्ट विधान है।) अनुसरण करके गुरु पूर्व श्रुत परंपरा से प्राप्त संचित श्रुत संपत्ति को विशुद्ध रीति से अपने शिष्यों को सौंपते और वे शिष्य भी पुनः अपनी शिष्य परंपरा को वह श्रुत संपत्ति प्रदान करते थे। यह सब होने पर भी यदि आगमिक परंपरा धारा प्रवाह रूप में प्राप्त नहीं है, तो इसका कारण व्यवस्था की न्यूनता है। उसका स्पष्टीकरण नीचे किया जा रहा है।

♣ आगम सुरक्षा में बाधाएँ

वेदों को श्रुत परंपरा के रूप में सुरक्षित रखना भारतीयों का अद्‌भुत कार्य है। आज भी वेदों का शुद्ध उच्चारण करने वाले वेदपाठी ब्राह्मण मिलेंगे, जो आदि से लेकर अन्त तक बिना पुस्तक के अपनी स्मृति से वेद पाठों का शुद्ध उच्चारण कर सकते हैं। भले ही वेद के अर्थ की परंपरा उन्हें अज्ञात हों, किन्तु पाठ की परंपरा तो अवश्य ही ज्ञात है। इसी प्रकार की प्रणाली जैन परंपरा में भी थी। कंठाग्र पूर्वक शास्त्रों को सुव्यवस्थित अविसंवादी रूप से स्मरण में रखने के लिए पुरोहितों की तरह

जैनों में एक विशिष्ट व आदरणीय वर्ग था, जो उपाध्याय के रूप में ससंमान जाना जाता था। संघ में इस वर्ग की विशेष प्रतिष्ठा थी और अब भी है। इस की प्रतीति महामंत्र नवकार में माने गये पंच परमेष्ठियों में उपाध्याय को एक परमेष्ठी के रूप में ग्रहण करने से हो जाती है। नवकार का चौथा पद है- णमो उवज्झायाणं। अर्थात् उपाध्याय भगवन्तों को नमस्कार हो।

धर्मशास्त्रों को सुव्यवस्थित रखने के लिए उत्तरदायी निश्चित वर्ग के रहने, श्रमण वर्ग को स्वाध्याय करने का निश्चय विधान होने एवं संघ द्वारा श्रुत को सुरक्षित रखने के प्रयत्न करने की व्यवस्था होने पर भी जैन परंपरा में आगमों के रूप में भगवान महावीर के जिन उपदेशों को गणधरों ने ग्रंथित किया था, उनका वही रूप आज हमारे पास नहीं है। क्या कारण है कि जैन श्रुत से भी प्राचीन वेद तो सुरक्षित रह सके[१] और जैन श्रुत संपूर्ण नहीं, तो अधिकांश नष्ट हो गया? कई संपूर्ण ग्रंथ विस्मृत हो चुके हैं एवं कई आगम ग्रंथों की अवस्था विकृत हो गयी? इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार है—

अन्याय कारणों का तो आगे उल्लेख किया ही जा रहा है, लेकिन इस कारण को भी दृष्टि में रखना पड़ेगा कि आगमों की भाषा में (प्राकृत होने के कारण) परिवर्तन होना स्वाभाविक है। इस कारण ब्राह्मणों की तरह जैनाचार्य और उपाध्याय चाहते हुए भी अंग ग्रंथों की अक्षरशः सुरक्षा नहीं कर सके। फिर भी यह तो स्वीकार किया जा सकता है कि अंगों का जो कुछ भी अंश आज उपलब्ध है, वह भगवान महावीर के उपदेश के अधिक निकट हैं। उसमें परिवर्तन और परिवर्द्धन हुआ है, किन्तु वह समूचा नया या मनगढ़ंत है, यह नहीं कहा जा सकता। इतिहास इस बात का साक्षी है कि जैन संघ ने संपूर्ण श्रुत को सुरक्षित बनाने के लिए पुनः पुनः प्रयत्न किये हैं। उनका संकेत आगे किया जा रहा है।

दूसरा कारण यह है कि वेदों की सुरक्षा में पिता-पुत्र और गुरु-शिष्य दोनों प्रकार की वंश परंपराओं ने अपना सहयोग दिया है। पिता ने अपने पुत्र को और गुरु ने अपने शिष्य को वेद सिखा कर वेदपाठ की अव्याहत परंपरा चालू रखी तथा एक वर्ण विशेष ब्राह्मण वर्ण को ही वेदपठन का अधिकार था, जिससे ब्राह्मणों को सुशिक्षित पुत्र या शिष्य प्राप्त होने में कोई कठिनाई नहीं आती थी। किन्तु जैनागम की सुरक्षा में जन्म-वंश परंपरा को कोई स्थान नहीं रहा। पिता अपने पुत्र को नहीं, किन्तु गुरु

---

१. वेद साहित्य यद्यपि विशेष प्राचीन है। लिखने-लिखाने की प्रवृत्ति का भी पूरा ध्यान रखा गया है, लेकिन ऐसा होते हुए भी प्राचीन काल में वेदो की जितनी श्लोक संख्या मानी जाती है, उतनी वर्तमान काल में नहीं है।

अपने शिष्य को पढ़ाता था। जैन श्रमण के लिए अपना सुशिक्षित पुत्र जैन श्रुत के अध्ययन का अधिकारी नहीं, किन्तु श्रमण शिष्य चाहे फिर वह शिष्य योग्य, कुशाग्र बुद्धि या अयोग्य, मंदबुद्धि हो, लेकिन श्रुत के अध्ययन का अधिकारी वही होता था। इसके अतिरिक्त वेदाध्ययन का अधिकार तो ब्राह्मण वर्ग तक ही सीमित था, किन्तु जैन श्रुत की सुरक्षा या अध्ययन का अधिकार किसी वर्ग विशेष के अधीन न हो कर चार वर्णों में से जो भी श्रमण बन जाता था, उसी को मिल जाता था। वहीं जैन श्रुत के अध्ययन का अधिकारी हो जाता था।

ब्राह्मण वर्ग को जीवन के प्रथम चरण में (जिसे ब्रह्मचर्याश्रम कहते हैं) वेदाध्ययन करना अनिवार्य था। अपने मान-सम्मान की सुरक्षा एवं समाज की व्यवस्था को सुव्यवस्थित बनाये रखने के लिए यह अनिवार्य था। ब्राह्मण के लिए वेदाध्ययन सर्वस्व था, लेकिन जैन श्रमण के लिए आचार-सदाचार ही सर्वस्व था। जैन श्रमण दीक्षित हो जाने के बाद जैन श्रुत के अध्ययन का अधिकारी अवश्य बन जाता था, किन्तु उसमें योग्यता है या नहीं, इसका कोई विचार नहीं किया जाता था। इसलिए कोई मंदबुद्धि शिष्य संपूर्ण श्रुत का पाठ न भी करे, तो भी उसकी श्रमणचर्या में किसी प्रकार की बाधा नहीं आती थी और न उसे अयोग्य समझा जाता था।

इसके अतिरिक्त जैन श्रमणचर्या को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि जैन मुनियों को मन-वचन-काया से वैसा कोई भी कार्य या प्रवृत्ति न करने की न करवाने की और न करते हुए अनुमोदन करने की प्रतिज्ञा होती है, जिसमें हिंसा हो। वे ऐसी कोई भी वस्तु स्वीकार नहीं करते, जिसकी प्राप्ति में तनिक भी हिंसा हो। आचारांग आदि उपलब्ध सूत्रों को देखने से उनकी यह चर्या स्पष्ट मालूम होती है। प्राचीन जैन श्रमण इस प्रतिज्ञा का अक्षरशः पालन करने का प्रयत्न करते थे। लेकिन इसका यह मतलब नहीं कि उन्हें धर्म प्रचार इष्ट नहीं था। वह इष्ट अवश्य था, किन्तु निरपवाद चर्या के पालन करने के आकांक्षी होने से केवल आचरण एवं उपदेश को ही धर्म प्रचार का साधन मानते थे। इस स्थिति में भी वे चाहते तो धर्म प्रचार की योजना को मूर्तरूप देने के लिए आगमों को लिपिबद्ध करके सुरक्षित रख सकते थे, लेकिन उसमें भी हिंसा और परिग्रह की संभावना होने से उन्होंने लेखन प्रवृत्ति को नहीं अपनाया। उसमें भी उन्होंने संयम की विराधना देखी।[१] अहिंसा और अपरिग्रह व्रत का भंग उन्हें असह्य था। लेकिन जब आगमों की सुरक्षा की ओर उनका ध्यान गया और उन्हें लिपिबद्ध करना आवश्यक समझा गया, तब तक वे आगमों को अधिकांश भूल चुके थे।

---

१. पोत्थएसु घेप्पंतएसु असंजमो भवइ।
– दशवैकालिक चूर्णि पृष्ठ २१

गुरुजनों के काल धर्म को प्राप्त होते जाने से कंठाग्र आगमों का बहुत सा भाग उन्हीं के साथ चला गया था। इस स्थिति को देख कर उन्होंने अपने अपरिहग्रह व्रत को कुछ शिथिल किया। पहले जिस पुस्तक परिग्रह को असंयम का कारण समझ लिया गया था, मान लिया गया था, उसी को अब संयम का कारण माना जाने लगा,[1] क्योंकि यदि वे वैसा न करते, तो श्रुत विनाश की आशंका को टाला नहीं जा सकता था। अतएव अब यही संभव था कि जो आगमिक संपत्ति शेष रह गयी है, उसे लिपिबद्ध करके सुरक्षित किया जाये। एतदर्थ आचार चर्या में परिवर्तन स्वीकार किये गये। श्रुति रक्षा के लिए लिखने लिखाने की प्रवृत्ति को महत्व दिया गया। इतना सब करने पर भी जो मौलिक कमी हो चुकी थी, उसकी पूर्ति नहीं हुई। विस्मृत एवं विलुप्त अंश प्राप्त नहीं हो सका।

चतुर्विध संघ श्रुत के ह्रास के प्रति चिन्तित था। श्रुत की सुरक्षा का प्रश्न महत्वपूर्ण था। श्रावक और श्राविकाएँ तो श्रुत की सुरक्षा में साक्षात् सक्रिय योग नहीं दे सकती थी। अतः बुद्ध के उपदेशों को व्यवस्थि करने के लिए समय-समय पर भिक्षुओं द्वारा की गयी संगतियों की तरह जैन आचार्यों ने भी क्रमशः पाटलिपुत्र, मथुरा और वल्लभी में वाचनाएँ की। इनका समय भिन्न-भिन्न है। इनमें तत्कालीन जैन आचार्यों ने एकत्र हो कर जैन श्रुत को व्यवस्थित किया और विच्छिन्न अंशों की संगति बैठाने तथा आगत व्यवस्था को परिमार्जिन करने का प्रयास किया।

♣ पाटलिपुत्र की वाचना

सर्व प्रथम पाटलिपुत्र में वाचना हुई। भगवान महावीर के निर्वाण से करीब १६० वर्षा बाद[2] एक सुदीर्घकालीन दुर्भिक्ष से छिन्न-भिन्न तितर-बितर जैन श्रमण संघ पाटलिपुत्र में एकत्र हुआ। एकत्र श्रमणों ने एक दूसरे से पूछ-पूछ कर ग्यारह अंगों को व्यवस्थित किया, किन्तु यह देखा गया कि बारहवें अंग दृष्टिवाद का ज्ञान किसी को भी नहीं है। उस समय संपूर्ण दृष्टिवाद के एक मात्र ज्ञाता आचार्य भद्रबाहु नेपाल में थे और बारह वर्षीय विशेष प्रकार की योग साधना में लगे रहने से वे वाचना में उपस्थित नहीं हो सके थे। अतएव संघ ने सर्वानुमति से योग्य पात्र मान कर अनेक साधुओं के साथ स्थूलिभद्र को दृष्टिवाद का अध्ययन करने के लिए- वाचना लेने के लिए भद्रबाहु स्वामी के पास भेजा। दस पूर्व का अध्ययन पूर्ण मनोयोग से करने के बाद उन्होंने परीक्षण के तौर पर अपनी श्रुत लब्धि का प्रयोग किया। इसका पता जब भद्रबाहु को लगा, तब उन्होंने आगे अध्ययन कराना छोड़ दिया। स्थूलिभद्र के

---

१. कालं पुण पडुच्च चरण करणट्ठा अपोच्छित्ति निमित्तं
च गेण हमाणस्स पोत्थए संजमो भवइ।
--दशवैकालिक चूर्णी पृष्ठ २१

२. आवश्यक चूर्णी भाग २ पृष्ठ १८७

बार-बारअनुनय-विनय करने पर एवं अपने प्रमाद के लिए क्षमायाचना करने पर उन्होंने कहा कि शेष चार पूर्वों की अनुज्ञा न दे कर मैं उनकी सूत्र वाचना देता हूँ, किन्तु तुम इसे दूसरों को मत पढ़ाना और फिर उन्होंने स्थूलिभद्र को शेष चार पूर्व का केवल मूल पाठ पढ़ाया। उसका विशेष विशदार्थ स्पष्ट नहीं किया। परिणामत: श्रमण संघ में भद्रबाहु स्वामी तक चतुर्दश पूर्व का संपूर्ण ज्ञान रहा और उनके स्वर्गवास के पश्चात् स्थूलिभद्र तक चौदह पूर्वों में से दस पूर्वों का पूर्ण और शेष चार पूर्वों का मूल पाठ का ज्ञान शेष रह गया। स्थूलिभद्र शेष चार पूर्वों के अर्थज्ञान से वंचित रहे। स्थूलिभद्र का स्वर्गवास वीर निर्वाण के २१५ या मतान्तर से २१९ वर्ष बाद हुआ।

वस्तुत: देखा जाये तो स्थूलिभद्र भी श्रुतकेवली नहीं थे, क्योंकि उन्होंने दस पूर्व तो सूत्र और अर्थ सहित पढ़े थे, किन्तु शेष चार पूर्व मात्र सूत्रत: ही पढ़े थे। उन्हें अर्थ का ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ था। अतएव श्वेतांबर मतानुसार यही कहा जायेगा कि भद्रबाहु स्वामी के स्वर्गवास के साथ ही (वीर निर्वाण के १७० वर्ष बाद) श्रुत केवली का लोप हो गया। उसके बाद संपूर्ण श्रुत का ज्ञाता कोई नहीं हुआ। दिगंबर परंपरा में श्रुत केवली का लोप १६२ वर्ष बाद माना गया है। इस प्रकार दोनों की मान्यता में आठ वर्ष का अन्तर है।

पाटलिपुत्र वाचना में श्रुत को व्यवस्थित रखने का जो प्रयत्न हुआ था, उसका क्रम कुछ समय तक तो ठीक चलता रहा। लेकिन उसके बाद तज्ज्ञ आचार्यों के कालधर्म को प्राप्त होते जाने, भौगोलिक दूरियों तथा योग्य विद्वान अधिकारी शिष्यों के न मिलने तथा समय समय पर दीर्घकालीन दुर्भिक्षों के पड़ने से श्रुत का पठन-पाठन पूर्ववत् न चल सका। ग्रहण-गुण और अनुप्रेक्षा के अभाव मे बहुत सा सुरक्षित अंश भी नष्ट हो गया। इस कारण आर्य स्कंदिल के नेतृत्व में श्रमण संघ पुन: मथुरा में एकत्र हुआ और जिसको जो याद था, उसके आधार पर कालिक श्रुत को व्यवस्थित किया गया। आर्य स्कंदिल का युग प्रधानत्व काल वीर निर्वाण संवत ८२७ से ८४० माना जाता है। अत: यह वाचना इसी बीच हुई होगी। वाचना मथुरा में होने से यह माथुरी वाचना कहलायी। इस वाचना के फलस्वरूप आगम लिखे भी गये।

♣ वल्लभी वाचना (प्रथम)

माथुरी वाचना के काल में नागार्जुन सूरि ने भी वल्लभी में श्रमण संघ को एकत्र करके आगमों को व्यवस्थित करने का प्रयत्न किया था। उस समय उपस्थित श्रमणों में से जिस-जिस को जो आगम, अनुयोग और प्रकरण ग्रंथ याद थे, वे लिपिबद्ध किये गये और विस्मृत स्थलों को पूर्वापर संबंध के अनुसार ठीक करके वाचना दी गयी।

इस वाचना के प्रमुख नागार्जुन सूरि थे और यह वल्लभी में हुई थी, अत: यह नागार्जुनीय वाचना या वल्लभी वाचना कहलायी ।

♣ वल्लभी वाचना (द्वितीय)

उपर्युक्त वाचनाओं के अनन्तर पुन: करीब डेढ़ सौ वर्ष बाद वल्लभी में देवर्द्धि गणि क्षमाश्रमण की अध्यक्षता में श्रमण संघ एकत्र हुआ । इसका उद्देश्य भी जैन श्रुत की सुरक्षा का स्थायी प्रबंध करना था । अत: पूर्व की दोनों वाचनाओं के समय लिपिबद्ध शास्त्रों के अतिरिक्त अन्य विद्यमान प्रकरण ग्रंथों को लिखा कर सुरक्षित करने का निश्चय किया गया एवं पूर्व में लिखे गये ग्रंथों में समन्वय करके, भेद-भाव व अन्तर को दूर करके एक रूप दिया गया तथा महत्वपूर्ण भेदों को पाठान्तर के रूप में संकलित किया गया । कई प्रकीर्णक ग्रंथों को यथारूप में प्रमाण माना गया । यह सब कार्य वीर निर्वाण संवत ९८० या ९९३ में सम्पन्न हुआ । अत: वर्तमान में उपलब्ध आगम ग्रंथों का लिखित रूप इसी समय में स्थिर हुआ था, ऐसा कहा जाये तो अनुचित नहीं होगा ।

इस समग्र स्थिति का अवलोकन करने से यह तो ज्ञात होता है कि देवर्द्धि गणि क्षमाश्रमण के प्रयास से आगमों की सुरक्षा के लिए लेखन कार्य हुआ, लेकिन इसकी सूचना नहीं मिलती है कि कितने ग्रंथ लिखे गये । नंदीसूत्र में दी गयी सूची को यदि पुस्तकाकार में परिणत आगमों की सूची माना जाये, तो यह कहना पड़ेगा कि कई आगम उक्त लेखन के बाद भी नष्ट हुए हैं । विशेषतया प्रकीर्णक तो अनेक नष्ट हुए हैं । केवल वीरस्तव नामक प्रकीर्णक और पिंड निर्युक्ति ऐसे दो ग्रंथ हैं, जिनका नंदीसूत्र में उल्लेख नहीं है, किन्तु वे आगम रूप में मान्य है ।

इस वाचना के समय जो ग्रंथ लिखे गये, उनमें कुछ अंश प्रक्षिप्त हो सकता है, किन्तु कई अंश ऐसे भी हैं, जो मौलिक है । अतएव पूरे आगमों का एक काल तो नहीं, किन्तु सामन्यतया यह कहा जा सकता है कि पाटलिपुत्र वाचना उनके लेखन की भूमिका बनाने का काल है, जो आचार्य भद्रबाहु के समय में हुई थी और देवर्द्धि गणि क्षमाश्रमण के समय में अपने पूर्णरूप में फलित हुई । अन्वेषकों ने भद्रबाहु का समय ईसा पूर्व चौथी शताब्दी का दूसरा दशक माना है । डॉ. जेकोबी छन्द आदि की दृष्टि से अध्ययन कर के इस निष्कर्ष पर आये कि आगम के प्राचीन अंश ईसा पूर्व चौथी शताब्दी के अन्त से लेकर ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी के प्रारंभ जितने प्राचीन है । इसलिए यह माना जा सकता है कि अंग आगमों का प्राचीन अंश ईसा पूर्व का है और आगमों में संग्रहित अंग बाह्य ग्रंथ गणधरों की रचना नहीं होने से, किन्तु भिन्न-भिन्न आचार्यों द्वारा रचित होने से उनके लेखन का समय निर्धारण उनके रचयिता आचार्यों के समय से किया जा सकता है । जिन ग्रंथों के कर्ता का निश्चित समय व नाम ज्ञात

है, उनको उस काल की रचना मान लेना चाहिए। संशोधकों ने उनके कर्ता व समय आदि का निर्धारण अपनी-अपनी पुस्तकों में किया है।

♣ दिगंबर परंपरा में शास्त्र लेखन

श्वेतांबर परंपरा में श्रुत साहित्य को सुरक्षित रखने के लिए जिस प्रकार लिपि-बद्ध करने का प्रयास हुआ, उसी प्रकार का प्रयत्न दिगंबर परंपरा में भी षट्खंडागम आदि अपने साहित्य को सुरक्षित रखने के लिए प्रारंभ किया गया।

कहा जाता है कि आचार्य धरसेन सौराष्ट्र प्रदेश स्थित गिरनार पर्वत की चन्दर गुफा में रहते थे। वे अष्टांग महानिमित शास्त्र में पारंगत थे। उन्हें ऐसा मालूम हो गया कि अब श्रुत साहित्य के विच्छेद होने का समय आ गया है। यह जान कर प्रवचन प्रेमी धरसेन ने दक्षिण प्रदेश में विचरने वाले महिमा नगरी में एकत्र आचार्यों को एक पत्र भेजा। पत्र पढ़ कर आचार्यों ने आंध्रप्रदेश के बेन्नातट नगर के विशेष बुद्धि संपन्न दो शिष्यों को आचार्य धरसेन के पास भेज दिया। आये हुए शिष्यों की परीक्षा लेने के बाद धरसेन ने उन्हें अपनी विद्या– श्रुतसाहित्य पढ़ाना प्रारंभ किया। पढ़ते-पढ़ते आषाढ़ शुक्ला एकादशी का दिवस आ पहुँचा। इस दिन ठीक दोपहर में उनका अध्ययन पूर्ण हुआ। आचार्य दोनों शिष्यों पर बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने उनमें से एक का नाम भूतबली व दूसरे का नाम पुष्पदन्त रखा। इसके बाद दोनों शिष्यों को वापस भेजा। उन्होंने सौराष्ट्र से वापस जाते हुए अंकुलेसर (अकुलेश्वर या अंकश्नेश्वर) नामक ग्राम में चातुर्मास किया। तदनन्तर आचार्य पुष्पदंत वनवास के लिए चले गये एवं भूतबली द्रमिल (द्रविड) में गये। आचार्य पुष्पदन्त ने जिनपालित नामक शिष्य को दीक्षा दी। फिर बीस सूत्रों की रचना की। उन्होंने जिनपालित को पढ़ाकर उसे द्रविड देश में आचार्य भूतबली के पास भेजा। भूतबली ने यह जानकार कि आचार्य पुष्पदन्त अल्पायु वाले हैं तथा महाकर्म प्रकृति प्राभृत संबंधी जो कुछ भी श्रुत साहित्य है, वह उनके बाद नहीं रह सकेगा, अतः द्रव्य प्रमाणानुयोग के प्रारंभ में रख कर षट्खंडागम की रचना की। इस प्रकार इस खंड सिद्धांत श्रुत के कर्ता के रूप में आचार्य भूतबली और पुष्पदन्त दोनों माने जाते हैं।[१]

इस कथानक में सौराष्ट्र प्रदेश का उल्लेख आता है। श्री देवर्द्धि गणि की ग्रंथ लेखन की प्रवृत्ति का संबंध भी सौराष्ट्र प्रदेश की वल्लभी नगरी के साथ है। इससे यह प्रतीत होता है कि तत्कालीन सौराष्ट्र के जैन संघ ने श्रुत सुरक्षा के लिए कितना प्रयत्न किया था। उसके इस पवित्रतम कार्य का ही यह परिणाम है कि आज भी जैन आगमों का बहुत सा अंश सुरक्षित रह सका है। ☆

---

१. षट्खंडागम प्रथम भाग पृष्ठ ६७-७१

अध्याय ४

अंग आगमों का बाह्य परिचय

प्रत्येक वस्तु के परिचय के दो रूप होते हैं— आन्तर परिचय और बाह्य परिचय। वस्तु के बाहरी रूप आकार-प्रकार, परिमाण को जानना बाह्य परिचय है और वस्तुगत गुणधर्म- स्वभाव को समझना अंतरंग परिचय है। इन दोनों में बाह्य परिचय सरल है और उससे कुछ न कुछ अंतर का भी आभास मिल जाता है। अतएव आगमों के दोनों रूपों का परिचय देने के प्रसंग में आन्तरकायी यत्किंचित् बोध कराने के लिए पहले उनका बाह्य परिचय देते हैं।

आगमों के बाह्य परिचय में अंगों के नाम के अर्थ, पद परिमाण, अंगों का क्रम, भाषा शैली, विषय विवेचन की पद्धति आदि एवं इनसे संबंधित अन्य बातों का उल्लेख किया जा चुका है। उनके नामों के उल्लेख का जो क्रम दिया गया है, वह आगमों में प्ररूपित प्रणाली पर आधारित है। जैसे समवायांग में आगमों के परिचय का यह पाठ है- **'तं जहा आयारे सूयगडे ठाणे समवाए, विवागसुए दिट्ठिवाए।**[1] इसमें ध्यान देने की जो बात है, वह यह है कि इन द्वादश ग्रंथों को अंग कहा गया है तथा इन्हीं द्वादश अंगों का जो वर्ग है, उसे गणिपिटक के नाम से भी संबोधित किया गया है। गणि पिटक में इन बारह के सिवाय अन्य आगम ग्रंथों का उल्लेख नहीं है। इससे यह संकेत मिलता है कि मूल रूप में ये ही आगम हैं, जिनकी रचना गणधरों ने की थी और जिन शब्दों में यह आगम उपलब्ध है, उनसे फलित होने वाला अर्थ या तात्पर्य भगवान द्वारा प्रणीत है।[2] शब्द तो भगवान के नहीं है, किन्तु इन शब्दों का तात्पर्य स्वयं भगवान ने जो बताया है, उससे भिन्न नहीं है। उन्हीं के उपदेश के आधार पर गणधर सूत्रों की रचना करते हैं।[3] किन्तु गणधर सूत्रों की रचना अपने मन से नहीं करते, जिससे ये आगम प्रमाण है।

---

१. समवायांग का प्रारंभ

२. [क] तस्स णं अयमट्ठे पण्णत्ते।
— समवायांग का प्रारंभ
[ख] अत्थं भासइ अरहा—
— आवश्यक निर्युक्ति १९२

३. सुतं गंथंति गणहरा निउणा।
— आवश्यक निर्युक्ति १९२

गणिपिटक शब्द आचरांगादि बारह अंगों के समुच्चय के लिए तो प्रयुक्त हुआ ही है, किन्तु वह प्रत्येक अंग के लिए भी प्रयुक्त होता होगा, ऐसा समवायांग के एक उल्लेख से प्रतीत होता है।[१]

यह बात तो हुई 'गणिपिटक' शब्द के प्रयोग के लिए। अब अंग शब्द के बारे में विचार करते हैं। वैदिक साहित्य में अंग शब्द प्रधान वेदों से भिन्न संहिता आदि ग्रंथों के लिए प्रयुक्त हुआ है और वहाँ अंग का तात्पर्य है- वेदों के अध्ययन में सहायक विविध विद्याओं के ग्रंथ, जिन्हें आज की भाषा में पूरक ग्रंथ या किसी पुस्तक के परिशिष्ट कह सकते हैं। अर्थात् वैदिक साहित्य में अंग का तात्पर्य मौलिक नहीं, किन्तु सहायभूत गौण ग्रंथों से है, जब कि जैनों में 'अंग' शब्द का यह अर्थ नहीं है। क्योंकि आचार आदि अंग किसी के सहायक या गौण ग्रंथ नहीं, अपितु आचार आदि बारह ग्रंथों से बनने वाले वर्ग की इकाई होने से अंग कहे गये हैं। इसी से जैसे पुरुष के शरीर में बारह अंग होते हैं, वैसे ही श्रुतपुरुष की कल्पना करके इन बारह अंगों को उस श्रुत पुरुष के अंगरूप माना गया है। पुरुष के बारह अंग कौन-कौन से हैं? इसका निर्देश करते हुए नन्दीवृत्ति पृष्ठ ५०३ में कहा गया है—

पाय दुगं जंघा उसु, गाय दुगद्धं तु दोय बाहू य।
गीवा सिरं च पुरिसो, बारस अंगो सुय विसिट्ठो॥

इस गाथा का स्पष्टीकरण करते हुए वृत्तिकार ने लिखा है— पुरुष के बारह अंग होते हैं। जैसे दो पैर, दो जंघा, दो घुटने, दो गात्रार्ध,[२] दो बाहु, ग्रीवा और मस्तक। ऐसे ही श्रुत रूप पुरुष के भी क्रम से आचार आदि बारह अंग समझना चाहिये। ये बारह अंगरूप से श्रुतपुरुष में व्यवस्थित हैं।

इनके अतिरिक्त जो अंगबाह्य के रूप में व्यवस्थित हैं वे अनंग प्रविष्ट हैं। इस प्रकार वृत्तिकार के अभिप्राय के अनुसार श्रुतपुरुष के आचारादि बारह अंगों को निम्न प्रकार से समझा जा सकता है—

आचार और सूत्रकृत श्रुतपुरुष के दो पैर हैं, स्थान और समवाय दो जंघाएँ हैं, व्याख्या प्रज्ञप्ति व ज्ञाता धर्म कथा दो घुटने है, उपासक और अन्तकृत् दो गात्रार्ध हैं, अनुत्तरोपपातिक व प्रश्न व्याकरण दो बाहुएँ हैं तथा विपाक सूत्र ग्रीवा और दृष्टिवाद मस्तक है।

---

१. तिण्हं गणिपिडगाणं आयार चूलिया वज्जाणं सत्तावन्नं अज्झयणा पन्नत्ता। तं जहा - आयारे सूयगडे ठाणे।
— समवायांग ५७वाँ समवाय

२. शरीर का ऊपरी एवं नीचे का भाग अथवा अगला (पेट आदि) और पिछला (पीठ आदि) भाग गात्रार्ध कहलाता है।

♣ नामनिर्देश

आचारांग आदि बारह अंगप्रविष्ट आगमों के नाम पूर्व में बताये जा चुके हैं। सभी जैन परंपराओं में इनके प्राकृत भाषीय नामों में प्राय: समानता है, एक रूपता है और जो थोड़ा बहुत भेद दिखाई भी देता है, वह केवल भाषायी विभक्ति के प्रत्यय अथवा एकवचन-बहुवचन का है। संस्कृत ग्रंथों में इनके नामों में विभिन्नताएं देखने में अवश्य आती हैं। जैसे कि आचार्य उमास्वति के तत्वार्थ सूत्र के भाष्य में केवल अंगों के नामों का उल्लेख है। उसमें पाँचवें अँग का नाम 'भगवती' न देते हुए 'व्याख्या प्रज्ञप्ति' दिया गया है और बारहवें अंग के नाम का भी उल्लेख है। वहाँ नाम इस प्रकार दिये गये हैं–

१. आचार, २. सूत्रकृतम्, ३. स्थानम्, ४. समवाय:, ५. व्याख्या प्रज्ञप्ति, ६. ज्ञातृधर्मकथा, ७. उपासकाध्ययन दशा: ८. अन्तकृद्दशा:, ९. अनुत्तरोपपातिक दशा:, १०. प्रश्न व्याकरणम् ११. विपाक, १२. दृष्टिपात: ।[1]

परन्तु उक्त नामों के बारे में दिगंबर परंपराभिमत पूज्यपाद कृत 'सर्वार्थसिद्धि' नाम तत्त्वार्थवृत्ति में उपासकदशा के बदले 'उपासकाध्ययन', 'अन्तकृद्दशा' के बजाय 'अन्तकृद्दशम्' नाम हैं।[2] इन नामों के लिए अकलंक कृत 'तत्त्वार्थराजवार्तिक' में फिर थोड़ा परिवर्तन किया गया है। उसमें 'अन्तकृद्दशम्' और 'अनुत्तरोपपातिक दशम्' के स्थान पर क्रमश: 'अन्तकृद्दशा' एवं 'अनुत्तरोपपातिक दशा' शब्द प्रयुक्त किये गये हैं।[3] श्रुतसागर कृत वृत्ति में 'ज्ञातृधर्म कथा' के स्थान पर 'ज्ञातृकथा' का प्रयोग है।

अंग पण्णत्ति नामक ग्रंथ में दृष्टिवाद के संबंध में कहा गया है कि इसमें ३६३ दृष्टियों का निराकरण किया गया है। साथ ही क्रियावाद, अक्रियावाद एवं विनयवाद के अनुयायियों के मुख्य-मुख्य नाम भी दिये गये हैं। ये सब नाम प्राकृत में हैं। तत्वार्थ राजवर्तिक में भी इसी प्रकार के नाम बताये गये हैं। वहाँ ये सब नाम संस्कृत में है। इन दोनों स्थानों के नामों में कुछ कुछ अन्तर आ गया है। सर्वार्थ सिद्धि में दृष्टिवाद के भेदरूप पाँच नाम बताये हैं- परिकर्म, सूत्र, प्रथमानुयोग, पूर्वगत और चूलिका। इनमें से पूर्वगत के भेद रूप चौदह नाम इस प्रकार हैं - १. उत्पाद पूर्व, २. अग्रायणीय, ३. वीर्यानुप्रवाद, ४. अस्तिनास्ति प्रवाद, ५. ज्ञान प्रवाद, ६. सत्यप्रवाद, ७. आत्मप्रवाद, ८. कर्म प्रवाद, ९. प्रत्यख्यान, १०. विद्यानुप्रवाद ११. कल्याण, १२. प्राणावाय, १३. क्रिया विशाल, १४. लोक बिन्दुसार।

---

१. *तत्त्वार्थ भाष्य १।२०*
२. सर्वार्थसिद्धि १।२०
३. तत्त्वार्थ राजवार्तिक १।२०

पंचम अंग का संस्कृत, नाम 'व्याख्या प्रज्ञप्ति' है और जनसाधारण इसे 'भगवती सूत्र' कहते हैं, लेकिन प्राकृत में विभिन्न शब्दों का प्रयोग देखने में आता है। जैसे धवला और जय धवाल में 'विवाह पण्णत्ति और गोम्मट सार जीवकांड में विवाय पण्णत्ति, विक्खापण्णत्ति शब्द है, जो संस्कृत रूप व्याख्या प्रज्ञप्ति के रूपान्तर है। अंग पण्णत्ति में विवाय पण्णति अथवा विवाग पण्णत्ति नाम बताया है और इनका संस्कृत रूपान्तर विपाक प्रज्ञप्ति रखा है। वृत्तिकार अभयदेव सूरि ने विवाह पण्णत्ति और वियाह पण्णत्ति नाम स्वीकार किया है। वि + वाह प्रज्ञप्ति- ज्ञान के विविध प्रवाहों की प्रज्ञप्ति और विबाह पण्णत्ति का अर्थ किया है— वि + बाध प्रज्ञप्ति अर्थात् बिना बाधावाली प्रमाणसिद्ध प्रज्ञप्ति। वियाह पण्णत्ति, विवाह पण्णत्ति और विबाह पण्णत्ति ये तीनों पाठ मिले-जुले मालूम होते हैं। इनमें से 'वियाह पण्णत्ति' पाठ ठीक है। शेष दो प्रतिलिपिकारों की त्रुटि के परिणाम रूप हैं। यद्यपि संस्कृत नाम 'व्याख्या प्रज्ञप्ति' को देखते हुए प्राकृत नाम 'वियाह पण्णत्ति' होना चाहिए था, जबकि सर्वत्र 'विवाह पण्णत्ति' रूप ही देखने को मिलता है, जो प्रतिलिपिकारों की असावधानी व अर्थ के अज्ञान के कारण ही ऐसा हुआ मालूम होता है। अति प्राचीन ग्रंथों में 'वियाहपण्णत्ति' रूप मिलता भी है, जो कि व्याख्या प्रज्ञप्ति का शुद्ध प्राकृत रूप है।

संस्कृत ज्ञात धर्म कथा व प्राकृत नायाधम्म कहा अथवा णाया धम्म कहा में कोई अन्तर नहीं है। 'ज्ञात' का प्राकृत में 'नाय' होता है एवं समास में **'दीर्घाह्रस्वौमिथो वृत्तौ'**,[१] इस नियम के अनुसार 'नाय' के ह्रस्व 'य' का दीर्घ 'या' होने पर 'नाया' हो जाता है। दिगंबर परंपरा में नायाधम्म कहा के बजाय ज्ञातृधर्मकथा, नाहस्स धम्म कहा, नाह धम्म कहा आदि नाम प्रसिद्ध हैं। इन शब्दों में नाम मात्र का फेर है। ज्ञात धर्म कथा अथवा ज्ञाताधर्म कथा का अर्थ है— जिनमें ज्ञात अर्थात् उदाहरण प्रधान हो, ऐसी धर्मकथाएँ अथवा जिस ग्रंथ में ज्ञातों वाली अर्थात् उदाहरणों वाली एवं धर्मवाली कथाएँ हों। ज्ञातृ धर्म कथा का अर्थ है— जिसमें ज्ञातृ अर्थात्- ज्ञाता अथवा ज्ञातृवंश के भगवान महावीर द्वारा कही हुई धर्म कथाएँ हों, वह ग्रंथ। यही अर्थ ज्ञातृ कथा का भी है।

द्वितीय अंग का संस्कृत नाम 'सूत्रकृत' है। राजवार्तिक आदि में भी इसी नाम का निर्देश है। धवला एवं जय धवला में सूदपद, गोम्मटसार जीवकांड में सुद्दपद तथा अंगपण्णत्ति में सूदयक नाम मिलते हैं। इन सब नामों में कोई अन्तर नहीं है। केवल शौरसेनी और अर्धमागधी प्राकृतों के अपने-अपने प्रयोग की भिन्नता से नामों में यह भिन्नता है।

---

१. सिद्ध हेम शब्दानुशासन ८।१-४

इस प्रकार श्वेतांबर और दिगंबर दोनों परंपराओं में जो नाम बताये हैं, उनमें कोई विशेष अन्तर नहीं है।

♣ आचारादि अंगों के नामों का अर्थ

भाषाओं की उच्चारण शैली की विभिन्नता के कारण नामों के रूपों में आगत विभिन्नताओं का विचार करने के अनन्तर अब उनके नामों के अर्थ पर विचार करते हैं।

सामान्यतया आचारांग आदि अंगों का नाम करण प्राय: उन उनमें आगत वर्ण्य विषय के अनुरूप हैं। फिर भी कुछ नाम ऐसे हैं, जो संज्ञात्मक हैं और जिनका उन अंगों में आगत वर्णन से मेल नहीं खाता। इसीलिए बोध के लिए उनके नामों का अर्थ स्पष्ट करते हैं।

१. **आचार**– यह द्वादश अंगों में पहला अंग है। इसका नाम इसके वर्ण्य विषय के अनुरूप है। इसके प्रथम विभाग में आन्तर और बाह्य दोनों प्रकार के श्रमण आचार की चर्चा की गयी है।

२. **सूत्रकृत्**– सूत्रकृत् का अर्थ है, सूत्रों द्वारा अर्थात् प्राचीन सूत्रों के आधार से अथवा सूत्रों-वाक्यों से बनाया गया सूत्र। इसके नाम से तत्काल ग्रंथ के वर्ण्य विषय का तो नहीं, किन्तु रचना पद्धति का पता लगता है।

३. **स्थान**– आचारांग की तरह स्थान और समवाय अंगों के नाम स्फुटार्थक नहीं है, परन्तु जैन परंपरा में ठाणा शब्द संख्या के लिए प्रचलित हैं। जैसे — जैन साधुओं की संख्या के लिए ठाणा शब्द का प्रयोग किया जाता है। 'यहाँ कितने ठाणा हैं।' इस प्रकार के प्रश्न का अर्थ सब जैन समझते हैं। अत: यहाँ स्थानांग- ठाणांग शब्द संख्या अर्थ में प्रयुक्त समझना चाहिए।

४. **समवाय**– 'समवाय' नाम की भी यही स्थिति है। इस नाम से यह प्रकट होता है कि इसमें बड़ी संख्या का समवाय है।

इस प्रकार स्थान नामक तीसरा अंग जैन तत्त्व संख्या का एवं समवाय नामक चतुर्थ अंग जैन तत्त्व के समवाय का अर्थात् बड़ी संख्यावाले तत्त्व का निरूपण करने वाला अंग ग्रंथ है।

५. **व्याख्या प्रज्ञप्ति**– इस पंचम अंग के अर्थ का विचार ऊपर किया जा चुका है और इसका नाम ग्रंथगत विषय के अनुरूप है।

६. **ज्ञात धर्म कथा**– इसका नाम कथा सूचक है, जो इसके नाम से स्पष्ट हो जाता है। इस कथा ग्रंथ के विषय में भी ऊपर कहा जा चुका है।

७. उपासक दशा– इसके नाम से यह प्रकट होता है कि यह अंग उपासकों से संबंधित है। जैनों में उपासक शब्द जैन धर्मानुयायी श्रावकों- गृहस्थों के लिए प्रयोग में आता है। उपासक के साथ जो दशा शब्द जुड़ा हुआ है। यहाँ दोनों अर्थ समान रूप से संगत हैं, क्योंकि इस अंग में दस जैन श्रावकों की कथाएँ हैं और उनकी दशाओं का वर्णन किया गया है।

८. अंतकृत दशा– जिन्होंने आध्यात्मिक साधना द्वारा राग-द्वेष का अन्त करके मुक्ति प्राप्त कर ली है, उन्हें अन्तकृत कहते हैं। उनकी दशा- अवस्था का वर्णन इस अंग में हुआ है। अत: इसका अन्तकृत दशा यह नाम सार्थक है।

९. अनुत्तरोपपातिक दशा– यह नाम भी सार्थक है, क्योंकि जैन मान्यता के अनुसार स्वर्गों में अनुत्तर विमान सब से ऊँचा है। इस विमान में उत्पन्न होने वाले तपस्वियों का वृत्तान्त इस अंग में उपलब्ध है। उपपात या उपपाद शब्द का प्रयोग देवों या नारकों के जन्म के लिए किया जाता है, अत: यहाँ उपपात का यही अर्थ समझना चाहिए।

१०. प्रश्न व्याकरण– प्रश्नों का व्याकरण-विवेचन- चर्चा जिस शास्त्र में की जाये, उसे प्रश्न व्याकरण कहते हैं। प्रश्न व्याकरण में हिंसा-अहिंसा आदि से संबंधित चर्चा है।

११. विपाक सूत्र– यह ग्यारहवें अंग का नाम है। विपाक श्रुत, विपाक सूत्र, विवाय सुअ, विवाय सुय अथवा विवाग सुत्त ये सभी नाम एकार्थक हैं। विपाक शब्द का प्रयोग दर्शन और चिकित्सा शास्त्र में समान रूप से होता है। चिकित्सा शास्त्र में विपाक शब्द खान-पान इत्यादि के विपाक का सूचक है। यहाँ विपाक का उक्त अर्थ न लेकर आध्यात्मिक अर्थ लेना चाहिए। अर्थात् सदसत् प्रवृत्ति द्वारा होने वाले आध्यात्मिक संस्कार के परिणाम का नाम विपाक है। पाप प्रकृति का परिणाम पाप विपाक है और पुण्य प्रकृति का परिणाम पुण्य विपाक है। प्रस्तुत अंग का 'विपाक सूत्र' नाम सार्थक है, क्योंकि इसमें पुण्य-पाप के सुख-दु:ख रूप फलों को भोगने वाले व्यक्तियों की कथाओं का संग्रह है।

१२. दृष्टिवाद[१]**–** यह द्वादशांगों में अंतिम अंग है। इसके लुप्त हो जाने से इसके वर्ण्य विषय का ठीक से अनुमान नहीं लगाया जा सकता। फिर भी शाब्दिक अर्थ लें, तो दृष्टि अर्थात् दर्शन और वाद अर्थात् चर्चा, इस प्रकार दृष्टिवाद का अर्थ हुआ- दर्शनों की चर्चा। इसलिए यह कहा जा सकता है कि इसमें प्रधानतया दार्शनिक चर्चाएं रही होंगी, जिससे इसका नाम भी सार्थक मान लेना चाहिए।

---

१. स्थानांग सूत्र (१० ।७४२) में बारहवें अंग के दस पर्यायवाची नाम बताये हैं- १. दृष्टिवाद, २. हेतुवाद, ३. भूतवाद, ४. तथ्यवाद, ५. सम्यग्वाद, ६. धर्मवाद, ७. भाषा विचय अथवा भासा विचय, ८. पूर्वगत, ९. अनुयोगगत, १०. सर्वजीव सुखावह। इनमें से आठवाँ और नौवाँ दृष्टिवाद के प्रकरण विशेष के सूचक हैं। इन्हें औपचारिक रूप से दृष्टिवाद के नामों में गिनाया है।

इसके पूर्वगत विभाग में उत्पाद आदि चौदह पूर्व समाविष्ट है, जिनके नाम पहले बताये जा चुके हैं। यह विभाग काफी बड़ा रहा होगा, किन्तु विलुप्त हो जाने से अनुमानित कल्पनाएँ तो कल्पनाएँ ही हैं। इस विभाग की विशालता को बताने के लिए इन पूर्वों को लिखने में कितनी स्याही की आवश्यकता है, यह बताने के लिए कल्पसूत्र के एक वृत्तिकार लिखते हैं कि प्रथम पूर्व को लिखने में एक हाथी, दूसरे पूर्व को लिखने में दो हाथी, तीसरे पूर्व के लिए चार हाथी और चौथे पूर्व के लिए आठ हाथी के वजन जितनी स्याही की आवश्यकता होती है। इस प्रकार उत्तरोत्तर दुगुनी करते-करते अन्तिम पूर्व को लिखने के लिए आठ हजार एक सौ बानवे हाथियों के वजन के बराबर स्याही चाहिए। भले ही इसको कल्पना मान कर हम इसकी उपेक्षा कर दें, लेकिन इतना निश्चित है कि यह पूर्वगत विभाग एक अनूठा और बहुत ही विशाल होगा।

इस प्रकार आचार आदि द्वादशांगों के उपर्युक्त नामार्थों में किये गये संकेतों से यह ज्ञात होता है कि आचारांग में जैन आचार का वर्णन किया गया है। सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्या प्रज्ञप्ति (भगवती), और प्रश्न व्याकरण अंगों में तात्त्विक विचारों और दार्शनिक सिद्धान्तों का संकलन है तथा ज्ञातृ धर्मकथा, उपासक दशा, अन्तकृत दशा और अनुत्तरोपपातिक दशा अंग कथात्मक है। उनमें जिनमार्ग के अनुयायिओं की जीवनी, शुभ-अशुभ कर्मों का विपाक और दृष्टान्त कथाओं द्वारा मानव को धार्मिक तथा नैतिक विचार अपनाने का वर्णन किया गया है और दृष्टिवाद अंग का मुख्य संबंध दार्शनिक चर्चाओं से रहा होगा।

♣ अंगों की भाषा शैली

इन आचारांग आदि सभी अंगों की भाषा साधारणतया अर्धमागधी है। वैय्याकरणी इसे आर्ष प्राकृत कहते हैं। पहले यह संकेत किया जा चुका है कि जैन परंपरा में शब्द का अर्थात् भाषा का विशेष महत्व नहीं है। जो कुछ महत्व है, वह अर्थ या भाव का है। भाषा तो केवल विचारों की माध्यम है। इसलिए माध्यम के अलावा भाषा का कोई मूल्य नहीं है। परंपरा से चला आने वाला साहित्य भाषा की दृष्टि से परिवर्तित होता आया है। इस कारण इसमें किसी एक भाषा का स्वरूप स्थिर रहा हुआ है, यह नहीं कहा जा सकता।

शैली की दृष्टि से आचारांग और सूत्रकृतांग में गद्य और पद्य दोनों प्राकर की शैली है और तीसरे से लेकर ग्यारहवें अंग तक गद्यात्मक शैली प्रमुख है। इसका आशय यह नहीं है कि उनमें पद्य है ही नहीं। पद्य है, किन्तु प्रधानता गद्यात्मक शैली की है। इसके अलावा तत्कालीन साहित्य रचना की विधाओं का अनुसरण करते हुए

प्रसंगानुकूल गुरु-शिष्य संवाद, वार्तालाप, प्रश्नोत्तर आदि पद्धतियों को स्वीकार किया गया है।

यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि हमारे साहित्य में पद्य शैली अति प्राचीन है तथा गद्यशैली उसकी अपेक्षा अर्वाचीन है। गद्य को याद रखना कठिन होने से गद्यात्मक ग्रंथों में यत्र-तत्र संग्रह गाथाएँ दे दी जाती हैं, जिनसे विषय को याद रखने में सहायता मिलती है। इसी प्रसंग में यह बताना भी आवश्यक है कि आचारांग सूत्र में पद्य संख्या अल्प नहीं है, लेकिन अनभिज्ञता के कारण उसके गद्य-पद्य विभाग का पृथक्करण नहीं किया जा सका। आचारांग के पद्य त्रिष्टुम, जगती आदि वैदिक पद्यों से मिलते-जुलते हैं।

विषय के प्रस्तुतीकरण की विधा अपनी समकालीन परंपरा का निर्वाह करती है। जैसे की आचारांग के प्रारंभ में ही वाक्य आता है- 'सुयं में आउसं... उन भगवान ने इस प्रकार कहा है, ऐसा मैंने सुना है, इस वाक्य द्वारा सूत्रकार ने इस बात का निर्देश दिया है कि यहाँ जो कुछ भी कहा जा रहा है, वह गुरु परंपरा के अनुसार है, स्वकल्पित नहीं है। इसी प्रकार के वाक्य वैदिक और बौद्ध परंपरा के वेद त्रिपिट को में भी प्रयुक्त हुए हैं।

♣ अंगों का क्रम

ग्यारह अंगों के क्रम में सर्व प्रथम आचारांग है। वर्ण्य विषय की दृष्टि से आचारांग को सर्व प्रथम स्थान देना उपयुक्त ही है, क्योंकि संघ व्यवस्था में सबसे पहले आचार की व्यवस्था होना अनिवार्य है। दूसरा हेतु यह है कि जहाँ-जहाँ अंगों के नाम आये हैं, वहाँ मूल से अथवा वृत्ति में सबसे पहले आचारांग का ही नाम आया है। तीसरा यह है कि इसके नाम के उल्लेख में कभी किसी ने विचार नहीं किया है। लेकिन मुख्य कारण यही मानना चाहिए कि इसका वर्ण्य विषय अतिव्यापक है और उसका महत्व प्रदर्शित करने के लिए आचारांग को प्रथम स्थान दिया है। आचारांग के बाद जो सूत्र कृतांग आदि के नामों की क्रम योजना की है, वह श्वेतांबर और दिगंबर दोनों परंपराओं में एक जैसे है और दोनों ने आचारांग को सब से पहले स्थान दिया है।

♣ अंगों का पद परिमाण

अंगों के बाह्य रूप का परिचय प्राप्त करने में नाम, उनका अर्थ, भाषा-शैली को जानने के अतिरिक्त ग्रंथगत श्लोक या पद परिमाण को जानना जरूरी है। इसको जाने बिना यह नहीं समझा जा सकता कि ग्रंथ पूर्ण है या अधूरा है। वह किसी कारण

से खंडित तो नही हो गया अथवा उस में कोई वृद्धि तो नहीं हुई, आदि बातों की जानकारी के लिए पदपरिमाण की प्रथा उपयोगी है।

अंग आगमों का परिचय देने के प्रसंग में श्वेतांबर और दिगंबर दोनों परंपराओं के ग्रंथों में उनका पद परिमाण बताया है। श्वेतांबर परंपरा के ग्रंथ समवायांग, नंदी आदि और दिगबर परंपरा के धवला, जय धवला, गोम्मटसार जीवकांड, अंगपण्णत्ति आदि ग्रंथों में अंगों का पदपरिमाण उपलब्ध है। उसे पहले श्वेतांबर ग्रंथों के अनुसार और अनन्तर दिगंबर ग्रंथों के अनुसार स्पष्ट करते हैं–

श्वेतांबर परंपरा- (समवायांग और नंदीसूत्र के अनुसार)

१. आचारांग – अठारह हजार पद।

२. सूत्रकृतांग – छत्तीस हजार पद।

३. स्थानांग – बहत्तर हजार पद।

४. समवायांग – एक लाख चवालीस हजार पद।

५. व्याख्या प्रज्ञप्ति – चौरासी हजार पद (समवायांग के अनुसार) दो लाख अठासी हजार पद (नंदी सूत्रानुसार)।

६. ज्ञाता धर्म कथा – संख्येय हजार पद

७. उपासक दशा – संख्येय लाख पद (समवायांग के अनुसार) संख्येय हजार पद (नंदीसूत्र के अनुसार)

८. अन्तकृद्दशा – संख्येय हजार पद।

९. अनुत्तरोपपातिक दशा – संख्येय लाख पद (समवायांग) संख्येय हजार पद (नंदी सुत्र)।

१०. प्रश्न व्याकरण – संख्येय लाख पद (समवायांग) संख्येय हजार पद (नंदी सूत्र)।

११. विपाक सूत्र – संख्येय लाख पद (समवायांग) संख्येय हजार पद (नंदी सूत्र)।

समवायांग वृत्ति और नंदी वृत्ति के अनुसार अंगों का पद परिमाण इस प्रकार हैं–

१. आचारांग– अठारह हजार पद। [आचारांग निर्युक्ति तथा शीलांक कृत वृत्ति में लिखा है कि आचारांग के प्रथम श्रुत स्कंध के नौ अध्ययनों के अठारह हजार पद हैं तथा द्वितीय श्रुतस्कंध के इससे भी अधिक पद हैं।]

२. सूत्रकृतांग– छत्तीस हजार पद।

३. स्थानांग– बहत्तर हजार पद ।

४. समवायांग– एक लाख चवालीस हजार पद ।

५. व्याख्या प्रज्ञप्ति– चौरासी हजार पद (समवायांग वृत्ति) । दो लाख अठासी हजार पद (नंदीवृत्ति ।

६. ज्ञाता धर्म कथा– पाँच लाख छिहत्तर हजार पद अथवा सूत्रालापक रूप संख्येय हजार पद ।

७. उपासक दशा– ग्यारह लाख बावन हजार पद ।

८. अन्तकृद्दशा– तेईस लाख चार हजार पद ।

९. अनुत्तरोपपातिक दशा– छियालीस लाख आठ हजार पद ।

१०. प्रश्नव्याकरण– बानवे लाख सोलह हजार पद ।

११. विपाक सूत्र– एक करोड़ चौरासी लाख बत्तीस हजार पद ।

दिगम्बर परम्परा– (धवला, जय धवला, गोम्मट सार जीवकाण्ड और अंग पण्णति के अनुसार)

१. आचारांग– अठारह हजार पद ।

२. सूत्रकृतांग– छत्तीस हजार पद ।

३. स्थानांग– बयालीस हजार पद ।

४. समवायांग– एक लाख चौसठ हजार पद ।

५. व्याख्या प्रज्ञप्ति– दो लाख अट्ठाईस हजार पद ।

६. ज्ञाता धर्म कथा– पाँच लाख छप्पन हजार पद ।

७. उपासक दशा– ग्यारह लाख सत्तर हजार पद ।

८. अन्तकृद्दशा– तेईस लाख अट्ठाईस हजार पद ।

९. अनुत्तरोपपातिक दशा– बानवे लाख चवालीस हजार पद ।

१०. प्रश्नव्याकरण– तिरानवे लाख सोलह हजार पद ।

११. विपाक सूत्र– एक करोड़ चौरासी लाख पद ।

ऊपर ग्यारह अंगों की श्वेताम्बर और दिगंबर परंपरा में मान्य पद संख्या दी गई है । दोनों की मान्य पद संख्या में विशेष भेद है । श्वेताम्बर परंपरा में यह संख्या *प्रथम अंग से प्रारंभ होकर आगे क्रमशः दुगुनी-दुगुनी होती गई मालूम होती है, लेकिन* दिगंबर परंपरा के उल्लेखों में ऐसा नहीं है । बारहवां अंग दृष्टिवाद अनुपलब्ध है । दिगंबर परंपरा के ग्रंथों में उसका पद परिमाण १०८६८५६०५ दस करोड़ छियांसी लाख पिचासी हजार छह सौ पाँच बताया है ।

चौदह पूर्वों में से एकाध पूर्व को छोड़कर दोनों परंपराओं में शेष पूर्वों की पद संख्या में समानता है। पूर्वों की पद संख्या इस प्रकार है–

१. उत्पाद– एक करोड़ पद।

२. अग्रायणीय– छियानवे लाख पद।

३. वीर्य प्रवाद– सत्तर लाख पद।

४. अस्ति नास्ति प्रवाद– साठ लाख पद।

५. ज्ञान प्रवाद– एक कम एक करोड़ पद।

६. सत्य प्रवाद– एक करोड़ छह पद।

७. आत्म प्रवाद– छब्बीस करोड़ पद।

९. कर्म प्रवाद– एक करोड़ अस्सी हजार पद।

[कर्म प्रवाद पूर्व के दिगंबर परम्परानुसार एक करोड़ अस्सी लाख पद हैं।]

९. प्रत्याख्यान– चौरासी लाख पद।

१०. विद्यानुवाद– एक करोड़ दस लाख पद।

११. अवंध्य– छब्बीस करोड़ पद।

(दिगंबर परंपरा में 'अवंध्य' के स्थान पर 'कल्याण' शब्द प्रयुक्त किया गया है।)

१२. प्राणायु– एक करोड़ छप्पन लाख पद।

['प्राणायु' के स्थान पर दिगंबर परंपरा में 'प्राणवाद' शब्द प्रयुक्त हुआ है तथा इसका पद परिमाण तेरह करोड़ पद है।]

१३. क्रिया विशाल– नौ करोड़ पद।

१४. लोक बिन्दुसार– साढ़े बारह करोड़ पद।

ऊपर जो श्वेताम्बर और दिगंबर दोनों परंपराओं के ग्रंथों के अनुसार अंग आगमों का परिमाण बताया गया है, वह हजारों से लेकर लाखों तक की संख्या में है, लेकिन वर्तमान में जिस रूप में ये अंग ग्रंथ उपलब्ध है, उनका करीब चार सौ वर्ष पूर्व लिखे गए 'बृहट्टिपनिका' नामक ग्रंथ से निम्नलिखित श्लोक परिमाण ज्ञात होता है।

आचारांग– २५२५, सूत्र कृतांग २१००, स्थानांग ३६००, समवायांग १६६७, व्याख्या प्रज्ञप्ति (भगवती) १५७५२ (इकतालीस शतक युक्त), ज्ञाता धर्म कथा ५४००, उपासक दशा ८१२, अन्तकृद्दशा ८९९, अनुत्तरोपपातिक दशा १९२, प्रश्न व्याकरण १२५६, विपाक सूत्र १२१६। इन समस्त अंगों की कुल श्लोक संख्या का योग ३५३३९ है[१]।

---

१. भांडारकर ओरिएंटल रिसर्च इन्स्टीट्यूट के वॉल्युम १७ भाग १-३ में भी आगमों की पदपरिमाण

संख्या दी गई है।

उत्तरवर्ती काल में विभिन्न आचार्यों द्वारा निर्युक्ति, चूर्णि, वृत्ति, दीपिका, टीका, अवचूरी, पर्याय स्तबक आदि के रूप मे इन आगमों की व्याख्याएँ लिखी गईं, जिनसे अंगों के विषय में विशेष जानकारी प्राप्त होती है और इनका परिमाण हजारों श्लोक प्रमाण है। व्याख्याकारों में आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय), हरिभद्र सूरि, शीलांक, अभयदेव, मंलयगिरि, मलधारी हेमचंद्र आदि के नाम प्रमुख हैं।

अंग आगमों में सिर्फ तात्विक, दार्शनिक विचारों की ही मीमांसा नहीं की गई है, अपितु मानवीय जीवन को स्पर्श करने वाले प्रत्येक प्रश्न का समाधान किया गया है। धर्म विचारणा की तरह समाज, राज्य, व्यक्ति के विकास, व्यवस्था आदि का भी प्रसंगानुसार विवेचन किया गया है। उसका संकेत यथास्थान आगे किया जाएगा।

♣ दिगंबर परंपरा में अंग आगम

श्वेताम्बर और दिगंबर दोनों परंपराओं की यह मान्यता एक जैसी है कि आगमों के अध्ययन अध्यापन की परंपरा अखण्ड रूप में कायम नहीं रही। दुष्काल आदि के कारण आगम अक्षरशः सुरक्षित नहीं रखे जा सके, किन्तु इसके साथ दिगंबर परंपरा का यह मन्तव्य है कि वीर निर्वाण के ६८३ वर्ष बाद आगमों का सर्वथा विच्छेद-लोप हो गया, जबकि श्वेताम्बर परंपरा का मत है कि आगमों के पाठ खण्डित अवश्य हुए हैं, पाठ भेद भी हुए हैं, लेकिन अवशिष्ट अंश जैसा का तैसा आज भी सुरक्षित है।

अंग आगमों के सर्वथा विलुप्त हो जाने के दृष्टिकोण से दिगंबर परंपरा में अंग विषयक विशेष सामग्री तो प्राप्त नहीं होती, लेकिन जो सामग्री उपलब्ध है, उसमें अंगों के नाम, उनके विषय और पदपरिमाण का उल्लेख है। अंगों के नाम और पदपरिमाण का तो पूर्व में उल्लेख हो चुका है, अंगों के विषय का विवरण इस प्रकार है—

आचारांग– आठ शुद्धि, पाँच समिति, तीन गुप्ति आदि के रूप में श्रमणचर्या का वर्णन इस अंग में है।

सूत्रकृतांग– ज्ञान, विनय, कल्प्य, अकल्प्य, छेदोपस्थापनादि व्यवहार धर्म की क्रियाओं का इसमें निरूपण है।

स्थानांग– एक-एक, दो-दो आदि के रूप में अर्थों का वर्णन इस अंग में है।

समवायांग– इसमें समान रूप से सब पदार्थों के समवाय का विचार है।

व्याख्या प्रज्ञप्ति– जीव है या नहीं ? आदि साठ हजार प्रश्नों के उत्तर इसमें दिए गए हैं।

ज्ञातृ धर्म कथा– इसमें अनेक आख्यान और उपाख्यानों का संकलन है।

उपासकाध्ययन– इसमें श्रावक धर्म का विशेष विवेचन है।

अन्तकृद्दशा– प्रत्येक तीर्थंकर के समय में होने वाले उन दस-दस केवलियों का वर्णन इसमें है, जिन्होंने भयंकर उपसर्ग सहन कर मुक्ति प्राप्त की।

अनुत्तरोपपातिक दशा– प्रत्येक तीर्थंकर के समय में होने वाले उन दस-दस मुनियोंका वर्णन इसमें है, जिन्होंने दारुण उपसर्ग सहन कर पाँच अनुत्तर विमानों में जन्म लिया।

प्रश्न व्याकरण– युक्ति और नयों के द्वारा अनेक आक्षेप और विक्षेप रूप प्रश्नों के उत्तरों का इसमें संकलन है।

विपाक सूत्र– इसमें पुण्य और पाप के विपाक का विचार किया गया है।

दृष्टिवाद– इसमें तीन सौ तिरसठ एकान्त मतों का खण्डन है[१]।

अकलंक कृत तत्वार्थ राजवार्तिक में अंतकृद्दशा और अनुत्तरोपपातिक दशा नामक दो अंगों के अध्ययनों–प्रकरणों के नामों का उल्लेख किया गया है। यद्यपि इन नामों के अनुसार वर्तमान अंतकृद्दशा, अनुत्तरोपपातिक दशा में वे अध्ययन उपलब्ध नहीं हैं, लेकिन प्रतीत होता है कि राजवार्तिककार के सामने ये दोनों अंग अन्य वाचना वाले मौजूद रहे हों।

स्थानांग [२] में उक्त दोनों अंगों के अध्ययनों के जो नाम बताए हैं, उनसे राजवार्तिकगत नाम कितने ही मिलते हैं। अतएव यही कहा जा सकता है कि राजवार्तिक और स्थानांग के कर्ताओं के सामने एक ही वाचना के सूत्र रहे होंगे अथवा राजवार्तिक के कर्ता अकलंक ने स्थानांग में गृहीत अन्य वाचना को प्रमाणभूत मानकर ये नाम दिए हों। राजवार्तिक के समान ही धवला, जय धवला, अंगपण्णत्ति आदि में भी वैसे ही नाम उपलब्ध हैं।

दिगंबर परंपरा के प्रतिक्रमण सूत्र के पाठों में किन्हीं अंगों के अध्ययन की संख्या का उल्लेख है, जो श्वेताम्बर परंपरा में प्रसिद्ध संख्या से विशेष भिन्न नहीं है। उसकी प्रभाचंद्रीय वृत्ति में इन अध्ययनों के नाम व विस्तार से परिचय दिया गया है, जो श्वेताम्बर परंपरा से उपलब्ध नामों से हू ब हू मिलते हैं। अपराजित सूरि कृत दशवैकालिक वृत्ति का उल्लेख उनकी अपनी मूलाराधना की वृत्तियों में आया है। यह वृत्ति अभी अनुपलब्ध है। संभव है, इन अपराजित सूरि या दिगंबर परंपरा के अन्य आचार्यों ने अंग आदि आगमों पर वृत्तियाँ आदि लिखी हों, जो अधुना उपलब्ध न हो।

---

१. तत्वार्थ राजवार्तिक १/२०

२. स्थानांग १०/७५५

इसके अतिरिक्त दिगंबर परंपरा के आचार्य धरसेन, यतिवृषभ, कुन्दकुन्द, भट्ट अकलंक आदि ने समकालीन उपलब्ध आगमों अथवा उनसे पूर्व के उपलब्ध आगमों के आशय को ध्यान में रखते हुए जो नवीन ग्रंथों की रचना की, उनमें से आचार्य कुन्दकुन्द रचित साहित्य में आचार पाहुड़, सुत्तपाहुड़, स्थान पाहुड़, समवाय पाहुड़ आदि ऐसे अनेक ग्रंथ हैं, जिनका नाम सुनने से आचारांग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग आदि की स्मृति हो जाती है। प्रतीत होता है कि आचार्य कुन्दकुन्द ने इन पाहुड़ों की रचना इन अंगों के आधार पर की हो। इसी प्रकार षट् खंडागम, जय धवला, महाधवला आदि ग्रंथ भी आगमों के आधार पर बनाए होंगे, क्योंकि इनमें स्थान-स्थान पर परिकर्म आदि का निर्देश किया गया है। इससे अनुमान होता है कि इन ग्रंथों के निर्माताओं के सामने दृष्टिवाद के एक अंश परिकर्म का कोई भाग अवश्य रहा होगा। जिस प्रकार विशेषावश्यक भाष्यकार ने अपने भाष्य में अनेक स्थानों पर दृष्टिवाद के एक अंश रूप 'पूर्वगत' गाथा का निर्देश किया है, इसी प्रकार ये ग्रंथकार भी परिकर्म का निर्देश करते हैं।

उक्त प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि दिगंबर परंपरा के आचार्यों ने अपने सामने विद्यमान आगमों का अवलंबन लेकर नया साहित्य तैयार किया है। इसके अतिरिक्त दूसरा आशय यह भी फलित होता है कि उन ग्रंथकारों के समय में प्राप्त आगमों पर रचित ग्रंथों को तो दिगंबर परंपरा प्रमाणभूत मानने में किसी प्रकार की नं नु न च नहीं करती, किन्तु उन आगमों को प्रमाण नहीं मानती। इस विडम्बना के लिए पाठक स्वयं निर्णय करें।

इस प्रकार संक्षेप में अंग आगमों के बाह्य परिचय की रूपरेखा बताने के अनन्तर अब उत्तरवर्ती प्रकरणों में अंग ग्रंथों का आन्तर परिचय देते हैं।

¤

अध्याय ५

अंग आगमों का आन्तर परिचय

अंग आगमों के बाह्य परिचय के संदर्भ में अंगों के नाम, उनका पद परिमाण, क्रमशैली, नामों का अर्थ, विषय विवेचन की पद्धति इत्यादि का परिचय कराया गया है। लेकिन इतने मात्र से ही उनके महत्व का बोध नहीं होता। अतः उनके आंतर परिचय को शास्त्रीय दृष्टिकोण से उपस्थित करते हैं।

अंग आगमों को श्वेताम्बर और दिगंबर दोनों जैन परंपराएँ मानती हैं। दोनों ने निर्दिष्ट अंगों के विषयों का उल्लेख किया है। उनका सारांश नीचे लिखे अनुसार है।

♣ १. आचारांग

अंग आगमों में आचारांग पहला आगम है। दिगंबर परंपरा के तत्त्वार्थ राजवार्तिक, धवला, जय धवला, गोम्मटसार जीवकाण्ड, अंग पण्णत्ति आदि ग्रंथों में बताया गया है कि आचारांग में मनशुद्धि, वचन शुद्धि, काय शुद्धि, भिक्षा शुद्धि, इर्या शुद्धि, उत्सर्ग शुद्धि शयनासन शुद्धि तथा विनय शुद्धि इन आठ प्रकार की शुद्धियों का वर्णन किया गया है। इसके अतिरिक्त उन ग्रंथों में आचारांग के श्रुत स्कंध, अध्ययन आदि के विषय में कोई उल्लेख नहीं मिलता। पद परिमाण संख्या का उल्लेख अवश्य मिलता है। वह पूर्व में बतला आए हैं।

आचारांग के विषय का श्वेताम्बर परंपरा के समवायांग और नंदीसूत्र में वर्णन किया गया है। समवायांग सूत्र में बताया है कि श्रमण संबंधी आचार, गोचर, विनय, वैनयिक, स्थान, गमन, चंक्रमण, प्रमाण, योग योजना, भाषा, समिति, गुप्ति शैया, उपधि, आहार पानी संबंधी उद्गम, उत्पाद, एषणा, विशुद्धि एवं शुद्धा शुद्ध ग्रहण, व्रत, नियम, तप, उपघात, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य इन पाँच आचार विषयक सुप्रशस्त विवेचन आचारांग में किया गया है।

नंदीसूत्र में भी इसी के समकक्ष वर्णन है कि आचारांग में बाह्य आभ्यन्तर परिग्रह से रहित श्रमण निर्ग्रंथों के आचार गोचर (भिक्षा ग्रहण करने की विधि), विनय, विनय का फल, ग्रहण और आसेवन रूप शिक्षा, भाषा, अभाषा, चरण करण (व्रतादि, पिण्डविशुद्धि आदि), यात्रा (संयम यात्रा के निर्वाह के लिए परिमित आहार ग्रहण करना), विविध अभिग्रह विषयक वृत्तियों, ज्ञानाचार आदि पाँच प्रकार के आचार का प्रतिपादन किया गया है।

इस प्रकार समवायांग और नंदी के निरूपण में यह समानता है कि महापुरुषों द्वारा सेवन की गई ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आराधना को आचार कहते हैं और उस आचार का प्रतिपादन करने वाला आगम आचारांग है। वैसे तो आचारांग के जिन वर्ण्य विषयों का ऊपर उल्लेख किया गया है, वे इतने व्यापक हैं कि शेष ग्यारह अंगों में भी यत्र तत्र उनकी चर्चा की गई है, लेकिन आचारांग में इन्हीं वषयों की चर्चा है और उसका प्रतिपादन विषय श्रमणाचार का सविस्तार वर्णन करना है। अतः आचारांग का यह नाम सार्थक है। क्या वर्तमान उपलब्ध आचारांग में भी उपर्युक्त विषयों का निरूपण किया गया है? इसका स्पष्टीकरण यथास्थान आगे किया जा रहा है।

♣ २. सूत्रकृतांग

दूसरे अंग आगम का नाम सूत्रकृतांग है। समवायांग सूत्र में इसके परिचय में बताया है कि इसमें स्वसमय, पर-समय (स्वमत, पर मत), जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बंध, मोक्ष आदि तत्वों, नवदीक्षितों के लिए बोधवचन, क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी, विनयवादी दृष्टियों की चर्चा की गई है। इसके अतिरिक्त तेईसवें समवाय में इसके तेईस अध्ययनों के विशेष नामों का उल्लेख भी है। श्रमणसूत्र में भी इसके तेईस अध्ययनों का निर्देश है कि प्रथम श्रुतस्कंध में सोलह और द्वितीय श्रुतस्कंध में सात अध्ययन है, लेकिन अध्ययनों के नाम नहीं दिए हैं।

नंदीसूत्र में इसके वर्ण्य विषय के लिए सूचित किया है कि सूत्र कृतांग में लोक, अलोक, लोकालोक, जीव-अजीव, जीवाजीव, स्वमत, परमत तथा क्रियावादी-अक्रियावादी आदि तीन सौ तिरसठ पाखण्डियों, अन्य धर्मावलम्बियों की चर्चा है। सूत्रकृतांग में परिमित वाचनाएँ हैं तथा संख्यात अनुयोग द्वार, संख्यात छंद, संख्यात श्लोक आदि है।

राजवार्तिक के अनुसार सूत्रकृतांग में ज्ञान, विनय, कल्प्य, अकल्प्य, छेदोपस्थापना, व्यवहार धर्म एवं क्रियाओं का वर्णन है। धवला में भी राजवार्तिक गत उल्लेख का संकेत किया गया है, लेकिन स्वसमय, पर-समय का उल्लेख विशेष है। जयधवला में कहा है कि सूत्रकृतांग में स्वसमय, पर-समय, स्त्रीपरिणाम, क्लीबता, अस्पष्टता, मन की बातों की, कामावेश विभ्रम, आस्फालन सुख, स्त्री संसर्गज सुख, पुरुषेच्छा आदि चर्चा है। अंग पण्णति के अनुसार ज्ञान, विनय, निर्विघ्न अध्ययन, सर्व सत्क्रिया, प्रज्ञापना सुकथा, कल्प्य, व्यवहार, धर्म क्रिया, छेदोपस्थापना, यति, स्वसमय, पर-समय एवं क्रिया भेद का सूत्रकृतांग में निरूपण है। दिगंबर परंपरा में भी इसके तेईस अध्ययन बताए हैं[१]। श्वेताम्बर टीका ग्रंथ[२] और दिगंबर परंपरा के ग्रंथों में इन नामों में थोड़ा सा अन्तर अवश्य है, लेकिन वह नगण्य जैसा है।

---

१. प्रतिक्रमण ग्रंथत्रयी प्रभाचंद्रीय वृत्ति

२. आवश्यक वृत्ति ६५१, ६५८

♣ ३-४. स्थानांग-समवायांग

अंग आगमों में विशेषतः उपदेशात्मक एवं मुमुक्षुओं के लिए विधि निषेध परक वचन दिखाई देते हैं। कुछ में तो ये वचन सीधे रूप में और कुछ में कथाओं, संवादों एवं रूपकों के माध्यम से व्यक्त किए गए हैं। लेकिन स्थानांग-समवायांग में ऐसे वचनों का विशेष अभाव है। इन दोनों सूत्रों के अध्ययन से प्रतीत होता है कि ये कोष हैं। अन्य आगमों की अपेक्षा इनके नाम और विषय सर्वथा भिन्न प्रकार के हैं। इन अंगों की विषय निरूपण शैली से यह स्पष्ट होता है कि स्मृति और धारणा की सुविधा के लिए अथवा विषयों की खोज की सरलता को दृष्टि में रखकर इन आगम ग्रंथों की रचना की गई है। इसीलिए स्थानांग में एक-एक, दो-दो आदि के रूप से पदार्थों का वर्णन है और समवायांग में जीवादि पदार्थों का यथावस्थित रूप में सम्यक प्रकार से निर्णय करने के लिए सब पदार्थों का समानता रूप समवाय किया है और जो-जो विषय जिस-जिस में गर्भित हो सकते हैं, उनका निरूपण है।

♣ ५. व्याख्या प्रज्ञप्ति

यह पाँचवाँ अंग प्रविष्ट आगम है और व्याख्या प्रधान है। इसमें जीव, अजीव, जीवाजीव, स्वसमय, परसमय, स्व-पर-समय, लोक, अलोक, लोकालोक आदि की विविध रूप से व्याख्या की गई है। संक्षेप में हम यों कह सकते हैं कि जीव है या नहीं, आदि प्रश्नों के उत्तर दिए जाने से इसका नाम सार्थक है।

♣ ६. ज्ञाता धर्म कथा

प्रस्तुत अंग आगम में अनेक आख्यानों और उपाख्यानों के द्वारा ऐसी सत् शिक्षा दी गई है कि जिनके पढ़ने, सुनने से पाठक या श्रोता का मन धर्म में प्रवृत्त हो जाता है। इस अंग में तत्कालीन समाज, राज्य आदि से संबंधित अनेक विषयों का उल्लेख होना स्वाभाविक है।

♣ ७. उपासक दशा

अन्य आगमों में तो प्रधानतः श्रमणाचार का ही निरूपण है, लेकिन उपासक दशा ही एक ऐसा आगम है, जिसमें गृहस्थ धर्म से संबंधित वर्णन किया गया है। इससे पता लगता है कि श्रावक के आचार, अनुष्ठान आदि का क्या रूप होना चाहिए। श्रमणाचार की तरह श्रावकाचार का भी महत्व है। क्योंकि श्रमण वर्ग को अपनी साधना के अनुरूप साधन उपलब्ध न हो, तो श्रमण धर्म टिक नहीं सकता। श्रावक वर्ग जितना सदाचारी और न्याय नीतिनिष्ठ होगा, तदनुरूप श्रमण वर्ग में सबलता

आएगी और श्रमण धर्म की नींव भी उतनी ही दृढ़ बनेगी। श्रावक वर्ग में सदाचार और सद्विचार की प्रतिष्ठा करना इसका उद्देश्य है।

♣ ८. अन्तकृत दशा

यह आठवाँ अंग आगम है। अन्तकृत अर्थात् संसार का अन्त करने वाला। अर्थात् जिन्होंने अपने संसार भयचक्र, जन्म-मरण का अंत किया है, जो पुनः जन्म मरण के चक्र में फँसने वाले नहीं हैं, ऐसे जीवों का वर्णन जिसमें हो, वह अन्तकृत दशांग है। दिगंबर परंपरा में भी अन्तकृत दशा का यही आशय लिया गया है। राजवार्तिक आदि दिगंबर ग्रंथों में अन्तकृतों के जो नाम हैं, वे स्थानांग में उल्लिखित नामों से अधिकांशतया मिलते-जुलते हैं।

♣ ९. अनुत्तरोपपातिक दशा

नव ग्रैवेयक विमानों के ऊपर विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित एवं सर्वार्थ सिद्धि ये पाँच अनुत्तर विमान है। ये विमान सब देव विमानों में सर्वश्रेष्ठ हैं। इनसे श्रेष्ठतर अन्य विमान नहीं है। जो व्यक्ति अपने तप एवं संयम द्वारा इन विमानों में उपपात अर्थात् जन्म ग्रहण करते हैं, उन्हें अनुत्तरोपपातिक कहते हैं। इस आगम में इसी प्रकार के मनुष्यों की दशाओं का वर्णन है। दिगंबर परंपरा के ग्रंथों में भी इसका यही वर्ण्य विषय माना गया है। इसमें कथाओं के माध्यम से आचार-विचार के सिद्धांतों का प्रतिपादन किया गया है।

♣ १०. प्रश्नव्याकरण

इस दसवें अंग आगम का परिचय श्वेताम्बर और दिगंबर दोनों परम्पराओं के ग्रंथों में मिलता है। समवायांग में बताया गया है कि प्रश्न व्याकरण में १०८ प्रश्न, १०८ अप्रश्न और १०८ प्रश्नाप्रश्न है, जो मंत्र विद्या एवं अंगुष्ठ प्रश्न, बाहु प्रश्न, दर्पण प्रश्न आदि विद्याओं से संबंधित है। इसमें पैंतालीस अध्ययन हैं। नन्दी सूत्र में भी प्रश्नों आदि की संख्या १०८, १०८ बताई है तथा कहा है कि इसमें अंगुष्ठ प्रश्न, बाहुप्रश्न, आदर्श प्रश्न आदि विचित्र विद्यातिशयों का वर्णन है। नागकुमारों व सुपर्ण कुमारों के साथ मुनियों के दिव्य संवाद हैं और पैंतालीस अध्ययन है। राजवार्तिक में इसका वर्ण्य विषय युक्ति और नयों द्वारा अनेक आक्षेप और विक्षेप रूप प्रश्नों का उत्तर देना बताया है। इस वर्णन से ऐसा मालूम होता है कि इस अंग में सुप्रश्न, कुप्रश्न, निमित्त विज्ञान आदि का संग्रह किया गया होगा।

♣ ११. विपाक सूत्र

इस आगम में पुण्य-पाप के सुख-दुःखादि रूप विपाक का वर्णन है। दोनों जैन परंपराएँ इसके वर्ण्य विषय को एक जैसा मानती है।

♣ १२. दृष्टिवाद

यह बारहवाँ अंग अनुपलब्ध है, अतः इसका पूरा परिचय दिया जाना संभव नहीं है। फिर भी नंदीसूत्र में इसका जो परिचय दिया गया है, वह इस प्रकार है—

इसमें एक श्रुतस्कंध है, चौदह पूर्व हैं, संख्यात वस्तु अध्ययन विशेष, संख्यात चूलिका वस्तु, संख्यात प्राभृत, संख्यात प्राभृत-प्राभृत, संख्यात प्राभृतिकाएँ और संख्यात प्राभृतिका प्राभृतिकाएँ हैं। यह परिमाण में संख्यात पद सहस्र है। अक्षर संख्यात और अनन्त गम अर्थ है। अनन्त पर्याय है। इसमें त्रस स्थावर जीवों, धर्मास्तिकाय आदि शाश्वत पदार्थों एवं क्रियाजन्य पदार्थों का परिचय है। इस प्रकार जिन प्रणीत समस्त भावों का निरूपण इस बारहवें अंग में उपलब्ध है, दृष्टिवाद का अध्ययन करने वाला तद्रूप आत्मा हो जाता है। भावों का यथार्थ ज्ञाता और विज्ञाता बन जाता है।

यद्यपि यह बाहरवाँ अंग भद्रबाहु के समय से ही नष्ट प्राय है, परंतु उत्तरवर्ती काल के श्वेताम्बर व दिगंबर परंपराओं के ग्रंथों में दृष्टिवाद के पाँच-पाँच अधिकारों का उल्लेख करके उनके भेद-प्रभेद एवं तद्गत वर्ण्य विषयों का जो संकेत दिया है, उससे प्रतीत होता है कि उनके सामने श्रुति परंपरा से दृष्टिवाद के बारे में कुछ न कुछ जानकारी अवश्य उपलब्ध थी। अन्यथा सर्वथा अप्राप्त वस्तु का वर्णन कैसे हो सकता है? नंदीसूत्र में पाँच अधिकारों का नाम इस प्रकार बताए हैं—परिकर्म, सूत्र, पूर्वगत, अनुयोग और चूलिका। धवला में भी यही नाम है, लेकिन अनुयोग के स्थान पर प्रथमानुयोग शब्द प्रयुक्त हुआ है। अनेक ग्रंथकारों ने अपने-अपने ग्रंथों के कुछ वर्ण्य विषयों को पूर्वगत बताया है। अतः इन कतिपय सांकेतिक बिन्दुओं से संतोष करना होगा कि बारहवाँ दृष्टिवाद आगम अनुपलब्ध अवश्य है, लेकिन उसका अल्पतम अंश विभिन्न आचार्यों ने अपने ग्रंथों में सुरक्षित रखकर उसकी महत्ता का आभास कराया है।

इस प्रकार यहाँ प्राचीन ग्रंथों के आधार से अंग आगमों के परिचय का संकेत किया गया है। उसके अनुसार उपलब्ध आगमों में भी वर्ण्य विषय है या नहीं और है तो किस रूप में? आदि की जानकारी आगामी अध्याय में दी जा रही है। ¤

अध्याय ६

उपलब्ध अंग आगमों का परिचय

अंग आगमों की संकलना के बारे में पहले यह बताया जा चुका है कि तीर्थंकर परमात्मा अपना जो आशय प्रकट करते हैं, गणधर भगवन्त उस आशय को अपनी-अपनी शैली से शब्दबद्ध करते हैं। इसका फलितार्थ यह हुआ कि एक गणधर की जो शैली व शब्द रचना हो, वही दूसरे की हो भी और नहीं भी हो। इसलिए नंदीसूत्र व समवायांग में बताया गया है कि प्रत्येक अंग सूत्र की वाचना एक या एक से अधिक होती है।

भगवान महावीर के ग्यारह गणधर थे। उनमें से कुछ तो भगवान की उपस्थिति में ही मुक्ति प्राप्त कर चुके थे। सिर्फ सुधर्मास्वामी उनमें दीर्घायु थे। अतः भगवान के समस्त प्रवचन का उत्तराधिकार उन्हें मिला था। उन्होंने उसे सुरक्षित रखा और अपनी शैली व शब्द रचना में आगे की शिष्य-प्रशिष्य परंपरा को सौंपा। इस परंपरा ने कंठस्थ करके एक लंबे काल तक उसे सुरक्षित रखा। सारांश यह है कि आज के अंग आगम आर्य सुधर्मा की शैली-शब्द रचना के रूप में है। वर्तमान में दृष्टिवाद के अतिरिक्त शेष ग्यारह अंग आगम उपलब्ध हैं। दृष्टिवाद की अनुपलब्धि का कारण यह है कि आचार्य भद्रबाहु को यह याद था, लेकिन उनके बाद उसके ज्ञाता क्रमशः काल कवलित होते गए। इस कारण उनके बाद अधिक लंबे काल तक वह विद्यमान नहीं रहा। शेष ग्यारह अंग उपलब्ध हैं, लेकिन उनमें से भी आज बहुत सा अंश विलुप्त हो चुका है। विलुप्त क्यों हो गया? इसके कारणों का पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है।

वर्तमान में अंगों का जो लिपिबद्ध रूप है, वह देवर्द्धिगणि क्षमाश्रमण के प्रयत्नों का परिणाम है। उन्होंने आगमों को लिपिबद्ध अवश्य किया-कराया लेकिन उस समय अनेक पाठान्तर, दो वाचनाएँ तथा उनके पूर्व भी मथुरा, वल्लभी वाचना के भी शास्त्र मौजूद थे। उनमें से जिनका समन्वय हो सका, उनका समन्वय करके और शेष को पाठान्तर के साथ पुस्तकबद्ध कर दिया[1]। इसमें से भी बाद में कुछ न कुछ अंश और नष्ट न हुआ हो, इस संभावना से इनकार नहीं किया जा सकता। यह बात सर्वविदित है कि देश की राजनैतिक परिस्थितियों के कारण बहुत-सा साहित्य नष्ट हुआ है। अतः यहाँ आगमों के उसी रूप का परिचय दिया जा रहा है, जिस रूप में आज वे उपलब्ध हैं।

---

१. *कलिंग सम्राट खारवेल ने भी अपने समय में जिन प्रवचनों के समुद्धार का प्रयत्न किया था,* ऐसा खण्डगिरि उदयगिरि के शिलालेख से ज्ञात होता है तथा हिमवंत थेरावली से भी यह जानकारी मिलती है, लेकिन इस संबंध में अन्य किसी जैन ग्रंथ में उल्लेख नहीं मिलता।

♣ १. आचारांग

आचारांग पहला आगम है। प्राकृत भाषा में आचार के पर्यायवाची नाम हैं—आचार, आचाल, आगाल, आगर, आसास, आयरिस, अंग, आइण्ण, आजाति एवं आमोक्ष। इनमें 'आयार' शब्द जनविश्रुत है, जिसका संस्कृत रूप आचार है।

उपलब्ध आचारांग के दो श्रुत स्कंध है। प्रथम श्रुत स्कंध के नौ अध्ययन है—१. शस्त्र परिज्ञा, २. लोक विजय, ३. शीतोष्णीय, ४. सम्यकत्व, ५. यावन्त,[१] ६. धूत, ७. विमोह या विमोक्ष, ८. उपधान श्रुत, ९. महापरिज्ञा[२]।

नंदीसूत्र की हारिभद्रीय तथा मलयगिरि कृत टीका व आचारांग निर्युक्ति में इन नामों के क्रम में परिवर्तन करके उन्हें आगे-पीछे रखा है, लेकिन अध्ययनों की संख्या नौ है। प्रथम श्रुतस्कंध का अपरनाम ब्रह्मचर्य भी है और नौ अध्ययन होने से 'नव ब्रह्मचर्य' भी कहते हैं।

प्रथम अध्ययन शस्त्र परिज्ञा में सात उद्देशक-प्रकरण हैं। प्रथम उद्देशक में जीव के अस्तित्व तथा आगे के छह उद्देशकों में पृथ्वीकाय आदि छह जीव निकायों के आरंभ समारंभ की चर्चा है। इन प्रकरणों में 'शस्त्र' शब्द का अनेक स्थानों में प्रयोग किया गया है, लेकिन प्रचलित लाठी, तलवार, बंदूक आदि के लिए नहीं। इन लौकिक शस्त्रों की अपेक्षा सर्वथा भिन्न प्रकार के शस्त्र के लिए किया है। क्योंकि आचारांग श्रमण आचार से संबंधित आगम ग्रंथ है। श्रमणाचार का साध्य वीतरागता एवं आत्मशुद्ध है। अतः ऐसी स्थिति में बंदूक आदि शस्त्रों का विवेचन कैसे संभव हो सकता है। ऐसे शस्त्र स्पष्ट रूप से हिंसक है। अतः आचारांग की दृष्टि में क्रोध, मान, माया, लोभ, कषाय, राग, द्वेष, ईर्ष्या, मात्सर्य आदि कषाय भाव ही भयंकर शस्त्र है। इन कषायों के द्वारा ही बंदूक आदि शस्त्रास्त्र उत्पन्न हुए हैं और होते हैं। इस दृष्टि से कषाय जन्य समस्त प्रवृत्तियाँ शस्त्र रूप है। इस शस्त्र परिज्ञा अध्ययन में कषाय रूप अथवा कषायजन्य प्रवृत्ति रूप शस्त्रों का ही ज्ञान कराया गया है। अतएव शब्दार्थ की दृष्टि से इस अध्ययन का 'शस्त्र परिज्ञा' नाम सार्थक है।

द्वितीय अध्ययन लोक विजय में छह उद्देशक हैं। इस अध्ययन में अनेक स्थानों पर लोक शब्द का प्रयोग तो मिलता है, किन्तु 'विजय' शब्द का प्रयोग दिखाई नहीं देता। फिर भी समग्र अध्ययन में लोक विजय का ही उपदेश होने से इसका नाम लोकविजय युक्ति संगत है। यहाँ विजय का अर्थ लोकप्रसिद्ध शस्त्रास्त्र द्वारा विजय

---

(१) दूसरा नाम लोकसार भी है। इस नामकरण के कारण का स्पष्टीकरण आगे देखिए।
(२) समवायांग, समवाय ९

प्राप्ति नहीं, किन्तु लोक अर्थात् संसार के मूल कारण क्रोध, मान, माया और लोभ इन चार कषायों को जीतना है, इन पर विजय प्राप्त करना है। यही इस अध्ययन का सार है। इस अध्ययन का पूर्ण उद्देश्य वैराग्य वृद्धि, संयम में दृढ़ता, जातिगत अभिमान को दूर करना, भोगों की आसक्ति से दूर रहना, भोजनादि के निमित्त से होने वाले आरंभ समारंभ का त्याग करवाना और छुड़वाना आदि हैं।

तृतीय अध्ययन 'शीतोष्णीय' में चार उद्देशक हैं। यहाँ शीत और उष्ण शब्द लोक प्रचलित सर्दी, गर्मी, ठण्ड, गरम अर्थ में नहीं, किन्तु शीत अर्थात् शीतलता या सुख एवं उष्ण अर्थात् परिताप या दुःख के लिए प्रयुक्त है। इस अध्ययन में इन दोनों के त्याग का उपदेश है। प्रथम उद्देशक में असंयमी को सुप्त अर्थात् सोते हुए व्यक्ति की कोटि में गिनकर उसका वर्णन किया गया है। दूसरे उद्देशक में बताया गया है कि इस प्रकार के सुप्त व्यक्ति महान दुःख का अनुभव करते हैं। तृतीय उद्देशक में बताया है कि श्रमण के लिए केवल दुःख सहन करना अर्थात् देहदमन करना ही पर्याप्त नहीं, किन्तु उसे चित्त शुद्धि की वृद्धि करते रहना चाहिए और उसके लिए मनोनिग्रह जरूरी है। चतुर्थ उद्देशक में कषाय एवं पाप कर्मों के त्याग तथा संयमोत्कर्ष का निरूपण है। इस अध्ययन के प्रारंभ में 'सीओसिणच्चाइ' (शीतोष्ण त्यागी) इस शब्द का प्रयोग किया गया है, अतः इसका शीतोष्णीय नाम सार्थक है।

चौथे अध्ययन का नाम सम्यक्त्व है और इसके भी चार उद्देशक हैं। अनेक स्थानों में 'सम्मत दसिणो' 'सम्मं एवं ति' आदि वाक्यों में सम्मत सम्यक्त्व शब्द का निर्देश है, अतः इसका सम्यक्त्व यह नाम सार्थक है। इसके प्रथम उद्देशक में अहिंसा धर्म की स्थापना व सम्यक्त्ववाद का निरूपण है। द्वितीय उद्देशक में हिंसा की स्थापना करने वाले अन्य यूथिकों से प्रश्न किया है कि उन्हें मन की अनुकूलता सुख रूप प्रतीत होती है या मन की प्रतिकूलता ? इस प्रकार इसमें भी अहिंसा का ही प्रतिपादन है। तीसरे उद्देशक में निर्दोषतम अर्थात् अक्रोध, अलोभ, क्षमा, संतोष आदि गुणों की वृद्धि करने वाले तप का विवेचन है। चौथे उद्देशक में सम्यक्त्व, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र एवं सम्यक तप प्राप्ति के लिए यत्न करने का उपदेश है। इस प्रकार यह अध्ययन सम्यक्त्व प्राप्ति की प्रेरणा देने वाला है।

पाँचवां अध्ययन 'यावन्ति' है। निर्युक्तिकार के मत से इसका दूसरा नाम लोकसार भी है। अध्ययन के प्रारंभ, मध्य और अंत में 'आवन्ति' शब्द का प्रयोग होने से इसे आवंति (यावन्ति) नाम दे सकते हैं, लेकिन इस अध्ययन में जो वर्णन है, वह समग्र लोक का सार रूप होने से लोकसार यह नाम भी उपयुक्त है। अध्ययन के प्रारंभ में 'लोक' शब्द प्रयुक्त किया गया है एवं अन्यत्र भी लोक शब्द का प्रयोग देखने

को मिलता है, लेकिन 'सार' शब्द का प्रयोग कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता। हाँ, अध्ययन के अंत में शब्दातीत एवं बुद्धि तत्व से अगम्य आत्म तत्व का निरूपण है। यही निरूपण सार रूप है। इसीलिए संभवतः इसका लोकसार नाम रखा गया है।

इसके छह उद्देशक हैं, जिनके वर्ण्य विषय क्रमशः इस प्रकार हैं—

१. हिंसक, आरंभी और विषय लोलुपी मुनि नहीं हो सकता। २. अहिंसा—हिंसादि पाप कार्यों से निवृत्त होने वाला ही श्रमण कहलाता है। ३. मुनि किसी प्रकार का परिग्रह न रखे और न काम भोगों की इच्छा करे। ४. आयु एवं विद्या की योग्यता से विहीन अगीतार्थ एवं सूत्रार्थ में निश्चय रहित साधु एकल विहारी होने से बहुत से दोषों का सेवन करता है। ५. जलाशय के दृष्टांत द्वारा मुनि को सदाचार की शिक्षा दी गई है। ६. आत्म साधक के लिए उन्मार्ग एवं राग द्वेष का त्याग करना चाहिए। इस प्रकार इसमें सामान्य श्रमणचर्या का प्रतिपादन किया गया है।

छठे अध्ययन का नाम धूत है। अध्ययन के प्रारंभ में ही 'अग्घाई से धूयं नाणं' इस वाक्य में धूय-धूत शब्द का एवं आगे भी 'धूयं वायं पवे एस्सासि' में धूतवाद का उल्लेख होने से इस अध्ययन का धूत नाम सार्थक है। धूत का अर्थ होता है—धोना, झटकाना या दूर करना अथवा साफ करना। इस अध्ययन में आत्मा को मलिन बनाने वाले तृष्णा, मोह, लोभ आदि दोषों को झटककर आत्मा को साफ करने का उपदेश है। इसके पाँच उद्देशक हैं। उनमें से पहले में स्वजन संबंधियों को छोड़कर धर्म में प्रवृत्त होने का दूसरे में कर्मफल को आत्मा से दूर रखने का, तीसरे में मुनि को अल्प उपकरण रखने और यथासंभव कायक्लेश आदि करने का, चौथे में मुनि को सुखों में मूर्च्छित न होने का और पाँचवें में मुनि को संकटों से भयभीत न होने एवं प्रशंसा से प्रसन्न न होने का उपदेश दिया गया है। सारांश यह है कि आत्मार्थी को शयन, स्वजन, उपकरण, शरीर, इंद्रिय विषय, वैभव सत्कार आदि की तृष्णा को झटककर साफ कर देना चाहिए।

सातवें अध्ययन का नाम महापरिज्ञा है। वर्तमान में यह अध्ययन तो अनुपलब्ध है, लेकिन इस पर लिखी निर्युक्ति प्राप्त है। इससे ज्ञात होता है कि उस समय यह अध्ययन उपलब्ध रहा होगा। निर्युक्तिकार ने इसके विषय का संकेत करते हुए बताया है कि साधक को परीषहों के सिरमौर और ब्रह्मचर्य के विघातक स्त्री परीषह एवं उपसर्ग को तथा इसी प्रकार के अन्य मोहजन्य परीषहों व उपसर्गों पर विजय प्राप्त *करने एवं सहने में तत्पर रहना चाहिए। किसी भी स्थिति में इस प्रकार के मोहपाश* में नहीं फँसना चाहिए।

इस अध्ययन के विलुप्त होने का पण्डित बेचरदासजी के शब्दों में यह कारण

हो सकता है कि भगवान महावीर कृत आचार विधानों में ब्रह्मचर्य अर्थात् त्रिविध स्त्री (देव, मनुष्य, तिर्यंच) संसर्ग त्याग प्रधान है। परंपरा से चले आए चार यामोंचार महाव्रतों में भगवान महावीर ने ब्रह्मचर्य व्रत को अलग से जोड़ा। इससे पता चलता है कि भगवान महावीर के समय में एतद् विषयक कितनी शिथिलता रही होगी। इसी प्रकार के उग्र शैथिल्य एवं आचार पतन के युग में कोई विघ्न संतोषी इस अध्ययन को लोप में कदाचित निमित्त बना हो, तो कोई आश्चर्य नहीं। इस अध्ययन में सात उद्देशक थे।

आठवें अध्ययन के दो नाम है- विमोक्ष और विमोह। विमोक्ष का अर्थ है-अलग हो जाना, साथ में न रहना और विमोह का अर्थ है-मोह न रखना, संसर्ग न रखना। इस अध्ययन के आठ उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में जिन अनगारों का आचार अपने आचार से न मिलता दिखाई दे; उनके संसर्ग से मुक्त रहने, उनके साथ न रहने, मोह न रखने का, दूसरे में दूषित आहार-पानी, वस्त्र आदि त्यागने-मोह न रखने का, तीसरे में शरीर कंप होने पर, किसी के द्वारा आवेश से कंपित होने की आशंका होने पर या शरीर कंप किया जाने पर उसकी शंका को दूर करने, उसे शंका से मुक्त करने का, चौथे में परिवर्तन स्थिति या कारण विशेष होने पर मुनि को मरने का विचार नहीं करने का- संयम पालन में तत्पर रहने का, पाँचवे में रोग ग्रस्त होने पर मुनि को भक्तपरिज्ञा पूर्वक शरीर त्यागने का, छठे में धैर्य वाले मुनि को इंगित मरण करने का, सातवें में उसे पादोपगमन करने का एवं आठवें में कालपर्याय में से तीनों मरणों की विधियों का वर्णन किया गया है। सारांश यह है कि इस अध्ययन में बताया गया है कि श्रमण धर्म को विकृत बनाने के कारणभूत असाधु, दूषित आहार-पानी, मानसिक-वाचिक-कायिक कुचेष्टाओं आदि को त्यागने-संसर्ग न रखने के साथ साथ उपकरण, शरीर के विमोक्ष विमोह एवं यदि ऐसी शारीरिक परिस्थिति उपस्थित हो जाये कि अब संयम की सुरक्षा संभव नहीं है या अनुकूल-प्रतिकूल उपसर्गों के कारण संयम भंग होने की स्थिति उत्पन्न हो जाए, तो जीवन का मोह छोड़ने में तत्पर रहना चाहिए।

उपधान श्रुत नौवाँ अध्ययन है। इसके चार उद्देशक हैं। उनमें श्रमणचर्या की अंगभूत तपशुद्धि, भिक्षाशुद्धि आदि शुद्धियों का भगवान महावीर की साधना के रूपक द्वारा विवेचन किया गया है। प्रथम उद्देशक में दीक्षा लेने के बाद भगवान ने जो कुछ भी सहन किया, उसका वर्णन है। दूसरे और तीसरे उद्देशक में भगवान ने कैसे-कैसे स्थानों पर निवास किया और कैसे-कैसे परीषह सहन किए, यह बताया है। चतुर्थ उद्देशक में बताया है कि भगवान ने किस प्रकार तपश्चर्या की, भिक्षाचर्या में कैसा क्या

शुष्क भोजन लिया, कितने समय तक पानी पीया या नहीं पीया इत्यादि। अर्थात् इस अध्ययन में श्रमण भगवान महावीर की चर्या के माध्यम से जिस प्रकार की साधुचर्या का वर्णन किया गया है, वैसा ही साधना करने के लिए श्रमण वर्ग को ध्यान दिलाया है।

प्रथम श्रुत स्कंध के नौ अध्ययनों के कुल मिलाकर इकावन उद्देशक हैं, लेकिन सातवें अध्ययन महापरिज्ञा के सातों उद्देशक नष्ट हो जाने से वर्तमान में चवालीस उद्देशक उपलब्ध हैं।

द्वितीय श्रुतस्कंध का नाम आचाराग्र भी है। इसका दूसरा नाम आचार कल्प अथवा आचारप्रकल्प भी है, जिसका उल्लेख निर्युक्ति, स्थानांग व समवायांग में मिलता है, जिसका नंदीसूत्र में कालिक सूत्रों की गणना में 'निसीह' नाम से उल्लेख किया गया है।

प्रथम चूलिका में सात अध्ययन है—१ पिण्डैषणा, २. शैयैषणा, ३. इर्यैषणा, ४. भाषा जातैषणा, ५. वस्त्रैषणा, ६. पात्रैषणा और ७. अवग्रहैषणा। पहले में गोचरी के नियम तथा सदोष-निर्दोष आहार का विवेचन है। इसके ग्यारह उद्देशक हैं, जिनमें आहार गवेषणा, कल्प्य, अकल्प्य आहार लेने न लेने, सचित्त-अचित्त, आहार गवेषणा के समय मुनि कि वर्तना आदि का सविस्तार वर्णन किया गया है। अर्थात् आहार गवेषणा विषयक सभी नियमों का मर्यादाओं का सर्वांगीण विस्तृत वर्णन इस अध्ययन में है। दूसरे शैयैषणा अध्ययन में वासस्थान की गवेषणा का विचार है। इसके तीन उद्देशक हैं। ईर्यैषणा अध्ययन में मुनि के लिए गमनागमन तथा विहार के नियम बतलाए हैं। इसमें भी तीन उद्देशक हैं। चौथे भाषा जातैषणा में भाषा के प्रकारों एवं मुनि को कैसी भाषा का प्रयोग करना चाहिए, इसका विवेचन है। इसके दो उद्देशक हैं। पाँचवें वस्त्रैषणा अध्ययन में मुनि को कैसे वस्त्र और किस प्रकार के वस्त्र लेना चाहिए, यह विचार किया गया है। इसमें दो उद्देशक हैं। छठे पात्रैषणा अध्ययन में पात्र को ग्रहण करने की विधि व नियम बताए हैं। इसके दो उद्देशक हैं। सातवें अवग्रहैषणा अध्ययन में साधु के योग्य उपाश्रय देखने व उसकी प्राप्ति की विधि का वर्णन है। इन अध्ययनों के नामों की योजना तदन्तर्गत विषयों को ध्यान में रखकर की गई है। कुल मिलाकर प्रथम चूलिका में पच्चीस उद्देशक हैं। अवग्रहैषणा के दो उद्देशक हैं।

दूसरी चूलिका में भी सात अध्ययन हैं—१. स्थान, २. निषीधिका, ३. उच्चार प्रस्रवण, ४. शब्द, ५. रूप, ६. पर क्रिया, ७. अन्योन्य क्रिया। इन सभी अध्ययनों में एक-एक उद्देशक हैं। प्रथम अध्ययन में स्थान व दूसरे में निषीधिका (स्वाध्याय और

ध्यान करने का स्थान) की प्राप्ति के संबंध में प्रकाश डाला गया है। तीसरे में दीर्घशंका और लघुशंका के योग्य स्थान का विवेचन है। चौथे और पाँचवें अध्ययन में शब्द व रूप विषयक निरूपण है कि मुनि को मधुर शब्द सुनकर व सुन्दर रूप देखकर मोहित नहीं होना चाहिए। छठे में परक्रिया—मुनि के शरीर में दूसरे के द्वारा की जाने वाली कर्मबंधक क्रिया के होने पर मुनि को कैसे बर्तना चाहिए और सातवें में अन्योन्य क्रिया—मुनियों को परस्पर में होने वाली कर्मबंधक क्रियाओं में कैसे रहना चाहिए, इस विषय का विवेचन है।

तीसरी चूलिका में भगवान महावीर के चरित्र का वर्णन है। इसमें उनके जन्म, माता-पिता, स्वजन आदि का उल्लेख है तथा पाँच महाव्रतों एवं उनकी पाँच-पाँच भावनाओं का रूप भी बतलाया है। इस प्रकार भावना के वर्णन के कारण इस चूलिका का नाम भावना सार्थक है। इसमें दो उद्देशक हैं।

चतुर्थ चूलिका में केवल ग्यारह गाथाएँ हैं। उनमें विभिन्न उपमाओं द्वारा वीतराग के स्वरूप का वर्णन किया गया है। ये सब गाथाएँ हित शिक्षा देने वाली हैं। अंतिम गाथा में 'विमुच्चइ' क्रिया पद है। इसके आधार से इस चूलिका का नाम करण किया गया है।

इस प्रकार पूर्वोक्त संकेतों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उपलब्ध आचारांग में श्रमणचर्या संबंधी उन सभी आचार विचारों का विवेचन किया गया है, जो समवायांग आदि आगमों एवं दिगंबर परंपरा के ग्रंथों में आचारांग के वर्ण्य विषय माने गए हैं। लेकिन प्रस्तुत ग्रंथ के लिए इस संभावना को ध्यान में रखना चाहिए कि बहुत सा अंश विच्छिन्न हो जाने से पूर्णतया स्पष्ट नहीं होने से कुछ विचारों का संकेत मात्र है और कुछ का विशेष उल्लेख। परंतु वर्ण्य विषय का प्रतिपादन अवश्य किया गया है। इसकी पुष्टि संक्षेप रुचि वाले मूल से एवं विस्तार रुचि वाले टीका ग्रंथों से कर सकते हैं।

आचारांग के दोनों श्रुतस्कंधों में से पहला श्रुतस्कंध प्राचीन से प्राचीन है और उसका पहला अध्ययन 'शस्त्र परिज्ञा' अन्य अध्ययनों की अपेक्षा भी अधिक प्राचीन है। इसमें समस्त आचारांग का सार आ जाता है। अतः यह उचित होगा कि इसे हृदय माने और शेष सभी अध्ययन एवं चूलिकाएँ उसके आशय को विस्तृत रूप में स्पष्ट करती है, ऐसा मानें।

आचारांग की शैली गद्य पद्यमय है। प्रथम श्रुतस्कंध के अध्ययनों में से आठवें अध्ययन विमोक्ष का आठवाँ उद्देशक एवं नौवाँ उपधान श्रुत अध्ययन पद्यात्मक है तथा दूसरे अध्ययन लोकविजय, तीसरे अध्ययन शीतोष्णीय और छठे अध्ययन धूत

में कुछ पद्य तो बिल्कुल स्पष्ट हैं। इनके अतिरिक्त और भी अध्ययनों में पद्य हैं, लेकिन मुद्रित प्रतियों में गद्य-पद्य के रूप में छपे हैं। चूर्णिकार ने तो कहीं-कहीं इनका निर्देश किया भी हैं, परंतु वृत्ति में यह नहीं दिखता है। आचारांग प्रथम श्रुत स्कंध संपादक डॉ. शूब्रिंग ने अपने संस्मरण में इन पद्यों को स्पष्ट करते हुए जर्मन भाषा में पर्याप्त प्रकाश डाला है।

द्वितीय श्रुतस्कंध की प्रथम दो चूलिकाएँ गद्य में है। तीसरी चूलिका में कहीं-कहीं पद्य हैं। विशेषतया भगवान महावीर के संपत्तिदान के संबंध में उपलब्ध वर्णन छह आर्या छन्दों और दीक्षा के लिए ज्ञातखण्ड वन की ओर प्रस्थान करने का वर्णन ग्यारह आर्या छन्दों में है। सामायिक चारित्र को अंगीकार करने एवं पाँच महाव्रतों की भावनाओं का वर्णन भी आर्या छन्द में है। विमुक्ति नामक चतुर्थ चूलिका पद्य में ही है।

प्रथम स्तुस्कंध के अन्य वाक्य सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन एवं दश वैकालिक में अक्षरशः उपलब्ध हैं तथा कुछ वचन धर्मान्तरों के ग्रंथों विशेषतया सुवालोपनिषद, ईशाद्यष्टोत्तर शतोपनिषद, केन, कठ, बृहदारण्यक, मांडूक्य, तैत्तिरीय, ब्रह्मविद्या, तेजोबिन्दु आदि उपनिषदों और गीता के वचनों से मिलते-जुलते हैं।

♣ २. सूत्रकृतांग

समवायांग, नंदी और दिगंबर परंपरा के तत्वार्थ राजवार्तिक, धवला, अंगपण्णति आदि ग्रंथों में प्राप्त सूत्रकृतांग के परिचय का पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है। यहाँ जिस रूप में ग्रंथ उपलब्ध है, उसका परिचय देते हैं।

उपलब्ध सूत्रकृतांग के दो श्रुतस्कंध है। पहले श्रुतस्कंध में सोलह और दूसरे में सात अध्ययन है। कुल मिलाकर तेईस अध्ययन है। उनके नाम दिगंबर परंपरा की प्रतिक्रमण ग्रंथत्रयी नामक पुस्तक की प्रभाचंद्रीय वृत्ति में इस प्रकार है—१. समय, २. वैतालीय, ३. उपसर्ग, ४. स्त्री परिणाम, ५. नरक, ६. वीर स्तुति, ७. कुशील परिभाषा, ८. वीर्य, ९. धर्म, १०. अग्र, ११. मार्ग, १२. समवसरण, १३. त्रिकाल ग्रंथ हिद, १४. आत्मा, १५. तदित्थ गाथा, १६. पुण्डरीक, १७. क्रियास्थान, १८. आहारक परिणाम, १९. प्रत्याख्यान, २०. अनगार गुणकीर्ति, २१. श्रुत, २२. अर्थ, २३. नालंदा। इन नामों में श्वेताम्बर परंपरा के टीका ग्रंथ आवश्यक वृत्ति पृष्ठ ६५१ व ६५८ में उपलब्ध नामों में थोड़ा सा अन्तर है, जो नगण्य है।

समवायांग आदि में निर्दिष्ट विषयों में से उपलब्ध सूत्र कृतांग में स्वमत परमत की चर्चा प्रथम श्रुतस्कंध में संक्षेप में और द्वितीय श्रुतस्कंध में स्पष्ट रूप से है। तीन

सौ तिरसठ पाखण्डी मतों की चर्चा के लिए तो एक पूरा ही अध्ययन है तथा अन्यत्र भी यथा प्रसंग भूतवादी, स्कन्धवादी, एकात्मवादी, नियतवादी आदि की चर्चा आती है। जगत की रचना के विविध वादों की चर्चा एवं मोक्ष मार्ग का भी निरूपण है। यत्र तत्र ज्ञान, आस्रव, पुण्य, पाप आदि विषयों और कल्प्य अकल्प्य विषयक श्रमण संबंधी आचार व्यवहार की चर्चा भी उपलब्ध है। धर्म एवं क्रिया स्थान नामक अध्ययन तो अलग से है। जयधवलोक्त स्त्री परिणाम से लेकर पुंस्कामिता तक के सब विषय उपसर्ग परिज्ञा और स्त्री परिज्ञा नामक अध्ययनों में मिलते हैं। इस प्रकार दोनों परंपराओं निर्दिष्ट विषय उपलब्ध सूत्र कृतांग में अधिकांशतया विद्यमान है। इन अध्ययनों में किसी विषय का प्रधानता से और किसी का गौणता से निरूपण अवश्य किया गया है तथा तेईस अध्ययन दोनों को मान्य है।

अब इन अध्ययनों के वर्ण्य विषयों को कुछ विशेषता से बतलाते हैं–

प्रथम अध्ययन का नाम समय है। समय अर्थात् सिद्धांत। इस अध्ययन में स्वसमय के साथ निरसन की दृष्टि से परसमयों का भी निरूपण किया गया है, लेकिन इसके लिए किसी विशेष प्रकार की तर्कशैली का प्रयोग नहीं जैसा है। इसके चार उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में बंध और बंध कारण का संकेत करने के बाद भौतिकवाद, ब्रह्मवाद, एकात्मवाद, दूसरे प्रकार का भौतिकवाद, अक्रियावाद, वैशेषिक और बौद्ध दर्शनों का खण्डन है। दूसरे उद्देशक में भाग्यवाद, भौतिकवाद, क्रियावाद व बौद्ध दर्शनों का वर्णन है। तीसरे उद्देशक में मुनि के ग्राह्य-अग्राह्य आहार, पौराणिक मत, गोशालक मत व वैनयिक मत का उल्लेख है। चौथे में उपसंहार करते हुए बहुत से प्रचलित मतों का विचार किया गया है एवं निर्ग्रंथ को संयम धर्म का आचरण करने का उपदेश दिया है।

द्वितीय अध्ययन वैतालीय के तीन उद्देशक हैं। उनमें राग, द्वेष, हिंसा आदि रूप संस्कारों के विनाश के उपाय बताए हैं। प्रथम उद्देशक में बाईस, द्वितीय में बत्तीस और तृतीय में बाईस गाथाएँ हैं। इस प्रकार वेतालीय अध्ययन में छिहत्तर गाथाएँ हैं।

तृतीय अध्ययन का नाम उपसर्ग परिज्ञा हैं। साधक को अपनी साधना में अनेक प्रकार के उपसर्गों का सामना करना पड़ता है। साधना काल में आने वाले विघ्नों, बाधाओं, विपत्तियों को उपसर्ग कहते हैं। यद्यपि उपसर्गों की संख्या गिनाई नहीं जा सकती, तो भी उपसर्ग अनुकूल और प्रतिकूल दो प्रकार के होते हैं, यह कहा जा सकता है। सच्चा साधक इन उपसर्गों पर विजय प्राप्त करके वीतराग, स्थितप्रज्ञ बने, यही इस अध्ययन का सार है। इसके चार उद्देशकों में से प्रथम में सतरह, द्वितीय में बाईस, तृतीय में इक्कीस और चतुर्थ में बाईस गाथाएँ हैं। सामान्य से इस अध्ययन

को साधुचर्या का और उसमें आने वाले उपसर्गों के निवारण का निरूपण करने वाला कह सकते हैं।

चतुर्थ अध्ययन का नाम स्त्री परिज्ञा है। स्त्री परिज्ञा का अर्थ है—स्त्रियों का स्वभाव का सब तरह से ज्ञान। इस अध्ययन में बताया गया है कि स्त्रियाँ श्रमण को अपने मोहपाश में किस तरह फँसाती है और फिर फँसे हुए श्रमण से अनुचर जैसा व्यवहार करने लगती है। स्त्रियों की निंदा करते हुए यहाँ तक कह दिया है कि स्त्रियाँ विश्वसनीय नहीं हैं। मनसा-वाचा-कर्मणा उनकी अन्यथा वृत्ति होती है। साधु को स्त्रियों पर कदापि विश्वास नहीं करना चाहिए। इस विषय में किंचिन्मात्र भी असावधानी रखने से श्रामण्य के नाश की भी संभावना है। इसके दो उद्देशक हैं, जिनमें क्रमशः इकतीस और बाईस गाथाएँ हैं।

पंचम अध्ययन का नाम नरक विभक्ति है। इसमें यह बताया गया है कि स्वीकृत उपसर्गों में फँसने वाला नरकगामी बनता है और फिर नरकों में उसे कैसी-कैसी असह्य यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं। जो लोग झूठे, हिंसक, चोर, असदाचारी और परिग्रही हैं, उन्हें नरकों में जन्म लेना पड़ता है। अतः कोई भी व्यक्ति हिंसा न करे, अपरिग्रही बने और निर्लोभवृत्ति धारण करें, यही इस अध्ययन का सारांश है। इसके दो उद्देशक हैं। प्रथम उद्देशक में सत्ताईस और द्वितीय उद्देशक में पच्चीस गाथाएँ हैं।

छठा अध्ययन वीरस्तव है। इसमें उनतीस गाथाएँ हैं, जिनमें भगवान महावीर की विभिन्न विशेषणों द्वारा आलंकारिक स्तुति की गई है। उनके लिए जो विशेषण प्रयुक्त हुए हैं, वे सार्थक हैं। वे वे शक्तियाँ, गुण आदि उनमें विद्यमान हैं। यह स्तुति प्रशंसात्मक अवश्य है, लेकिन चाटुकारिता से भरी हुई नहीं है।

सातवाँ अध्ययन कुशील विषयक है। कुशील का अर्थ है—अनुचित आचारवाला, अर्थात् असंयमी। जैन परंपरा के अनुसार जिनका आचार नहीं है, ऐसे अधार्मिक कुशील हैं। इनका वर्णन इस अध्ययन में है। इसमें तीन प्रकार के कुशीलों की चर्चा की गई है—१. आहार में मधुरता उत्पन्न करने वाले लवण आदि के त्याग से मोक्ष मानने वाले। २. शीतल जल के सेवन से मोक्ष मानने वाले। ३. होम से मोक्ष मानने वाले। इनकी मान्यता को बताकर खण्डन करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि मोक्ष तो राग, द्वेष आदि प्रतिबंधक कारणों का अन्त करने से होता है। इस अध्ययन में तीस गाथाएँ हैं।

आठवाँ अध्ययन वीर्य—पराक्रम विषयक है। इसमें वीर्य—पराक्रम का विवेचन है। सूत्र में वीर्य के दो प्रकार बतलाए हैं—१. अकर्म वीर्य (पंडित वीर्य) और २. कर्म वीर्य (बाल वीर्य)। संयमपरायण वीर्य अकर्म वीर्य है और असंयम परायण

कर्म वीर्य। अकर्म व कर्म क्रमशः अप्रमाद-संयम एवं प्रमाद-असंयम के सूचक हैं। बाल वीर्य वाले हिंसा में प्रवृत्त होते हैं और पण्डित वीर्य वाले संयम में। जैसे-जैसे पण्डित वीर्य में वृद्धि होती है, वैसे-वैसे संयम में वृद्धि होने के बाद अन्त में अक्षय सुख प्राप्त होता है। पण्डित वीर्य मोक्ष का और बाल वीर्य संसार का कारण है। इस अध्ययन में चूर्णि के अनुसार सत्ताईस और वृत्ति के अनुसार छब्बीस गाथाएँ हैं एवं दोनों की वाचना में भी अन्तर है।

नौवें अध्ययन का नाम धर्म है। इस अध्ययन में लोकोत्तर धर्म (संयम) तथा साधु को किन दोषों से बचना चाहिए, इसका वर्णन किया गया है। श्रमण धर्म के दूषण इस अध्ययन में गिनाए हैं। जैसे असत्य वचन, परिग्रह, अब्रह्मचर्य, चोरी, क्रोध, मान, माया, लोभ, रंजन, भंजन, दंतधावन, विरेचन आदि। आहार व भाषा संबंधी तथा अन्य प्रकार के भी कुछ दूषणों का उल्लेख है। इस अध्ययन में सैंतीस या छत्तीस गाथाएँ हैं।

दसवें अध्ययन का नाम समाधि है। समाधि का अर्थ है—संतोष, प्रमाद, आनन्द। द्रव्य क्षेत्र, काल भाव की अपेक्षा से समाधि के चार भेद हैं। उनमें से इस अध्ययन में भाव समाधि का वर्णन है कि वह ज्ञान, दर्शन, चारित्र तप समाधि रूप है। समाधि के वर्णन के प्रसंग में यतना के स्वरूप और साधु के कर्त्तव्य कार्यों का उल्लेख किया है कि सभी प्राणियों के साथ आत्मवत् व्यवहार करना, कायिक प्रवृत्ति में संयम रखना, अदत्त वस्तु का ग्रहण न करना और परिग्रह व कायासक्ति का साधु को त्याग करना चाहिए। एकान्त क्रियावाद व अक्रियावाद को अज्ञानमूलक बताते हुए उनको त्यागने की ओर ध्यान आकर्षित किया है कि दोनों एकान्तिक मान्यताएँ धर्म व समाधि से दूर हैं। इस अध्ययन में चौबीस गाथाएँ हैं।

ग्यारहवाँ अध्ययन मार्ग है। इसका विषय दसवें समाधि अध्ययन से मिलता-जुलता है। इस पूरे अध्ययन में आहार शुद्धि, सदाचार, संयम, प्राणातिपात विरमण आदि पर प्रकाश डालते हुए बताया है कि प्राणों का मोह न करके इन सबका पालन करना चाहिए। यही मोक्षमार्ग है। इस अध्ययन की अड़तीस गाथाएँ हैं।

बारहवाँ अध्ययन समवसरण है। यहाँ समवसरण का अर्थ देवादिकृत समवसरण विवक्षित नहीं है, किन्तु सम्मेलन या एकत्र होना है। प्रस्तुत अध्ययन में विविध प्रकार के मतों, क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी और विनयवादी का सम्मेलन किया है। क्रियावादी क्रिया को मानने वाले हैं। आत्मा, कर्म फल आदि मानते हैं। अक्रिया को मानने वाले अक्रियावादी कहलाते हैं। वे आत्मा, कर्मफल आदि का अस्तित्व नहीं मानते। अज्ञान को मानने वाले अज्ञानवादी हैं। वे ज्ञान की

उपयोगिता स्वीकार नहीं करते। विनय को मानने वाले विनयवादी हैं। उन्हें किसी भी मत की निंदा पसंद नहीं है। वे लोग गाय से लेकर गधे तक, चांडाल से लेकर ब्राह्मण तक सभी छोटे-बड़े प्राणियों को नमस्कार करते हैं। इन वादियों के क्रमशः १८०, ८४, ६७ और बत्तीस भेद होते हैं। सूत्र में मूल चार वादों का ही उल्लेख करके उनका निरासन किया है। इस अध्ययन में बाईस गाथाएँ हैं।

तेरहवें अध्ययन का नाम याथा तथ्य है। अध्ययन की प्रथम गाथा में आगत 'तथ्य' शब्द के आधार से इस अध्ययन का 'याथातथ्य' नामकरण किया गया है। इसमें साधु के गुण-दोषों की वास्तविक स्थिति व कर्त्तव्यों पर प्रकाश डाला है। इसमें तेईस गाथाएँ हैं।

चौदहवें अध्ययन का नाम ग्रन्थ है। ग्रन्थ का सामान्य अर्थ है—परिग्रह। परिग्रह के बाह्य और अभ्यन्तर ये दो भेद हैं। दास-दासी आदि दृश्यमान वस्तुएँ बाह्य परिग्रह हैं एवं क्रोध, मान, माया आदि वैकारिक भाव अभ्यन्तर परिग्रह हैं। इसमें निर्ग्रंथों के स्वरूप का वर्णन किया गया है। इस अध्ययन में सत्ताईस गाथाएँ हैं एवं नामकरण का आधार प्रारंभिक गाथा में आगत 'ग्रंथ' शब्द है।

पंद्रहवें अध्ययन का नाम 'आदानीय' है। इस अध्ययन में विवेक की दुर्लभता, संयम के सुपरिणाम, वीतराग पुरुष का स्वभाव, संयमी मनुष्य की जीवन पद्धति आदि उपसंहारात्मक विविध विषयों का निरूपण है। इसमें पच्चीस गाथाएँ हैं।

'गाथा' यह सोलहवें अध्ययन का नाम है। यह प्रथम श्रुतस्कंध का अंतिम अध्ययन है। इसमें ब्राह्मण श्रमण, भिक्षु व निर्ग्रंथ का व्याख्यात्मक विश्लेषण करते हुए सुसाधु के गुणों का वर्णन किया गया है। ब्राह्मण आदि की व्याख्या इस प्रकार की गई है—जो समस्त पाप, कर्म से विरत है, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, परनिंदा, अरति, रति, माया और मिथ्यात्वशल्य से रहित अक्रोधी तथा निरभिमानी है एवं समिति ज्ञानादि गुण सहित है, वह ब्राह्मण है। जो अनासक्त है, निदान रहित है, कषाय मुक्त है और हिंसादि पाँच पापों से रहित है, वह श्रमण है। जो अभिमानरहित है, विनय सम्पन्न है, उपसर्ग और परीसहों पर विजय प्राप्त करने वाला है एवं आध्यात्मिक वृत्ति वाला व परदत्त भोजी है, वह भिक्षु है। जो ग्रंथ—परिग्रहादि रहित एकाकी है, अप्रमत है और पूजा सत्कार का आकांक्षी नहीं है, वह निर्ग्रंथ है।

दूसरे श्रुत स्कंध के सात अध्ययन है। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार है—पुण्डरीक, क्रिया स्थान, आहार विचार, प्रत्याख्यान क्रिया, आचार श्रुत या अनगार श्रुत, आर्द्रकीय, नालंदीय। इनमें से आचारश्रुत और आर्द्रकीय ये दो अध्ययन पद्यात्मक हैं और शेष पाँच गद्यात्मक हैं। इन सातों अध्ययनों को महाअध्ययन कहा

गया है, क्योंकि इनमें उन बातों का विस्तार से अध्ययन किया गया है, जिनको प्रथम श्रुतस्कंध में संक्षेप में कहा गया है ।

प्रथम पुण्डरीक अध्ययन में जिस प्रकार प्रथम श्रुतस्कंध के प्रथम अध्ययन में विविध वादी मतों का उल्लेख है, उसी प्रकार इस अध्ययन में भी इन वादियों में से कुछेक मतों की चर्चा है । इनकी चर्चा का प्रारंभ वादियों को पुण्डरीक कमल की पँखुडियों की उपमा रूपक देकर किया है और इसका सार बताते हुए कहा है कि यह संसार पुष्करिणी तालाब के समान है । इसमें कर्मरूपी जल एवं कामभोग रूपी कीचड़ भरा हुआ है । अनेक जनपद चारों ओर फैले कमल के समान है । मध्य में रहा हुआ पुण्डरीक राजा के समान है । पुष्करिणी में चारों दिशाओं से प्रविष्ट होने वाले चार पुरुष अन्य तीर्थिक (मतावलंबी) हैं और कुशल भिक्षु धर्मरूप हैं । किनारा धर्मतीर्थ रूप है । भिक्षु द्वारा उच्चारित शब्द धर्मकथा रूप है और पुण्डरीक का उठना मोक्ष के समान है ।

उक्त चार पुरुषों में से प्रथम तज्जीव तच्छरीर वादी है । वह जीव शरीर को एक मानता है । दूसरा पुरुष भूतवादी है । उसके मत से पृथ्वी आदि पंचभूत यथार्थ है और उनके संयोग से जीव की उत्पत्ति होती है । तीसरा पुरुष ईश्वर कारणवादी है । उसके मत से यह लोक ईश्वरकृत है । चौथा पुरुष नियतिवादी है । उसके मतानुसार सारी क्रियाएँ नियत-अपरिवर्तनीय है । जो क्रिया जिस रूप में नियत है, वह उसी रूप में पूरी होगी । उसमें परिवर्तन नहीं किया जा सकता । इस अध्ययन में कुछ वाक्य आचारांग से मिलते-जुलते हैं ।

क्रिया स्थान नामक द्वितीय अध्ययन में विविध क्रिया स्थानों का परिचय है । क्रिया स्थान का अर्थ है प्रवृत्ति का निमित्त । क्रिया स्थान प्रधानतः दो प्रकार के होते हैं—धर्म क्रिया स्थान और अधर्म क्रिया स्थान । अधर्म क्रिया स्थान के बारह प्रकार हैं—१. अर्थदण्ड, २. अनर्थदण्ड, ३. हिंसादण्ड, ४. अकस्मात् दण्ड, ५. दृष्टि विपर्यास दण्ड, ६. मृषा प्रत्यय दण्ड, ७. अदत्तादान प्रत्यय दण्ड, ८. अध्यात्म प्रत्यय दण्ड, ९. मान प्रत्यय दण्ड, १०. मित्र दोष प्रत्यय दण्ड, ११. माया प्रत्यय दण्ड और १२. लोभ प्रत्यय दण्ड । धर्म क्रिया स्थान में धर्म हेतुक प्रवृत्ति का समावेश होता है । इस प्रकार बारह अधर्म क्रिया स्थान और एक धर्म क्रिया स्थान कुल तेरह क्रिया स्थानों का इस अध्ययन में निरूपण किया गया है ।

आहार परिज्ञा (आहार विचार) नामक तृतीय अध्ययन में समस्त त्रस और स्थावर प्राणियों के जन्म और आहार के संबंध में विवेचन किया गया है, लेकिन कहीं भी देव और नारकों के आहार की कोई चर्चा नहीं है । अध्ययन के अंत में संयमपूर्वक आहार प्राप्त करने पर भार दिया गया है ।

चतुर्थ अध्ययन प्रत्याख्यान क्रिया है। प्रत्याख्यान का अर्थ है अहिंसा आदि मूल गुणों एवं सामायिक आदि उत्तर गुणों के आचरण में बाधक प्रवृत्तियों का यथाशक्ति त्याग करना। इस अध्ययन में इस प्रकार की प्रत्याख्या क्रिया के संबंध में निरूपण किया गया है। निरवद्य प्रत्याख्यान क्रिया आत्मशुद्धि के लिए साधक है और इसके विपरीत अप्रत्याख्यान क्रिया सावद्य है। वह आत्मशुद्धि के लिए बाधक है। प्रत्याख्यान न करने वाला असंयत, अविरत, पाप क्रिया होने से सतत् कर्मबंध करता रहता है, क्योंकि अविरत की अमर्यादित मनोवृत्ति होने से उसके पाप के समस्त द्वार खुले रहते हैं। इस कारण उसे सभी प्रकार के पाप बंधन की संभावना रहती है। अतः प्रत्याख्यान क्रिया की आवश्यकता है। इस अध्ययन का यही सारांश है।

पाँचवें अध्ययन का नाम आचारश्रुत या अनगार श्रुत है। इसमें अनाचारों को त्यागने का उपदेश है। 'लोक नहीं है। अलोक नहीं है। जीव नहीं है। अजीव नहीं है। धर्म नहीं है। अधर्म नहीं है। इसी प्रकार बंध, मोक्ष, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, क्रिया, अक्रिया, वेदना, निर्जरा, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, संसार, देव, देवी, सिद्धि, असिद्धि, साधु, असाधु, कल्याण, अकल्याण आदि नहीं है।'—इत्यादि मान्यताएँ अनाचरणीय है। अतः लोकादि के अस्तित्व पर श्रद्धा रखने एवं तदनुरूप आचरण करने का उपदेश प्रस्तुत अध्ययन में दिया गया है। अनगार के भाषा प्रयोग के संबंध में भी कुछ संकेत है।

'आर्द्रकीय' नामक छठा अध्ययन पद्य में है। इस अध्ययन में आर्द्रक मुनि और गोशालक के अनुयायी भिक्षुओं, बौद्ध भिक्षुओं एवं वैदिक त्रिदण्डी एकदण्डी (ब्रह्मव्रती), और हस्तितापसों के साथ हुए वाद-विवाद का वर्णन है। यह अध्ययन पद्यमय है और इसमें पचपन गाथाएँ हैं।

सातवें अध्ययन का नाम नालंदीय है। यह सूत्र कृतांग का अंतिम अध्ययन है। इसमें भगवान पार्श्वनाथ के अनुयायी श्रमण उदयपेढाल पुत्त और गौतम गणधर के बीच हुए संवाद एवं उनका महावीर शासन स्वीकार करने का वर्णन है। श्रमण उदय पेढाल पुत्त ने श्रावक के प्रत्याख्यान में त्रस के बजाय त्रसभूत पद रखने की जिज्ञासा व्यक्त की थी। उसका गौतम गणधर ने समाधान करते हुए कहा था कि भगवान महावीर के अनुयायी श्रमण द्वारा श्रावक प्रत्याख्यान के लिए किया जाने वाला त्रस शब्द का प्रयोग युक्तिसंगत है, क्योंकि जिस जीव के त्रस नाम कर्म एवं त्रस आयुष्य कर्म का उदय हो, उसी को त्रस कहते हैं। इस प्रकार के उदय का संबंध वर्तमान से है, *न कि भूत या भविष्य से। इसी संदर्भ में और भी प्रश्नोत्तर हुए। अंत में संयुक्तिक* समाधान से संतुष्ट होकर उन्होंने भगवान महावीर की परंपरा को स्वीकार कर लिया। इसमें कुछ श्रावकाचार का भी परिचय मिल जाता है।

उक्त संक्षिप्त परिचय से यह स्पष्ट होता है कि उपलब्ध सूत्रकृतांग में उन विषयों का वर्णन है, जो उसके विचारणीय माने गए हैं। यह बात दूसरी है कि किसी विषय का निरूपण अधिक विस्तार से और किसी का संक्षेप में किया गया है।

सूत्रकृतांग के संकलन संपादन के लिए प्रो. विण्टरनीत्ज का अभिमत है कि सूत्रकृतांग की रचना एक ही कर्ता की हो, यह संभव है। अधिक निश्चित तो यह है कि उसके संकलनकर्ता ने एक ही विषय के भिन्न-भिन्न पदों और व्याख्याओं को एक साथ रखा है। दूसरे श्रुतस्कंध में दूसरा ही रूप देखते हैं। वह पद्य में है और उसमें परिशिष्टों का संग्रह कुशलता से नहीं किया गया है। फिर भी भारतीय जीवन पद्धति संबंधी ज्ञान प्राप्त करने के लिए यह श्रुतस्कंध बहुत उपयोगी है।

♣ ३-४. स्थानांग, समवायांग

ये दोनों क्रमशः तीसरे और चौथे अंग आगम है। इन अंगों की उपलब्ध सामग्री और शैली को देखकर यह मालूम होता है कि काल आदि के दोष से ये ग्रंथ बहुत छोटे हो गए हैं और ये छिन्न-भिन्न हो गए प्रतीत होते हैं। फिर भी वे जिस रूप में आज उपलब्ध हैं, अपने महत्व का भली-भाँति परिचय देते हैं।

स्थानांग में जीव, अजीव, जीवाजीव, स्व, पर और स्व पर सिद्धांतों, लोक, अलोक और लोकालोक, पर्वत, नदी, द्वीप आदि भौगोलिक, खगोलिक, प्राणी विज्ञान, भौतिक विज्ञान, प्राकृतिक वातावरण आदि से संबंधित वस्तुओं का वर्णन किया गया है। इसमें एक श्रुतस्कंध और एक से लेकर दस संख्या तक के दस अध्ययन हैं। वस्तु का निरूपण संख्या की दृष्टि से किया गया है, जिससे प्रति पाद्य विषयों में परस्पर संबद्धता होना आवश्यक नहीं है। अर्थात् विषयों की व्यवस्था उनके भेदों की संख्या के अनुसार की गई है। समान संख्या वाले विषयों को एक साथ रखा है। जैसे एक भेद वाले पदार्थों को एक संख्यक वर्ग में, दो संख्या वाले पदार्थ द्वि संख्यक वर्ग में इत्यादि. जिस प्रकरण में निरूपणीय सामग्री अधिक है, उसके उपविभाग भी किए हैं। द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ प्रकरण में ऐसे चार-चार उपविभाग हैं तथा पंचम प्रकरण में तीन उपविभाग हैं। इन उपविभागों का नाम उद्देश है।

समवायांग का वर्णन भी स्थानांग से मिलता-जुलता है, लेकिन अन्तर इतना है कि इसमें एक से लेकर एक सौ उनसाठ तक भेदों वाले बोल एक-एक भेद की वृद्धि करते हुए क्रमशः बतलाए हैं। इसमें एक अध्ययन, एक श्रुतस्कंध एक उद्देश और एक समुद्देश है।

इन दोनों अंग आगमों में ऐसी भी अनेक बातों का समावेश कर लिया गया

है, जो भगवान महावीर के निर्वाण के बाद घटित हुई है। उदाहरण के लिए जमाली, तिष्यगुप्त, आषाढ़, अश्वमित्र, गंग, रोहगुप्त और गोष्ठमाहिल इन सात निह्नवों का उल्लेख है। इनमें से प्रथम दो के अतिरिक्त शेष सब निह्नवों की उत्पत्ति भगवान महावीर के निर्वाण के बाद तीसरी से लेकर छठी शताब्दी तक के समय में हुई है। अतएव यह मानना उपयुक्त है कि इस सूत्र की अंतिम योजना वीर निर्वाण की छठी शताब्दी में होने वाले किसी गीतार्थ पुरुष ने अपने समय तक की पूर्व परंपरा से चली आने वाली घटनाओं के साथ मिलाकर की है।

इसी प्रकार समवायांग के सौवें सूत्र में गणधर इंद्रभूति और सुधर्मा के निर्वाण का उल्लेख है। इन दोनों का निर्वाण भगवान महावीर के बाद हुआ है। ऐसी स्थिति में आगमों को ग्रंथबद्ध करने वाले आचार्य देवर्द्धिगणि क्षमा श्रमण ने इन दोनों अंगों को अंतिम रूप दिया हो, तो वैसा मानना योग्य ही है।

इन दोनों आगमों का संकलन कोश शैली में हुआ है। संभवतः स्मृति अथवा धारणा की सरलता को दृष्टि में रखकर या विषयों की खोज को सुगम बनाने के लिए ये संकलित किए गए हैं। इन दोनों जैसी कोश शैली बौद्ध और वैदिक परंपरा के ग्रंथों में भी उपलब्ध होती है। बौद्ध ग्रंथ अंगुत्तर निकाय, पुग्गल पञ्ञत्ति, महाव्युत्पत्ति एवं धर्म संग्रह में विचारणाओं का संग्रह इसी शैली में किया गया है तथा वैदिक परंपरा के ग्रंथ महाभारत के वन पर्व (अध्याय १३४) में भी इस शैली में विचार संग्रहित किए गए हैं। इस प्रकार की संग्रह प्रधान कोश शैली होने पर भी कई स्थानों पर इसका अपवाद भी दिखाई देता है। इसका कारण संभवतः यह हो सकता है कि इन स्थानों पर या तो शैली खण्डित हो गई है या फिर विभाग करने में सावधानी नहीं रखी गई है। कारण कुछ भी रहा हो, लेकिन ये दोनों कोश आगम ऐसे अनेक तथ्य उपस्थित करते हैं, जो आज के विज्ञान, समाज आदि के लिए उपयोगी जानकारी देते हैं। वर्तमान जैन परंपरा में प्रचलित बोल संग्रह थोकड़ा आदि के आधार ये ही दोनों आगम हैं।

♣ ५. व्याख्या प्रज्ञप्ति

'व्याख्या प्रज्ञप्ति' यह पाँचवें अंग का नाम है। इसका प्राकृत नाम तो वियाह पण्णत्ति है, लेकिन प्रतिलिपिकारों की असावधानी से इसके अनेक पाठ उपलब्ध होते हैं। उनका विचार पूर्व में किया जा चुका है। संस्कृत नाम में सर्वत्र व्याख्या प्रज्ञप्ति शब्द का प्रयोग ही हुआ है। वृत्तिकार ने व्याख्या प्रज्ञप्ति शब्द की अनेक प्रकार से व्याख्या की है। १. वि + आ + ख्या + प्र + ज्ञप्ति = विविध प्रकार से समग्रतया कथन का प्रकृष्ट निरूपण अर्थात् जिस ग्रंथ में कथन का विविध ढंग से पूर्णतया प्रकृष्ट निरूपण किया गया हो, वह ग्रंथ व्याख्या प्रज्ञप्ति कहलाता है।

२. वि + आख्या + प्रज्ञप्ति = विविधतया कथन का प्रज्ञापन। जिस शास्त्र में विविध रूप से कथन का प्रतिपादन किया गया है, उसका नाम हैं, व्याख्या प्रज्ञप्ति।

३. व्याख्या + प्रज्ञा + आप्ति अथवा आत्ति = व्याख्या की कुशलता से आप्त से प्राप्त होने वाला अथवा ग्रहण किया जाने वाला श्रुत विशेष व्याख्या प्रज्ञप्ति कहलाता है।

४. व्याख्या प्रज्ञ + आप्ति अथवा आत्ति = व्याख्या करने में प्रज्ञ अर्थात् कुशल भगवान से गणधर को जिस ग्रंथ द्वारा ज्ञान की प्राप्ति हो अथवा कुछ ग्रहण करने का अवसर मिले, उसका नाम व्याख्या प्रज्ञप्ति अथवा व्याख्या प्रज्ञात्ति है।

वर्तमान में उपलब्ध व्याख्या प्रज्ञप्ति का ग्रंथगत प्रमाण पंद्रह हजार श्लोक है। अन्य ग्रंथों की अपेक्षा अधिक विशाल एवं अधिक पूज्य होने के कारण लोक प्रचलित इसका दूसरा नाम 'भगवती' भी प्रसिद्ध है।

उपलब्ध व्याख्या प्रज्ञप्ति की मुख्य विशेषता यह है कि इसके अतिरिक्त अन्य अंग अथवा अंगबाह्य किसी भी सूत्र के प्रारंभ में मंगलाचरण का कोई विशेष पाठ उपलब्ध नहीं होता, लेकिन इसके प्रारंभ में 'नमो अरिहंताणं' आदि नवकार मंत्र के पाँच पद दे कर मंगलाचरण किया गया है। इसके बाद ब्राह्मी लिपि को भी नमस्कार किया गया है। तदनन्तर प्रस्तुत अंग के प्रथम शतक के उद्देशकों में वर्णित विषयों का निर्देश करने वाली एक संग्रह गाथा दी गई है। उस गाथा के बाद 'नमो सुअस्स' रूप एक मंगल और आता है। इसके बाद ग्रंथ प्रारंभ होता है।

ग्रंथ कई प्रकरणों में है, जिनका नाम 'सय-शत्' दिया गया है। यह 'सय-शत्' शतक का ही रूप है। शत् अथवा शतक का अर्थ सौ होता है, परंतु ग्रंथ में सौ का कोई संबंध दृष्टिगोचर नहीं होता। यह शब्द इस ग्रंथ में रूढ़ है, ऐसा मालूम होता है। प्रत्येक प्रकरण के अंत में 'सयं समत्तं' ऐसा पाठ मिलता है। शत् में उद्देशक रूप उपविभाग मिलता है। कुछ शतों में दस दस और कुछ में इससे भी अधिक उद्देशक हैं। जैसे कि अड़तालीसवें शत में एक सौ छियानवें उद्देशक हैं। कुछ शतों में उद्देशकों के स्थान पर वर्ग हैं और कुछ में शत् नाम से उपविभाग भी हैं। उनकी संख्या एक सौ चौबीस तक है। केवल पंद्रहवें शतक में कोई उपविभाग नहीं है।

प्रथम शत् के प्रारंभ में उपोद्घात है, जिसमें राजगृह नगर, गुणशील चैत्य, राजा श्रेणिक और रानी चेलना का उल्लेख है। इसके बाद भगवान महावीर का गुणानुवाद पूर्वक विस्तृत रूप में वर्णन करके, गणधर गौतम, उनके गुण, शरीर आदि का विस्तृत परिचय है। इसके बाद प्रश्नोत्तर शैली से प्रथम शतक प्रारंभ होता है। यही प्रणाली आगे के शतकों में ग्रंथ समाप्ति तक है।

वैसे देखा जाए तो इस सूत्र में कुछ स्थानों पर अन्य तीर्थकों के भी प्रश्न है। इसमें श्रावकों द्वारा की गई चर्चा भी आती है और श्राविका के रूप में एकमात्र जयन्ती श्राविका की ही चर्चा दिखाई देती है। लेकिन मुख्य रूप से गणधर गौतम प्रश्नकर्ता है और उत्तरदाता भगवान महावीर है। इन प्रश्नों में गौतम गणधर की उग्र जिज्ञासा वृत्ति का परिचय मिलता है। उनकी जिज्ञासा सिर्फ आत्मा और परमात्मा के संबंध में ही नहीं, किन्तु दृश्य जगत के प्रत्येक पदार्थ के संबंध में भी है। कोई भी घटना विषय या प्रसंग हो, जो उनके सामने आया, उसके रहस्य को जानने के लिए वे विनयपूर्वक प्रश्न करते—'कहमेयं भंते' और कभी-कभी उस उत्तर की गहराई में जाकर प्रति प्रश्न भी करते—'केणट्ठेणं भंते' ऐसा किसलिए कहा जाता है?

यद्यपि गौतम के प्रश्न, चर्चा एवं संवादों का विवरण इतना विस्तृत है कि उसका वर्गीकरण करना कठिन है। फिर भी संक्षेप में उन प्रश्नों को चार वर्गों में बाँटा जा सकता है—१. अध्यात्म विषयक, २. कर्मफल विषयक, ३. लोक विषयक और ४. स्फुट विषयक।

प्रथम वर्ग में कुछ प्रश्न इस प्रकार के माने जा सकते हैं—आत्मा की शाश्वतता, अशाश्वतता, सामयिक ज्ञान का फल, आत्मा का गुरुत्व-लघुत्वशील और श्रुत आदि।

द्वितीय वर्ग में सुख-दुःख के निमित्त आदि की चर्चा।

तृतीय वर्ग में लोक एवं जीव, परमाणु की शाश्वतता, अशाश्वतता, अस्तित्व, नास्तित्व आदि के प्रश्न।

चतुर्थ वर्ग विभिन्न स्फुट विषयों का है, जिसमें उन्माद, उपाधि, तीर्थ और तीर्थंकर आदि के प्रश्न किए जा सकते हैं। सारांश यह है कि इन प्रश्नोत्तरों में स्वसमय, परसमय, स्व पर समय, जीव, अजीव, जीवाजीव, लोक, अलोक, लोकालोक आदि की चर्चा के साथ भिन्न-भिन्न जाति के देवों, राजाओं आदि का वर्णन है। कुछ ऐसे भी तथ्य हैं, जो तत्कालीन समाज व राज्य व्यवस्था पर प्रकाश डालने वाले होने से ऐतिहासिक दृष्टि से भी महत्वपूर्ण है।

व्याख्या प्रज्ञप्ति के इस सामान्य परिचय के अनन्तर उसके कुछ महत्त्वपूर्ण उल्लेखों का निर्देश करते हैं। जैसे कि—समग्र लोक किसके आधार पर रहा हुआ है? गौतम के इस प्रश्न के उत्तर में भगवान ने बताया है कि आकाश के आधार पर वायु, वायु के आधार पर समुद्र, समुद्र के आधार पर पृथ्वी तथा पृथ्वी के आधार पर समस्त त्रस एवं स्थावर जीव रहे हुए हैं। समस्त अजीव जीवों के आधार पर रहे हुए हैं। लोक का ऐसा आधार-आधेय भाव है। यह किस आधार से कहा जा सकता है? इस प्रश्न के उत्तर में एक उदाहरण दिया है। वह इस प्रकार है— एक बड़ी मशक में

हवा भरकर उसे ऊपर से बांध दिया जाए। फिर उसे बीच से बाँधकर ऊपर से खोल दिया जाए। इससे ऊपर के भाग की हवा निकल जाएगी। फिर उस खाली भाग में पानी भरकर ऊपर से मुँह बाँध दिया जाए व बीच की गाँठ खोल दी जाए। इससे ऊपर के भाग में भरा हुआ पानी उस नीचे भरी हुई हवा के आधार पर टिका होगा। इसी प्रकार लोक पवन के आधार पर रहा हुआ है। अथवा जैसे कोई मनुष्य अपनी कमर पर हवा भरी हुई मशक बाँधकर पानी के ऊपर तैरता रहता है। वह डूबता नहीं है। उसी प्रकार वायु के आधार पर समस्त लोक टिका हुआ है और स्पुतनिक युग में वायु के सहारे आकाश में मनुष्य तैराने के वैज्ञानिकों द्वारा प्रयोग हुए हैं और हो रहे हैं जो भगवान के कथन को सत्य सिद्ध करते हैं।

भगवान पार्श्वनाथ की परंपरा के श्रमणों-पार्श्वापत्यों द्वारा पूछे गए कुछ प्रश्न भी इस सूत्र में संकलित हैं। उनसे यह ज्ञात होता है कि वे साधु एक दूसरे की मान्यताओं एवं भगवान महावीर के सर्वज्ञत्व और सर्वदर्शित्व से अपरिचित थे, परंतु जैसे ही परिचय हुआ, एक दूसरे की मान्यताओं को समझा और अपने प्रश्नों से भगवान के सर्वज्ञत्व का निर्णय कर लिया, तो उनकी श्रमण परंपरा में मिल गए।

शतक सातवें और आठवें में वनस्पति संबंधी विवेचन है। सातवें शतक के तीसरे उद्देशक में वनस्पतिकाय के जीव के भोजन संबंधी चर्चा है कि ये जीव श्रावण, भाद्रपद, आश्विन और कार्तिक इन चार महीनों में अधिक से अधिक आहार लेते हैं। शरद, हेमन्त, वसंत और ग्रीष्म ऋतु में उत्तरोत्तर क्रमशः उनका आहार कम होता जाता है। वैज्ञानिक दृष्टि से यह कथन विचारणीय है। वर्षा ऋतु के चार महीनों में जैन श्रमणों का एक स्थान पर आवास, चातुर्मास या वर्षावास करने का यही वैज्ञानिक दृष्टिकोण माना जाता है।

द्वितीय शतक के प्रथम उद्देशक में क्या वायु काय के जीव वायुकाय को ही श्वासोच्छवास के रूप में ग्रहण करते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में बताया गया है कि हाँ, वायुकाय के जीव भी श्वासोच्छवास के रूप में वायुकाय को ही ग्रहण करते हैं। यहाँ वृत्तिकार ने यह स्पष्ट किया है कि जो वायुकाय ग्रहण किया जाता है, वह चेतन नहीं, किन्तु जड़ पुद्गल रूप होता है। उसकी स्वतंत्र वर्गणाएँ होती हैं, जिन्हें श्वासोच्छवास वर्गणा कहते हैं।

नौवें शतक के तीसरे उद्देशक में भगवान महावीर के शिष्य जमाली का पूरा चरित्र वर्णित है। वह बाद में भगवान महावीर से अलग होकर अपने आपको जिन केवली कहने लगा था।

ग्यारहवें शतक के नौवे उद्देशक में शिव राजर्षि का वर्णन है, जो पूर्व में अन्य

तीर्थक थे और बाद में प्रतिबोध मिलने पर भगवान महावीर के शिष्य हो गए और आत्म साधना करके अंत में उन्होंने मोक्ष प्राप्त किया। उन्हीं की तरह स्कन्दक, तमिल, पूरण, पुद्गल आदि तापसों का भी वर्णन आता हैं। इसमें दानामा और प्राणामा रूप दो तापसी दीक्षाओं का भी उल्लेख है। दानामा अर्थात् भिक्षा लाकर दान करने वाली प्रव्रज्या और प्राणामा अर्थात् प्राणिमात्र को प्रणाम करते रहने की प्रवज्या। इस वर्णन से तत्कालीन साधक वर्ग एवं उसकी साधना के रूप में कुछ पता लगता है।

पंद्रहवें शतक में मखली पुत्र गोशालक का विस्तृत वर्णन है। भगवान महावीर के साथ उसका संपर्क उनकी छद्मस्थ अवस्था में होता है। अंत में वह नियतिवादी होकर आजीवक परंपरा की स्थापना करता है। उसका शिष्य परिवार तथा उपासक वर्ग भी विशाल था, लेकिन वर्तमान में उसका कुछ भी साहित्य उपलब्ध नहीं है।

सोलहवें शतक के पहले उद्देशक में वायुकाय और अग्निकाय के जीवों की चर्चा है। वहाँ बताया गया है कि ऐरण पर हथोड़ा मारते ही वायुकाय उत्पन्न होता है। अन्य पदार्थ का संस्पर्श होने पर ही वायुकाय के जीव मरते हैं, संस्पर्श के बिना नहीं। सिगड़ी, चूल्हे में अग्निकाय के जीव जघन्य अन्तर्मुहुर्त और उत्कृष्ट तीन दिन-रात तक रह सकते हैं। वहाँ वायुकायिक जीव भी उत्पन्न होते हैं और रहते हैं, क्योंकि वायु के ऑक्सीजन-प्राणवायु के बिना अग्नि प्रज्वलित नहीं होती।

द्वितीय उद्देशक में जरा व शोक के विषय में प्रश्नोत्तर है। वहाँ बताया है कि जिन जीवों के स्थूल मन नहीं होता, उनके शोक तो नहीं होता, किन्तु जरा (वृद्धावस्था) होती है। स्थूल मनवालों को दोनों होते हैं। भवनवासी, वैमानिक के भी दोनों होते हैं। उनके शरीर में भी वार्धक्य आता है।

छठे उद्देशक में स्वप्न संबंधी चर्चा है। स्वप्न कितने प्रकार के हो सकते हैं? कौन स्वप्न देख सकता है? याने किस स्थिति में ये स्वप्न दिखाई देते हैं? इत्यादि प्रश्नों का समाधान किया गया है। साधारण स्वप्न बयालीस और महास्वप्न तीस होते हैं। यह भी बताया है कि स्त्री व पुरुष अमुक स्वप्न देखे, तो अमुक फल मिलता है। इस चर्चा से मालूम होता है कि जैन अंग शास्त्रों में स्वप्न विद्या पर भी विचार किया गया है।

अठारहवें शतक के छठें उद्देशक में पौद्गलिक पदार्थों के स्कंधादि है, उनकी तथा परमाणु, द्विप्रदेशिक, त्रिप्रदेशिक, चतुष्प्रदेशिक, पंचप्रदेशिक आदि पुद्गल स्कंधों के वर्ण, गंध, रस, स्पर्श की चर्चा है। अर्थात् इस उद्देशक में पुद्गल द्रव्य के बारे में विस्तृत विचार किया गया है।

इसी प्रकार अन्य शतकों में विभिन्न दार्शनिक आध्यात्मिक और भौतिक

विषयों के बारे में चर्चा है। जैन दर्शन में इंद्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छ्वास इन चार प्राणों को व्यवहार नय से जीव का लक्षण कहा गया है। भौतिक विज्ञान से भी इसकी पुष्टि होती है। जीवन धारण के लिए वायु एक आवश्यक तत्व है। अन्य शतकों में इस प्रकार की चर्चा है। विस्तार से जानने के लिए इस ग्रंथ का अवलोकन और पठन करना चाहिए।

इस आगम में कुछ बातें बार-बार आई हैं। उनके लिए स्थान, पृच्छक और काल का भेद कारण है। ग्रंथ के अंत में गुणविशाल संघ का स्मरण करते हुए श्रुतदेवता की स्तुति की गई है। अंत में गौतमादि गणधरों को नमस्कार किया गया है और कुछ देवियों का स्मरण किया गया है। संभवतः इसका संबंध प्रतिलिपिकार से है।

♣ ६. ज्ञाता धर्म कथा

यह छठा अंग है। इसका उपोद्घात विपाक सूत्र के उपोदघात के समान है। इसके दो श्रुतस्कंध हैं—ज्ञाता और धर्मकथा। पहले में ज्ञाता—उदाहरण रूप उनतीस अध्ययन हैं तथा उनमें एक-एक कथा है और अंत में उस कथा या दृष्टान्त से मिलने वाली शिक्षा बतलाई गई है। कथाओं में नगर, उद्यान, प्रासाद, भवन, समुद्र, स्वप्न आदि का वर्णन है। इन दृष्टान्त कथाओं में शुद्ध सम्यक्त्व की रक्षा, इंद्रिय विजय, भूल का पश्चाताप, आराधक धर्म की आराधना और विराधना का फल, विषय सुख के कटु फल आदि का उपदेश दिया गया है। उनतीस अध्ययनों में कथाएँ क्रमशः इस प्रकार हैं—

मेघकुमार, धन्ना सार्थवाह और विजय चोर, शुद्ध सम्यक्त्व के लिए अण्डे का दृष्टान्त, इंद्रियों को वश में रखने या स्वच्छन्द छोड़ने के विषय में कछुए का दृष्टान्त, भूल के लिए पश्चाताप करके पुनः संयम में दृढ़ होने के लिए शैलक राजर्षि का दृष्टान्त, आत्मा का गुरुत्व और लघुत्व दिखाने के लिए तुंबे का दृष्टान्त, आराधक, विराधक के लाभालाभ बताने के लिए रोहिणी की कथा, भगवान मल्लिनाथ की कथा, कामभोगों में आसक्ति और विरक्ति के लिए जिनपालित और जिनरक्षित का दृष्टान्त, प्रमादी, अप्रमादी के लिए चाँद का दृष्टान्त, धर्म की आराधना और विराधना के लिए वृक्ष का दृष्टान्त, सद्गुरु सेवा के लिए उदकशुद्धि का दृष्टान्त, सद्गुरु के अभाव में गुणों की हानि बताने के लिए दर्दुर (नंदमणियार) का दृष्टान्त, धर्म प्राप्ति के लिए अनुकूल सामग्री की आवश्यकता बताने के लिए तेतलीपुत्र का दृष्टान्त, वीतराग के उपदेश से ही धर्मप्राप्ति होने के लिए नंदीफल का दृष्टान्त, विषय सुख का कटुक फल बताने के लिए

नोट– व्याख्या प्रज्ञप्ति के इकतालीस शतकों और उनके उद्देश्यों में वर्णित विषयों के उल्लेख के लिए देखिए-जैन सिद्धांत बोल संग्रह भाग ४ पृष्ठ १३८ से १८५

अमरकंका के राजा और द्रौपदी की कथा, इंद्रिय विषयों में लिप्तता से होने वाले अनर्थों को समझाने के लिए आकीर्ण जाति के घोड़े का दृष्टान्त, संयमी जीवन के लिए शुद्ध और निर्दोष आहार निर्ममत्व भाव से करने के लिए सुषमा कुमारी का दृष्टान्त, उत्कृष्ट भाव से पालन किए गए अल्पकालिक संयम का अत्युपकार बताने के लिए पुण्डरीक का दृष्टान्त।

इन दृष्टान्त कथाओं में प्रसंगवश किसी-किसी में अवान्तर कथाएँ भी हैं। इन दृष्टान्त कथाओं में ऐसे अनेक विशिष्ट शब्द हैं, जो तत्कालीन राजकीय सामाजिक व्यवस्था का बोध कराते हैं। कुछ कथाएं ऐसी हैं, जो धर्मान्तरों के ग्रंथों में भी मिलती हैं। जैसी रोहिणी की कथा है, वैसी ही कथा बाइबिल के नए करार में मैथ्यू की किताब में और ल्युक के संवाद में भी उपलब्ध होती हैं। कुछ कथाओं से दूसरे धर्मों के विधि विधानों और क्रियाकाण्डों की जानकारी मिलती है। जैसे पाँचवें अध्ययन में आगत शुक परिव्राजक की कथा में वैदिक कर्मकाण्ड का थोड़ा-सा परिचय दिया है। पन्द्रहवीं नंदीफल की दृष्टान्त कथा में विभिन्न मतानुयायी संन्यासियों का उल्लेख मिलता है। वह इस प्रकार है–

चरक– त्रिदण्डी अथवा कौपीनधारी तापस।

चीरिक– गली में पड़े हुए चीथड़ों के कपड़े बनाकर पहनने वाले संन्यासी।

चर्मखण्डिक– चमड़े के वस्त्र पहनने वाले या चमड़े के उपकरण रखने वाले संन्यासी।

भिच्छुंड– भिक्षुक या बौद्ध भिक्षुक।

पंडुदग– शरीर पर भस्म लगाने वाले अर्थात् शिवभक्त संन्यासी।

गौतम– अपने साथ बैल रखने वाले संन्यासी।

गोव्रती– गोव्रत रखने वाले संन्यासी। रघुवंश में वर्णित राजा दिलीप के जैसे।

गृहिधर्मी– गृहस्थाश्रम को श्रेष्ठ मानने वाले।

धर्मचिन्तक– धर्मशास्त्र का अध्ययन करने वाले।

अविरुद्ध– किसी के साथ विरोध न रखने वाले। विनयवादी, सर्वधर्म समन्वयवादी।

विरुद्ध– परलोक अथवा समस्त मतों के साथ विरोध रखने वाले संन्यासी।

वृद्ध– वृद्धावस्था में संन्यास लेने में विश्वास रखने वाले संन्यासी।

श्रावक– धर्म का श्रवण करने वाले संन्यासी।

रक्तपट– रक्त (लाल) पट—लाल वस्त्रधारी परिव्राजक ।

द्वितीय श्रुतस्कंध में धर्मकथाओं के द्वारा धर्म का स्वरूप बतलाया गया है । इसमें दस वर्ग हैं । इन वर्गों में चमरेंद्र, बलीन्द्र, धरणेन्द्र, पिशाचेन्द्र, महाकालेन्द्र, शक्रेन्द्र, ईशानेन्द्र की पटरानियों, इन्द्राणियों के पूर्व भवों का वर्णन है । उनके जो नाम यहाँ दिए हैं, वे सब पूर्व भव के नाम हैं । इस प्रकार उनके मनुष्य भव के ही नाम यहाँ पर भी चलते हैं । कुल मिलाकर दो सौ छह पटरानियों के दो सौ छह अध्ययन इन वर्गों में हैं ।

इन कथाओं में भी अनेक घटनाओं, विविध शब्दों एवं विभिन्न वर्णनों से प्राचीनकालीन अनेक बातों का पता लगता है । प्राचीन समाज व्यवस्था की जानकारी के लिए ये कथाएँ विशेष उपयोगी हो सकती हैं ।

♣ ७. उपासक दशांग

इस सातवें अंग उपासक दशा में भगवान महावीर के दस उपासकों-श्रावकों की कथाएँ हैं । इस अंग का उपोद्घात भी विपाक सूत्र के ही समान हैं । दस श्रावकों के नाम इस प्रकार हैं—१. आनन्द, २. कामदेव, ३. चुलनीपिता, ४. सुरादेव, ५. चुलणीशतक, ६. कुण्डकोलिक, ७. शकडाल पुत्र, ८. महाशतक, ९. नंदिनी पिता और १०. सालिहीपिता अथवा सालेपिकापिता ।

स्थानांग में ये नाम बताए हैं, लेकिन कुछ प्राचीन हस्तप्रतियों में नामान्तर भी देखने को मिलते हैं । जैसे सालेपिकापिता के बजाय लंतियापिया, लत्तियपिया, लतिणीपिया, लेतियापिया आदि नाम भी उपलब्ध होते हैं । इसी तरह नंदिनी पिता के स्थान पर ललितांकपिया, सालेइणीपिया नाम प्राप्त होते हैं । समवायांग और नंदी सूत्र में अध्ययनों की संख्या का निर्देश किया गया है, किन्तु नामों का निर्देश नहीं किया गया है ।

भगवान महावीर के श्रावक वर्ग में ये दस श्रावक मुख्य रूप से गिने गए हैं । प्रत्येक अध्ययन में एक श्रावक का वर्णन है । इनमें श्रावकों के नगर, उद्यान, वनखंड, भगवान के समवसरण, राजा, माता-पिता, धर्माचार्य, धर्मकथा, इहलौकिक पारलौकिक ऋद्धि, भोग, भोगों का परित्याग, बारह व्रत तथा उनके अतिचार, पंद्रह कर्मादान, पडिमा, उपसर्ग, संलेखना, भक्त प्रत्याख्यान, पादोपगमन, स्वर्गगमन आदि विषयों का बहुत विस्तार के साथ वर्णन किया गया है । इन श्रावकों की निर्ग्रंथ प्रवचन में दृढ़ श्रद्धा थी ।

नोट :-ज्ञाता धर्म कथा के दूसरे श्रुतस्कंध के दस वर्गों की कथाओं के नामों की जानकारी के लिए देखिए– जैन सिद्धांत बोल संग्रह भाग-४ पृष्ठ १८६ से १९०

गृहस्थाश्रम में रहते हुए इन्होंने किस प्रकार धर्म, अर्थ और मोक्ष पुरुषार्थों की साधना की थी, यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है। इसी प्रकार गृहस्थाश्रम में रहा हुआ व्यक्ति भी आत्मविकास करता हुआ किस प्रकार मोक्ष का अधिकारी हो सकता है, यह भी उनके जीवन से अच्छी तरह स्पष्ट हो जाता है।

इन कथाओं में दो बातें ध्यान देने योग्य हैं—१. आनन्द श्रावक को अवधिज्ञान होने का उल्लेख और २. दुष्टभार्या के कारण होने वाली गृहस्थ जीवन की विडम्बनापूर्ण स्थिति।

श्रावक को अवधिज्ञान किस हद तक हो सकता है? इस विषय में आनन्द श्रावक और गौतम गणधर के बीच चर्चा है। आनन्द का कहना है कि मेरा कहना ठीक है, जबकि गौतम गणधर उसके कथन को मिथ्या बताते हैं। आनन्द इस बात को स्वीकार नहीं करते हैं। अंत में गौतम गणधर भगवान महावीर के पास जा कर अवधिज्ञान विषयक शंका का समाधान प्राप्त करते हैं और भगवान के आदेशानुसार आनन्द के पास जा कर अपनी भूल कबूल कर क्षमा याचना करते हैं। इससे गौतम गणधर की ऋजुता एवं विनयशीलता तथा आनन्द श्रावक की निर्भीकता व सत्यता प्रकट होती है। इसका फलितार्थ यह संकेत देता है कि चाहे उच्चतम पदस्थ व्यक्ति कितना ही बुद्धिशाली एवं प्रभावक हो, फिर भी उसे अपने प्रमाद के परिमार्जन के लिए सदा तत्पर रहना चाहिए। ऐसा करने से उसके गौरव की वृद्धि होती है। दोषों को छिपाने से लोगों में अविश्वास बढ़ता है तथा साधारण से साधारण व्यक्ति को भी निर्भीक होकर सत्य का पक्ष लेना चाहिए। किसी के प्रभाव में आकर सच बात कहने में झिझकना नहीं चाहिए।

गार्हस्थ्य जीवन सुखद, सुन्दर और सद्विवेक समन्वित हो सकता है, जब पति-पत्नी समान आचार विचार वाले हों। पति धार्मिक वृत्ति वाला हो और पत्नी कर्कशा, दुष्ट और क्रूर हो तो, सब कुछ तहस-नहस हो जाता है। महाशतक जैसे श्रावक की क्रूर पत्नी रेवती इसका उदाहरण है, जो माँसाहारी तो है ही, पर इतनी दुष्ट भी है कि अपनी सौतों की हत्या करके भी शान्त नहीं होती और स्वयं महाशतक को भी परेशान करने से नहीं चूकती।

उपसंहार के रूप में यही निर्देश करना शेष रह जाता है कि अन्य सूत्रों में तो प्रायः साध्वाचार का निरूपण है, लेकिन इस सूत्र में गृहस्थ धर्म के बारे में प्रकाश डाला है कि श्रावक श्राविकाओं का मूल आचार एवं अनुष्ठान क्या है। उस आचार के अनुरूप जीवन जीने वाले ही वास्तव में श्रावक है। शेष तो मात्र नामधारी श्रावक हैं।

♣ ८. अन्तकृद्दशा

आठवां अंग अन्तकृद्दशा हैं। अन्तकृत का अर्थ है—संसार का अन्त करने वाले। याने संसार रूपी समुद्र का अन्त करके मोक्ष प्राप्त करने वाले जीवों को अन्तकृत कहते हैं। इस आगम में ऐसे जीवों का वर्णन होने से इसका नाम सार्थक हैं। अन्तकृत दशा में एक श्रुतस्कंध और आठ वर्ग हैं। इसका उपोद्घात भी विपाक सूत्र से मिलता-जुलता है।

दिगंबर परंपरा के तत्वार्थ राजवार्तिक आदि ग्रंथों में अन्तकृतों के जो नाम बतलाए हैं, वे स्थानांग में उल्लिखित नामों से मिलते-जुलते हैं। स्थानांग में दस नाम इस प्रकार हैं—नमि, मातंग, सोमिल, रामगुप्त, सुदर्शन, जमाली, भगाली, किंकष, चिल्वक्क और फाल अंबडपुत्र।

समवायांग में अन्तकृद्दशा के दस अध्ययन और सात वर्ग तथा नंदी में दस अध्ययन और आठ वर्ग बताए हैं, किन्तु नामों का उल्लेख दोनों में नहीं है। वर्तमान अन्तकृद्दशा में न तो दस अध्ययन है और न ही उक्त नाम वाले अन्तकृतों का वर्णन है। उपलब्ध आगम के प्रथम वर्ग में निम्नोक्त दस अध्ययन हैं—गौतम, समुद्र, सागर, गंभीर, स्तिमित, अचल, कांपिल्य, अक्षोभ, प्रसेनजिन और विष्णु। ये सब राजा अंधकवृष्णि के पुत्र थे और इनकी माता का नाम धारिणी था। सबने दीक्षा लेकर बारह वर्ष पर्यन्त संयम पालन किया और अन्त समय में केवली होकर मोक्ष प्राप्त किया।

गौतम अध्ययन में द्वारिका नगरी का वर्णन है, जहाँ कृष्ण वासुदेव राज करते थे। इसमें नगर की शोभा का बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है। इसी नगरी के राजा अंधकवृष्णि थे।

दूसरे वर्ग में आठ अध्ययन हैं, जिनमें क्रमशः अक्षोभ, सागर, समुद्रविजय, हिमवन्त, अचल पूरण और अमीचंद का वर्णन है। इन आठों के पिता का नाम अंधकवृष्णि और माता का नाम धारिणी रानी था। ये आठों सोलह वर्ष की दीक्षा पर्याय का पालन करके मोक्ष गए।

तीसरे वर्ग में तेरह अध्ययन हैं, जिनमें एक-एक अन्तकृत की जीवनी है। उनके नाम इस प्रकार हैं—अनीकसेन, अनन्तसेन, अजितसेन, आनहितरिपु देवसेन, शुभसेन, सारण, गजसुकुमाल, सुमुख दुर्मुख, कुबेर, दासक, अनादृष्टि। प्रथम छह कुमारों के माता-पिता का नाम महेंद्रपुर नगर निवासी सुलसा और नाग गाथापति है। इन्होंने बीस-बीस वर्ष तक दीक्षा पालन कर मोक्ष प्राप्त किया। सारण के पिता का नाम वसुदेव और माता का नाम धारिणी था। ये बीस वर्ष संयम का पालन कर मोक्ष पधारे।

आठवें अध्ययन में गजसुकुमाल की गाथा है। इनका वृत्तान्त इतना प्रसिद्ध है कि सब अच्छी तरह से जानते हैं। इनके पिता राजा वसुदेव और माता देवकी रानी थी। कृष्ण वासुदेव इनके बड़े भाई थे। बालवय में गजसुकुमल की समता की कसौटी हुई और उसमें वे खरे उतरे।

नौवें से ग्यारहवें अध्ययन तक सुमुख, दुर्मुख और कुबेर का वर्णन है। ये तीनों राजा बलदेव और रानी धारिणी के पुत्र थे। बारहवें और तेरहवें अध्ययन में दारुण और अनादृष्टि कुमारों का वर्णन है। ये राजा वसुदेव और धारिणी रानी के पुत्र थे।

चौथे वर्ग में दस अध्ययन है—जाली, मयाली, उवयाली, पुरुषसेन, वारिषेण, प्रद्युम्न, सांब अनिरुद्ध, सत्यनेमि और दृढ़नेमि। प्रथम पाँच राजा वसुदेव और रानी धारिणी के पुत्र थे। प्रद्युम्न और सांब क्रमशः श्रीकृष्ण और रुक्मणि तथा श्रीकृष्ण और जंबूवती के पुत्र थे। अनिरुद्ध प्रद्युम्न और वैदर्भी के तथा सत्यनेमि व दृढ़नेमि राजा समुद्रविजय व रानी शिवादेवी के पुत्र थे।

पाँचवे वर्ग में पद्मावती, गौरी, गांधारी, लक्ष्मणा, सुषमा, जंबूवती, सत्यभामा, रुक्मणि, मूलश्री और मूलदत्ता इन दस के दस अध्ययन हैं। प्रथम आठ श्रीकृष्ण की रानियाँ थीं तथा मूलश्री व मूलदत्ता श्रीकृष्ण और जंबूवती के पुत्र सांब की पत्नियाँ थीं। इन सबने भगवान अरिष्टनेमि के पास दीक्षा ली थी। पद्मावती की कथा में द्वारिका नगरी के विनाश का कारण, श्रीकृष्ण की मृत्यु तथा आगामी चौबीसी में उनके तीर्थंकर होने आदि का कथन भी बहुत विस्तार के साथ है।

छठे वर्ग में सोलह अध्ययन हैं। वे इस प्रकार हैं—मकाई, विक्रम, अर्जुनमाली, काश्यप, सेम, धृतिधर, कैलाश, हरिश्चैद्य, विरक्त, सुदर्शन, पूर्णभद्र, सुमनभद्र, सुप्रतिष्ठ, मेघ, अतिमुक्त (अवन्ती कुमार) और अलख राजा। इनमें से अर्जुनमाली, सुदर्शन और अवन्ती कुमार की कथाएँ तो सामान्य से सामान्य जैन को ज्ञात है। इन्हें तो प्रायः सभी पढ़ते रहते हैं। अवन्तीकुमार ने छोटी सी वय में दीक्षा लेकर गुणरत्न संवत्सर जैसी महान तप साधना की थी।

सातवें वर्ग में तेरह अध्ययन है, जिनमें क्रमशः नंदा, नन्दवती, नन्दोत्तरा, नंदसेना, मरुता, सुमरुता, महामरुता, मरुदेवी, भद्रा, सुभद्रा, सुजाता, सुमति और भूदिन्ना इन तेरह रानियों की कक्षाएँ हैं। ये राजा श्रेणिक की रानियाँ थीं। इन्होंने भगवान महावीर के उपदेश से वैराग्यवती होकर राजा श्रेणिक की आज्ञा लेकर प्रवज्या ग्रहण की थी।

आठवें वर्ग में काली, सुकाली, महाकाली, कृष्णा, सुकृष्णा, महाकृष्णा, वीरकृष्णा, रामकृष्णा, प्रियसेन कृष्णा और महासेन कृष्णा इन श्रेणिक राजा की दस रानियों की कथाओं के दस वर्ग हैं। इन्होंने दीक्षा लेकर रत्नावली, कनकावली आदि

उग्र तपस्याओं का आचरण कर अन्त में मोक्ष प्राप्त किया।

♣ ९. अनुत्तरोपपातिक दशांग

नवग्रैवेयक के ऊपर विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित एवं सर्वार्थसिद्ध ये पाँच अनुत्तर विमान हैं। ये देवविमान सब विमानों में श्रेष्ठतम हैं। इसीलिए इन्हें अनुत्तर विमान कहते हैं। इस अंग में ऐसी आत्माओं का वर्णन है, जिन्होंने इस संसार में तप, संयम आदि उत्तम धर्म का पालन कर अनुत्तर विमान में जन्म लिया। वहाँ से आयु पूरी कर मनुष्य भव में उत्पन्न होकर वे उसी भाव में मोक्ष जाएंगे।

समवायांग में बताया है कि अनुत्तरोपपातिक दशा नौवाँ अंग है और एक श्रुतस्कंध है। इसमें तीन वर्ग और दस अध्ययन है। नंदी में भी यह बताया गया है, किन्तु वहाँ अध्ययनों की संख्या का निर्देशन नहीं है।

दिगंबर परंपरा संमत राजवार्तिक आदि ग्रंथों में भी इसका परिचय दिया गया है। उसमें इसके तीन वर्गों का उल्लेख नहीं है, किन्तु ऋषिदास आदि से संबंधित दस अध्ययनों का ही उल्लेख है। स्थानांग में दस अध्ययनों के नाम इस प्रकार बताए हैं—ऋषिदास, धन्य, सुनक्षत्र, कार्तिक संस्थान, शालिभद्र, आनन्द, तेतली, दशार्णभद्र और अतिमुक्तक। राजवार्तिक व स्थानांग में जिन नामों का उल्लेख है, उनमें से कुछ नाम उपलब्ध आगम में मिलते हैं, जैसे वारिषेण (राजवार्तिक) धन्य सुनक्षत्र तथा ऋषिदास (स्थानांग, राजवार्तिक)।

अनुत्तरोपपातिक दशा के अंत में लिखा है कि इसका एक श्रुतस्कंध है, तीन वर्ग हैं और तीन उद्देशनकाल हैं, जिनका तीन दिन में अध्ययन पूर्ण होता है। उपलब्ध अनुत्तरोपपातिक दशा तीन वर्गों में विभक्त हैं। प्रथम में दस, द्वितीय में तेरह और तृतीय में दस अध्ययन हैं। कुल मिलाकर तीनों वर्गों में तैंतीस अध्ययन हैं। प्रत्येक अध्ययन में एक-एक महापुरुष की जीवनी का वर्णन किया गया है। उनके नाम इस प्रकार हैं— १. जाली, मयाली, उपजाली, पुरुषसेन, वारिषेण, दीर्घदन्त, लट्ठदन्त, विहल्ल, वेहायस और अभय कुमार। २. दीर्घसेन, महासेन, नष्टदंत, गूढ़दन्त, शुद्धदन्त, हल्लद्रुम, द्रुमसेन, सिंह, सिंहसेन, महासिंह सेन, महाद्रुम सेन और पुष्पसेन। ३. धन्ना, सुनक्षत्र, ऋषि दास, पेल्लक, रामपुत्र, चंद्र, पुष्टिमात्रिक, पेढ़ालपुत्र, पोटिल्ल और वेहल्ल।

इनमें से धन्ना का चरित्र तो विश्रुत है। ये भद्रा सार्थवाही के पुत्र थे। जितने भोग विलास के साधन इनके पास थे, उतने अन्य किसी के पास नहीं थे। पहले ये जितने भोग विलास में डूबे हुए थे, उतने ही या उससे भी बढ़कर ये तप साधना में तल्लीन हुए। इनके तपोमय जीवन का वर्णन इतना अनूठा है कि जैन साहित्य में तो क्या, सम्पूर्ण भारतीय साहित्य में दृष्टिगोचर नहीं होता।

♣ १०. प्रश्नव्याकरण

शास्त्रीय दृष्टि से इस आगम का परिचय पूर्व में जो बताया गया है, उससे उपलब्ध आगम सर्वथा भिन्न है। इसमें न तो १०८ प्रश्न, न १०८ अप्रश्न और न ही १०८ प्रश्नाप्रश्न है तथा न नागकुमारों और सुपर्णकुमारों संगति के दिव्य प्रश्न है। सिर्फ पाँच हिंसादि आस्रवों और अहिंसादि पाँच संवरों का दस अध्ययनों में निरूपण है। इसका कारण बताते हुए वृत्तिकार अभयदेव सूरि ने लिखा है कि इस शास्त्रागत चमत्कारी विद्याओं का कोई अनधिकारी व्यक्ति दुरुपयोग न कर बैठे, अतः इस प्रकार की विद्याएँ इस सूत्र से निकाल दी गई हैं। इसके दो श्रुतस्कंध हैं। प्रत्येक के पाँच-पाँच अध्ययन हैं। प्रथम श्रुतस्कंध के पाँचों अध्ययनों में क्रमशः हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह इन पाँच आस्रव द्वारों का और दूसरे स्कंध के पाँच अध्ययनों में क्रमशः अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन पाँच संवर द्वारों का वर्णन है।

प्रथम श्रुतस्कंध के पहले अध्ययन में हिंसा का स्वरूप बताया गया है कि हिंसा प्राणियों को त्रासदायक एवं उद्वेगकारी है तथा हिंसा इहलोक-परलोक में अपयश और परलोक में नरक तिर्यंच गति प्रदान करने वाली हैं। हिंसा का इन विशेषणों के द्वारा वर्णन किया गया है तथा उसके प्राणीवध, चण्ड आदि तीस गुण निष्पन्न नाम बताए हैं। अंत में अध्ययन का उपसंहार करते हुए हिंसा त्याग का उपदेश दिया है।

दूसरे अध्ययन में असत्य भाषण (मृषावाद) का कथन किया गया है। असत्य वचन, छल, कपट, माया एवं अविश्वास का स्थान है। अलीक, माया, मृषा, आदि इसके तीस निष्पन्न नाम हैं। उन्हें हेतुपूर्वक समझाया गया है। इसमें असत्य भाषण के रूप में निम्नलिखित मतों के नामों का उल्लेख किया गया है–

नास्तिकवादी अथवा वामलोकवादी–चार्वाक।

पंचस्कंधवादी-बौद्ध।

मनोजीव वादी– मन को जीव (आत्मा) मानने वाले।

वायुजीव वादी– प्राणवायु को जीव मानने वाले।

अंडे से जगत की उत्पत्ति मानने वाले।

लोक को स्वयंभू कृत मानने वाले।

संसार को प्रजापति (ब्रह्मा) द्वारा निर्मित मानने वाले।

संसार को ईश्वरकृत मानने वाले।

संसार को विष्णुमय मानने वाले।

आत्मा को एक, अकर्ता, वेद्य, नित्य, निष्क्रिय, निर्गुण, निर्लिप्त मानने वाले।

जगत को यादृच्छिक मानने वाले।

जगत को स्वभावजन्य मानने वाले।

जगत को देवकृत मानने वाले।

नियतिवादी-आजीवक।

तीसरे अध्ययन में अदत्तादान (चोरी) का स्वरूप बतलाया गया है और उसके गुण निष्पन्न तीस नाम दिए हैं। आगे विस्तार से बताया है कि चोरी करने वाले समुद्र, जंगल आदि स्थानों में किस तरह लूटते हैं। संसार को समुद्र की उपमा दी गई है। अदत्त का फल बताते हुए कहा है कि चोरी करने वाले नरक और तिर्यंच गति में जन्म लेकर नाना प्रकार के दुःख उठाते हैं। संसार में विभिन्न प्रसंगों पर होने वाली विविध चोरियों का विस्तार से वर्णन किया गया है।

चौथे अध्ययन में अब्रह्म का वर्णन है। इसमें अब्रह्म का स्वरूप बताकर यह कहा है कि इसे जीतना बड़ा कठिन है। इसके गुण निष्पन्न तीस नाम बताए हैं तथा सभी प्रकार के भोगपरायण लोग, देव-देवियों, चक्रवर्तियों, वासुदेवों, मांडलिक राजाओं एवं इसी प्रकार के अन्य व्यक्तियों के भोगों का वर्णन किया गया है। जो इन भोगों में फँसते हैं, वे अतृप्त अवस्था में ही काल धर्म को प्राप्त होकर विभिन्न निकृष्ट नरक तिर्यंचादि योनियों में जन्म लेकर अनेक प्रकार के दुःख भोगते हैं।

पाँचवाँ अध्ययन परिग्रह आस्रव के विवेचन का है। इसमें परिग्रह का स्वरूप बताते हुए संसार में जितने प्रकार का परिग्रह होता है, या दिखाई देता है, उसका सविस्तार निरूपण किया गया है। संचय, उपचय, निधान, पिण्ड आदि परिग्रह के तीस गुण निष्पन्न नाम हैं। इनमें सभी प्रकार के परिग्रह का समावेश हो जाता है। लोभ के वशीभूत होकर लोग कई प्रकार का अनर्थ करते हैं। अध्ययन के उपसंहार में बतलाया है कि इसमें फँसने से सुख प्राप्त नहीं होता, अपितु संतोष से ही सुख की प्राप्ति होती है।

द्वितीय श्रुतस्कंध में प्रथम श्रुतस्कंध के प्रतिपक्षी तत्वों का कथन है। इसके प्रथम अध्ययन में अहिंसा का स्वरूप बतलाया गया है। अहिंसा समस्त प्राणियों का क्षेमकुशल करने वाली है। दया, अभया, शांति आदि अहिंसा के तीस गुण निष्पन्न नाम हैं। अहिंसा भगवती को आठ उपमाएँ दी गई हैं। इसमें अहिंसा पोषक विविध अनुष्ठानों एवं पाँच भावनाओं का निरूपण है।

द्वितीय अध्ययन में सत्य रूप संवर का निरूपण है। इसमें सत्यवचन का स्वरूप बतलाकर उसका प्रभाव बतलाया गया है। प्रस्तुत प्रकरण में निम्नलिखित सत्यों का निरूपण किया गया है—जनपद सत्य, संमत सत्य, स्थापना सत्य, नाम सत्य,

रूप सत्य, व्यवहार सत्य, भावसत्य, योग सत्य और उपमा सत्य। भाषा के संस्कृत, प्राकृत आदि भेद हैं। एक वचन, द्विवचन आदि की अपेक्षा वचन के सोलह भेद हैं तथा बोलते समय व्याकरण के नियमों तथा उच्चारण की शुद्धता का ध्यान रखने का निर्देश दिया है। सत्य की दशा के लिए पाँच भावनाओं का निरूपण करके बताया गया है कि सत्य का पालन करने से मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है।

अचौर्य (अस्तेय) नामक तीसरे अध्ययन में अस्तेय व्रत के स्वरूप का निरूपण है, जिसमें अस्तेय की स्थूल से लेकर सूक्ष्तम व्याख्या की गई है। अपने स्वरूप को छिपाकर अन्य स्वरूप को प्रकट करने से अस्तेय व्रत भंग होता है, इसलिए इसके तप चोर, वय चोर, रूप चोर, कुलचोर, आचार चोर और भाव चोर ये छह भेद बताए हैं। इस व्रत की रक्षा के लिए पाँच भावनाएँ बतलाई हैं। इस व्रत का आराधक मोक्षसुख का अधिकारी बनता है।

चौथे अध्ययन का नाम ब्रह्मचर्य है। इस अध्ययन में ब्रह्मचर्य निरूपण, तत्संबंधी अनुष्ठानों का वर्णन एवं उसकी साधना करने वालों का निरूपण किया है। साथ ही अनाचरण की दृष्टि से ब्रह्मचर्य विरोधी प्रवृत्तियों का भी उल्लेख है। संसार के सर्वश्रेष्ठ पदार्थों के साथ तुलना करके इसे बत्तीस उपमाएँ दी गई हैं तथा इस व्रत की रक्षा के लिए पाँच भावनाएं बतलाई गई हैं।

पाँचवें अपरिग्रह अध्ययन में अपरिग्रहवृत्ति तद्विषयक अनुष्ठानों एवं अपरिग्रह व्रतधारियों के स्वरूप का निरूपण है। प्रसंगवशात साध्वाचार से संबंधित कतिपय नियमों का भी उल्लेख है। इस व्रत की रक्षा के लिए पाँच भावनाएँ बतलाई गई हैं।

द्वितीय श्रुतस्कंध का उपसंहार करते हुए बतलाया है कि उपर्युक्त पाँच संवर द्वारों की सम्यक् प्रकारेण आराधना करने से मोक्ष की प्राप्ति होती है।

♣ ११. विपाक सूत्र

यह उपलब्ध अंग आगमों में अंतिम है। इसके विषय के संबंध में दोनों जैन परंपराएँ एकमत है। दिगंबर परंपरा के तत्वार्थ राजवार्तिक, धवला, जय धवला और अंगपण्णत्ति में बताया है कि इसमें दुःख-सुख के विपाक, परिणाम का वर्णन है। श्वेताम्बर परंपरा के समवायांग तथा नंदी सूत्र में भी इसी प्रकार के विपाक के विषय का परिचय दिया गया है। इस प्रकार विपाक सूत्र के विषयों के बारे में दोनों परंपराओं में कोई वैषम्य नहीं है। प्रारंभ में भगवान महावीर के शिष्य सुधर्मास्वामी एवं उनके शिष्य जंबूस्वामी का विस्तृत परिचय है। इसके दो श्रुतस्कंध है—१. दुःख विपाक

और २. सुखविपाक। दोनों स्कंधों में दस-दस अध्ययन हैं, जिनमें एक-एक कथा है। प्रत्येक कथा के प्रारंभ में पूर्व प्रचलित प्रणाली के अनुसार कथा कहने के स्थान का नाम, बाद में वहाँ के राजा-रानी के नाम, तत्पश्चात् कथा के मुख्य पात्र के स्थान आदि का परिचय देकर कथा का प्रारंभ किया गया है।

प्रथम श्रुतस्कंध में दस अध्ययनों में क्रमशः मृगापुत्र, उज्झित कुमार अभग्गसेन, शकट, बृहस्पतिदत्त नंदीवर्धन, उदुम्बरदत्त, शौर्यदत्त, देवदत्ता और अंजूश्री की कथाएँ हैं। इन कथाओं में यह बतलाया गया है कि इन लोगों ने पूर्व भव में किस-किस प्रकार से और कैसे-कैसे पाप कर्मों का उपार्जन किया था कि जिससे उन्हें इस भव में इस प्रकार दुःखी होना पड़ा। पाप कर्म करते समय तो अज्ञानतावश जीव प्रसन्न होता है और उसे वे पापकारी कार्य सुखदायी प्रतीत होते हैं किन्तु उनका परिणाम कितना दुःखदायी होता है और जीव को कितने दुःख उठाने पड़ते हैं, इन सब बातों को इन कथाओं में चित्रित किया गया है। कथाओं की पूरी जानकारी के लिए वे कथाएँ पढ़नी चाहिए।

स्थानांग में दुःख विपाक के दस अध्ययनों के ये नाम दिए हैं—मृगापुत्र, गोत्रास, अण्ड, शकट, माहन, नंदीषेण, शौरिक, उदुंबर, सहसोद्दाह, आमरक और कुमार लिच्छवी। उपलब्ध नाम जो ऊपर बताए हैं, उनमें इन नामों से भिन्नता है। गोत्रास नाम उज्झित के अन्य भव का नाम है। अण्डनाम अभग्गसेन द्वारा पूर्व भव में किए गए अण्डे के व्यापार का सूचक है। माहन नाम का संबंध बृहस्पति पुरोहित से है। नंदीषेण नाम नंदीवर्द्धन के स्थान पर प्रयुक्त हुआ है। सहसोद्दाह आमरक का संबंध राजा की माता को तप्तशलाका से मारने वाली देवदत्ता से जुड़ा प्रतीत होता है। कुमार लिच्छवी के स्थान पर उपलब्ध में अंजूश्री नाम है। अंजूश्री के अपने अंतिम भाव में किसी सेठ के यहाँ पुत्र रूप में जन्म ग्रहण करने की घटना का उल्लेख आता है। संभवतः इस घटना को ध्यान में रखकर स्थानांग में कुमार लिच्छवी नाम का प्रयोग किया गया हो। स्थानांग के इस नाम भेद का कारण वाचनान्तर माना जाए, तो कोई असंगति जैसी बात नहीं है।

दूसरे श्रुतस्कंध सुख विपाक के दस अध्ययनों में संकलित कथाओं के नाम इस प्रकार हैं—सुबाहु, भद्रनन्दी, सुजात, सुवासवकुमार, जिनदास, वैश्रमण कुमार, महाबल, भद्रनन्दी, महच्चन्द्र और वरदत्त। इन व्यक्तियों ने पूर्व जन्म में सुपात्रदान आदि शुभ कार्य किए, जिसके फलस्वरूप वर्तमान जन्म में इन्हें उत्कृष्ट ऋद्धि की प्राप्ति हुई और उन्होंने संसार को परित (हलका सीमित किया।) ऐसी ऋद्धि का त्याग करके इन सबने संयम अंगीकार किया और मरणोपरान्त देवलोक में गए। आगे मनुष्य भव

और देवभव करके महाविदेह क्षेत्र से मोक्ष प्राप्त करेंगे। पुण्य का फल कितना मधुर और सुखरूप होता है, इसका परिचय इन कथाओं से मिलता है। प्रत्येक सुखाभिलाषी के लिए इन कथाओं का अध्ययन करके शिक्षा व बोध प्राप्त करना आवश्यक है।

इस प्रकार यहाँ उपलब्ध अंग-आगमों का संक्षेप में परिचय दिया गया है। इनमें अनेक ऐसे तथ्य है जो तत्कालीन सामाजिक परिस्थिति, रीति रिवाज, जीवन व्यवस्था आदि पर प्रकाश डालते हैं।

उत्तरवर्ती काल में अनेक आचार्यों ने निर्युक्ति भाष्य, चूर्णि, वृत्ति, टीका आदि विधाओं द्वारा इनका रहस्य स्पष्ट करने के लिए प्राकृत संस्कृत में व्याख्या ग्रंथ लिखे हैं तथा वर्तमान में अनेक भारतीय भाषाओं में अनुवाद प्रकाशित हुए हैं। अन्य विदेशी विद्वानों ने भी कुछ आगमों का पाश्चात्य भाषाओं में शोधपूर्ण प्राक्कथन के साथ अनुवाद किया है एवं निबंध लिखे हैं। उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

डॉ. जेकोबी द्वारा आचारांग अंग्रेजी भाषान्तर सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट खण्ड २२ में प्रकाशित किया गया है तथा प्रथम श्रुतस्कंध का प्रो. शूब्रिंग द्वारा किया गया अनुवाद सन् १९१० में लिप्झिग में प्रकाशित हुआ है। इन दोनों विद्वानों ने अपनी शोधपूर्ण प्रस्तावनाएँ लिखकर इसके बाह्य एवं आन्तर रूप का विशेष परिचय दिया है।

इसी प्रकार सूत्रकृतांग का अंग्रेजी भाषान्तर डॉ. जेकोबी द्वारा किया गया है, जो उनकी विद्वन्मान्य प्रस्तावना के साथ सेक्रेड बुक्स ऑफ दी ईस्ट खण्ड ३४५ में प्रकट हुआ है।

उपासक दशा को संशोधित करके उसका अंग्रेजी अनुवाद डॉ. ए.एफ. हॉरनेल ने किया है। उनकी उपयोगी प्रस्तावना एवं टिप्पण तथा अभयदेवसूरि की टीका सहित यह ग्रंथ बिब्लियोथिका इण्डिका बंगाल कलकत्ता की ओर से सन् १८८५ में प्रकाशित हुआ है।

अन्तकृद्दशा का एल.डी. बर्नेट द्वारा किया गया अंग्रेजी अनुवाद सन् १९०७ में कलकत्ता से प्रकाशित किया गया है।

इसी प्रकार अनुत्तरोपपातिक दशा का भी एल.डी. बर्नेट द्वारा किया गया अंग्रेजी अनुवाद सन् १९०७ में प्रकाशित हुआ है।

डॉ. वेबर ने प्रायः प्रत्येक आगम का इण्डियन एपेडिक के विभिन्न अंकों में संक्षेप में परिचय दिया है।

अब आगे के प्रकरण में अंगबाह्य आगमों का परिचय प्रस्तुत करते हैं।

अध्याय ७

अंगबाह्य आगमों का परिचय

पूर्व में यह बताया जा चुका है कि श्रुतकेवलियो, स्थविरों आदि द्वारा रचित ग्रंथ अंगबाह्य आगम है। उनके लिए अनंग प्रविष्ट,[१] प्रकीर्णक, [२] उपांग, [३] शब्द भी प्रयुक्त हुए हैं। किन्हीं भी शब्दों द्वारा हम संबोधित करें, लेकिन इन सबका आशय यही है कि भगवान महावीर द्वारा अर्थरूप में भाषित और गणधरों द्वारा शब्द रूप में संकलित आचार आदि द्वादशांगों के अतिरिक्त उनके भावानुसार रचित अन्य ग्रंथ अंग वाहक आगम है।

नंदी सूत्र में अंगबाह्य आगमों का वर्गीकरण आवश्यक और आवश्यक अतिरिक्त इन दो विभागों में किया गया है। इनमें से आवश्यक के तो निम्नलिखित छह भेद बतलाए हैं—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान तथा आवश्यक व्यतिरिक्त के पुनः कालिक और उत्कालिक ये दो भेद करके दोनों के अनेक भेद होने का संकेत करके कुछ नाम भी गिनाए हैं। जैसे कि—

कालिक— उत्तराध्ययन, दशाश्रुतस्कंध, कल्प- बृहत्कल्प व्यवहार, निशीथ, महानिशीथ, ऋषिभाषित, जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति, द्वीपसागर प्रज्ञप्ति, चन्द्र प्रज्ञप्ति, क्षुद्रिकाविमान प्रविभक्ति, महल्लिका विमान प्रविभक्ति, अंग चूलिका, वर्ग चूलिका, विवाह चूलिका, अरुणोपपात, वरुणोपपात, गुरुडापपात, धरणोपपात, वैश्रमणोपपात, वेलंधरोपपात, देवेन्द्रोपपात, उत्थान श्रुत, समुत्थानश्रुत, नागपरिज्ञापनिका, निरयावलिका, कल्पिका, कल्पावतंसिका, पुष्पिता, पुष्प चूलिका, वृष्णिदशा इत्यादि और इस इत्यादि का आशय स्पष्ट करने के लिए कहा है कि चौरासी हजार प्रकीर्णक भगवान ऋषभदेव आदि तीर्थंकर के संख्यात सहस्र प्रकीर्णक मध्यम तीर्थंकरों के और चौदह हजार प्रकीर्णक अन्तिम तीर्थंकर महावीर के हैं। अथवा जिसके जितने शिष्य औत्पातिकी, वैनयिकी, कर्मजा और पारिणामिकी इन चार प्रकार की बुद्धि से युक्त है, उनके उतने ही प्रकीर्णक होते हैं।

उत्कालिक— दशवैकालिक, कल्पिका कल्पिक, चुल्ल कल्पश्रुत, महाकल्पश्रुत, औपपातिक, राजप्रश्नीक, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, महाप्रज्ञापना, प्रमादाप्रमाद, नन्दी, अनुयोगद्वार, देवेन्द्रस्तव, तन्दुल वैचारिक, चंद्रविद्या, सूर्य प्रज्ञप्ति, पौरुषीमंडल, मंडल प्रवेश, विद्याचरणनिश्चय गणिविद्या, ध्यानविभक्ति, मरण विभक्ति, आत्म विशुद्धि

---

१. नंदीसूत्र ४४
२. नंदी सूत्र ४४
३. निरयावलिया पृष्ठ ३, ४
तत्वार्थ भाष्य टीका पृष्ठ ३७

वीतरागश्रुत, संलेखनाश्रुत, विहारकल्प, चरण कल्पविधि, आतुर प्रत्याख्यान, महांप्रत्याख्यान इत्यादि ।

नंदीसूत्र के पूर्वोक्त कथन का सारांश यह है कि नंदीसूत्रकार के समय तक अनेक ग्रंथ थे, जिन्हें प्रमाणभूत मानकर आगम के रूप में प्रतिष्ठित किया गया था । इनमें से कतिपय सूत्र आज उपलब्ध है और कुछ अनुपलब्ध हैं । वर्तमान में श्वेतांबर मूर्ति पूजक परंपरा में अंग बाह्य आगमों की संख्या चौंतीस और स्थानकवासी परंपरा में इक्कीस प्रमाणभूत मानी गयी है । इन्हें भी सरलता से समझने के लिए पाँच विभागों में विभक्त किया गया है । वे पाँच विभाग निम्नलिखित हैं–

उपांग, मूल, छेद, चूलिका और प्रकीर्णक । इन विभागों में गर्भित आगमों के नाम और उनका परिचय यथास्थान आगे दिया जा रहा है । इस परिचय में यह ध्यान रखना है कि पहले उन सूत्रों का परिचय दिया जायेगा, जो समस्त श्वेतांबर परंपरा को मान्य है और उसके बाद उनका परिचय देंगे, जिनको श्वेतांबर मूर्तिपूजक परंपरा तो मानती है, लेकिन स्थानकवासी परंपरा नहीं मानती ।

♣ दिगंबर परंपरामान्य अंगबाह्य [१]

दिगंबर परंपरा में भी श्रुत के अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य ये दो मूल भेद हैं । अंग आगमों के नाम और संख्या श्वेतांबर और दिगंबर परंपरा में एक जैसी समान है, लेकिन दिगंबर परंपरा में अंगबाह्य आगमों की कुल संख्या चौदह मानी गयी है । उनके नाम व संख्या इस प्रकार है–

१. सामायिक– इसमें द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा से समता भाव रूप सामायिक का वर्णन किया जाता है । तीनों संध्याओं (प्रातः, मध्याह्न और सांय) में या पक्ष और मास के संधि दिनों में अथवा अपने इच्छित समय में बाह्य और अन्तरंग पदार्थों में कषाय का निरोध करने को सामायिक करते हैं । इसके चार भेद हैं- द्रव्य सामायिक, क्षेत्र सामायिक, काल सामायिक और भाव सामायिक । सचित्त और अचित्त द्रव्यों में राग द्वेष के निरोध करने को द्रव्य सामायिक कहते हैं । ग्राम, नगर देश आदि में राग-द्वेष का निरोध करना क्षेत्र सामायिक है । छह ऋतुओं में समभाव रखने को या राग-द्वेष न करने को काल सामायिक कहते हैं । समस्त कषायों का निरोध करके तथा मिथ्यातत्व को दूर करके छह द्रव्य विषयक निर्बाध अस्खलित ज्ञान को भाव सामायिक कहते हैं । इसमें इन सबका वर्णन है ।

---

१. जैन साहित्य का इतिहास पूर्व पीठिका के आधार से और षट्खंड पुस्तक १ पृष्ठ ९६-९८, पु. ९, पृ. १८७-१९१ का पा.भा. १ पृ. ९७-१२१

२. **चतुर्विंशतिस्तव**– उस उस काल संबंधी चौबीस तीर्थंकरों की वंदना करने की विधि, उनके नाम, आकार, ऊंचाई, पाँच महाकल्याणक, चौंतीस अतिशयों का स्वरूप और तीर्थंकरों की कृत्रिम, अकृत्रिम प्रतिमाओं और चैत्यालयों का वर्णन इसमें है।

३. **वंदना**– एक जिनेन्द्र संबंधी और उन-उन जिनेन्द्र देव के अवलंबन से जिनालय संबंधी वन्दना का सांगोपांग वर्णन इसमें है।

४. **प्रतिक्रमण**– प्रमाद से लगे हुए दोषों का निराकरण जिसके द्वारा किया जाता है, उसे प्रतिक्रमण कहते हैं। इसके सात भेद हैं– दिन संबंधी, रात्रि संबंधी, पाक्षिक, चातुर्मासिक, सांवत्सरिक, ऐर्यापथिक और औत्तमार्थिक। प्रतिक्रमण अंगबाह्य में इन सातों प्रकार के प्रतिक्रमणों का वर्णन किया गया है।

५. **वैनयिक**– यह ज्ञान विनय, दर्शन विनय, चारित्र विनय, तपविनय और उपचार विनय का वर्णन करता है।

६. **कृतिकर्म**– यह अरिहंत, सिद्ध आचार्य उपाध्याय और साधु की पूजाविधि का वर्णन करता है।

७. **दशवैकालिक**– इसमें मुनियों की आचार विधि और गोचर विधि का वर्णन है।

८. **उत्तराध्ययन**– चार प्रकार के उपसर्ग और बाईस परीषहों के सहने के विधान का और उनके सहन करने के फल का तथा अनेक प्रकार के उत्तरों का वर्णन इसमें है।

९. **कल्प व्यवहार**– साधुओं के योग्य आचरण का और अयोग्य आचरण के होने पर प्रायश्चित विधि का वर्णन इसमें है।

१०. **कल्प्याकल्प्य**– द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव का आश्रय लेकर मुनियों के लिए यह योग्य है और यह अयोग्य है, इत्यादि का वर्णन इसमें है।

११. **महाकल्प्य**– दीक्षा ग्रहण, शिक्षा, आत्मसंस्कार, संलेखना और उत्तम स्थान रूप आराधना को प्राप्त हुए साधुओं के करने योग्य आचरण का वर्णन इसमें है।

१२. **पुंडरीक**– भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क, कल्पवासी और वैमानिक संबंधी इन्द्र सामानिक देव आदि में उत्पत्ति के कारणभूत दान, पूजा, शील, तप, उपवास, सम्यक्त्व और अकामनिर्जरा का तथा उनके उपपात स्थान और भवनों के स्वरूप का इसमें वर्णन है।

१३. महापुंडरीक– उन्हीं इन्द्रों आदि में उत्पत्ति के कारण भूत तप विशेष आदि का वर्णन इसमें है ।

१४. निषिद्धिका– इसमें अनेक प्रकार के प्रायश्चित्तों का वर्णन है ।

इस प्रकार दिगम्बर परंपरा में अंगबाह्य आगमों के वर्ण्य विषयों का उल्लेख किया गया है । लेकिन इनको भी अंग आगमों की तरह ग्राह्य न मान कर इन पर रचित ग्रंथों को प्रमाणभूत माना है, जो एक आश्चर्य की बात है । इस अस्वीकृति का क्या उद्देश्य रहा होगा, यह तो वे ही जाने, लेकिन हम यह अवश्य अनुभव करते हैं कि इससे हमारी अपार क्षति हुई है । यह तथ्य जैन साहित्य का इतिहास- पूर्व पीठिका के पृष्ठ ५४३ के निम्न अवतरण से स्पष्ट हो जाता है–

"उक्त विश्लेषण से पाठक समझ सकेगें कि दिगंबर परंपरा में स्वेतांबर संप्रदाय की तरह अंगों के संकलन का सामूहिक प्रयत्न क्यों नहीं किया गया और क्यों दिगंबरों ने उक्त रीति से संकलित आगमों को मान्य नहीं किया । इससे यद्यपि उनकी अपार क्षति हुई ।"

अब हम अपने मूल शीर्षक के अनुसार श्वेतांबर परम्परा मान्य अंग बाह्य आगमों का परिचय प्रस्तुत करते हैं ।

♣ उपांगविभागगत आगम

जैसा कि पूर्व में बताया गया है कि उपांग शब्द का प्रयोग पहले समस्त अंगबाह्य आगमों के लिए प्रयुक्त किया जाता था, लेकिन वर्तमान में बारह ग्रंथों के लिए उपांग शब्द रूढ़ हो गया है । उपांग का सामान्य अर्थ होता है- सहकारी अंग । जैसे — कान, नाक, आँख, हाथ, पैर, आदि मानव शरीर के उपांग हैं । वैदिक परंपरा में तो वेदों को अंग मान कर पुराण, न्याय मीमांसा, धर्मशास्त्र और वेदों के व्याख्या ग्रंथों को सहायक- सहकारी अंग-उपांग माना है, लेकिन जैन परंपरा में भी उपांग शब्द का प्रयोग किया जाना विचारणीय है । क्योंकि बारह अंगों की भाँति बारह उपांगों का उल्लेख प्राचीन आगम ग्रंथों में प्राप्त नहीं होता । समवायांग सूत्र में बारह वस्तुओं की गणना करते समय द्वादश अंगों का वर्णन किया गया है, लेकिन वहाँ द्वादश उपांगों के नामों का उल्लेख नहीं है । नंदीसूत्र में भी कालिक-उत्कालिक के रूप में उपांगों का उल्लेख है, किन्तु बारह उपांगों के रूप में नहीं । केवल निरयावलिया के प्रारंभ में निरयावलिया आदि पाँच आगमों को उपांग संज्ञा दी गयी है, लेकिन वहाँ बारह ग्रंथों के वर्ग के रूप में उपांग शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है । इस प्रकार बारह उपांग संबंधी उल्लेख बारहवीं शताब्दी के पूर्व के ग्रंथों में उपलब्ध नहीं होता । इस स्थिति में यही संभावना मानी जा सकती है कि श्रुत पुरुष की कल्पना में आचार आदि आगमों को अंग मानने के प्रसंग में तद्व्यतिरिक्त आगमों को उपांग मानने का आविर्भाव हुआ

होगा। इसके अतिरिक्त अन्य कोई कारण रहा हो और उस का स्पष्टीकरण भी किया हो, लेकिन जैसे आगमों की अनेक परंपराएँ काल के गर्भ में समा गयीं, वैसा ही इसके साथ भी न हुआ हो। ऐसी दशा में जो अवशिष्ट है और जिस रूप में अंगबाह्य आगमों का वर्गीकरण उपलब्ध है, उसी को स्वीकार करने में सन्तोष मान लेना चाहिए।

बारह उपांगों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

१. औपपातिक, २. राजप्रश्नीय, ३. जीवाभिगम्, ४. प्रज्ञापना, ५. जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति, ६. सूर्य प्रज्ञप्ति, ७. चन्द्र प्रज्ञप्ति, ८. कल्पिका, (निरयावलि), १०. कल्पावतंसिका, १०. पुष्पिका, ११. पुष्प चूलिका, १२. वृष्णिदशा।

इन बारह उपांगों का अर्वाचीन आचार्यों ने अंगों के साथ संबंध जोड़ने का प्रयत्न किया है। जैसे कि श्री चन्दसूरि (विक्रम की बारहवीं सदी) ने अपनी सुखबोध समाचारी में औपपातिका को आचारांग का, राप्रश्नीय को सूत्रकृतांग का, जीवाभिगम को स्थानांग का, प्रज्ञापना को समवायांग का, सूर्यप्रज्ञप्ति को भगवती का, जंबू द्वीप प्रज्ञप्ति को ज्ञाताधर्म कथा का, चन्द्र प्रज्ञप्ति को उपासक दशा का, कल्पिका को अन्तकृत दशा का, कल्पावतंसिका को अनुत्तरोपपातिक दशा का, पुष्पिका को प्रश्नव्याकरण का, पुष्प चूलिका को विपाकसूत्र का और वृष्णिदशा को दृष्टिवाद का उपांग स्वीकार किया है। औपपातिक के टीकाकार अभयदेवसूरि (ग्यारहवी शताब्दी) औपपातिक को आचारांग का उपांग मानते हैं। राजप्रश्नीय के टीकाकार मलयगिरि (बारहवीं शताब्दी) ने भी राजप्रश्नीय को सूत्रकृतांग का उपांग बताते हुए कहा है कि अक्रियावादी मत को स्वीकार करके ही राजप्रश्नीय में उल्लिखित राजा प्रदेशी ने जीव विषयक प्रश्न किया है, इसलिए राजप्रश्नीय को सूत्रकृतांग का उपांग मानना योग्य है। लेकिन देखा जाये तो जैसे जीवाभिगम और स्थानांग का, सूर्यप्रज्ञप्ति और भगवती का, चन्द्रप्रज्ञप्ति और उपासक दशा का तथा वृष्णिदशा और दृष्टिवाद का संबंध सिद्ध नहीं होता, वैसे ही राजप्रश्नीय और सूत्रकृतांग का भी कोई संबंध नहीं बनता।

वर्तमान में उपांगों का जो क्रम प्रचलित है, वह भी ऐतिहासिक दृष्टि से समुचित मालूम नहीं होता। जैसे की प्रज्ञापना चुतर्थ उपांग के कर्ता आर्य श्याम माने जाते हैं, जो महावीर निर्वाण के ३७६ या ३८६ वर्ष में विद्यमान थे, लेकिन प्रज्ञापना को चतुर्थ उपांग न मानकर चतुर्थ उपांग मानां है।

अंग साहित्य की तरह उपांग साहित्य काल दोष से अनेक स्थानों पर विश्रृंखलित हो गया है। जैसे कि सूर्य प्रज्ञप्ति और चन्द्रप्रज्ञप्ति का विषय समान होने पर भी उन्हें भिन्न-भिन्न उपांग माना है। भगवती यद्यपि कालक्रम की दृष्टि से उपांगों की अपेक्षा प्राचीन है, किन्तु इसमें किसी विषय को विस्तार से जानने के लिए

औपपातिक, राजप्रश्नीय, जीवाभिगम, प्रज्ञापना आदि उपांगों के नामों का उल्लेख आता है। सूत्रकृतांग और अनुत्तरोपपातिक दशा नामक अंगों में औपपातिक उपांग का उल्लेख आता है। इसका कारण क्या है? तो समझना चाहिये कि सामयिक परिस्थितियों के कारण बहुत सा अंश छिन्न-भिन्न हो गया और उसकी कमी की पूर्ति के लिए सन्दर्भ मिलाकर क्रमवद्ध करने के लिए परस्पर एक दूसरे का उल्लेख किया गया है।

इस भूमिका के पश्चात् संक्षेप में उपांगों के वर्ण्य विषयों का परिचय प्रस्तुत करते हैं।

१. औपपातिक– पहला उपांग औपातिक सूत्र है। इसे आचारांग का उपांग माना जाता है। ग्रंथ का प्रारंभ चम्पा नगरी के वर्णन से किया गया है। इसमें तिरालीस सूत्र हैं। अंग, उपांग आगमों में जहाँ कहीं भी नगर, उद्यान, राजा, रानी, समवसरण, लोकजीवन सेठ साहूकार आदि का वर्णन आता है, वहाँ सन्दर्भ रूप में इस सूत्र का उल्लेख किया जाता है कि इसके लिए देखो औपपातिक सूत्र का अमुक अंश। इस दृष्टि से इस सूत्र का बहुत महत्व है। इसके उत्तरार्ध भाग में जीव किस करनी से किस गति में उत्पन्न होता है, नरक और देवलोक में जीव दस हजार वर्ष से लेकर तैंतीस सागरोपम तक की आयु किस करनी से प्राप्त करता है इत्यादि विस्तार पूर्वक बताया गया है। यह उत्कालिक सूत्र है। इसमें वर्णित विषय निम्नलिखित तीन अधिकारों में विभाजित है– १. समवसरणाधिकार, २. औपपातिकाधिकार और ३. सिद्धाधिकार। इन अधिकारों में अपने नामानुसार विषयों का वर्णन किया गया है। जैसे कि–

समवसरणाधिकार में चंपा नगरी, पूर्णभद्र चैत्य अशोक वृक्ष, पृथ्वीशिला, कोणिक राजा, धारिणी रानी, वार्ता निवेदक (समाचार देने वाला व्यक्ति), भगवान महावीर के नगरी की ओर पधारने की सूचना, उनके गुणों का, संपूर्ण शरीर का नख से शिख तक वर्णन, चौतीस अतिशय, वाणी के पैंतीस गुण, भगवान महावीर साधु-साध्वी परिकर के साथ पधारना, भगवान के पधारने की सूचना, नमुत्थुणं की विधि व पाठ, साधु के गुणों का वर्णन, द्वादश तपों के तीन सौ चौपन भेद, साधुओं द्वारा शास्त्र के पठन-पाठन का वर्णन, साधुओं के विशेष गुण, साधुओं की उपमाओं का वर्णन, संसाररूपी समुद्र और धर्म रूपी नौका का वर्णन, देव और मनुष्यों की पर्षदाएँ, नगर व सेना की सजावट का वर्णन, कोणिक राजा का सपरिवार व सपरिषद भगवान के दर्शनार्थ गमन, पाँच अभिगम व वंदना की विधि, महिलाओं द्वारा वंदना की विधि, तीर्थंकर का उपदेश और परिषद द्वारा की गयी प्रशंसा आदि का बहुत ही पदलालित्य शैली में प्रांजल वर्णन किया गया है।

औपपातिक अधिकार में गौतम गणधर के गुणों का वर्णन, उनके कर्मबंध,

मोहबंध, कर्मवेद, नरक व स्वर्गगमन आदि विषयक संशय व प्रश्न और समाधान, सुशील स्त्री व रसत्यागी का वर्णन, उनके लिए प्रश्नोत्तर, तापस, कान्दर्पिक, साधु-संन्यासी, अबंड परिव्राजक, दृढ़ प्रतिज्ञा, प्रत्यनीक साधु, तिर्यंच सात निह्नव, श्रावक, साधु व केवली विषयक प्रश्नोत्तर इत्यादि विषय हैं।

सिद्धान्ताधिकार में केवली समुद्घात, मुक्त आत्माओं के विषय में प्रश्नोत्तर, सिद्धों का वर्णन, सिद्धों के सुख का प्रमाण व स्वरूप इत्यादि वर्णन है।

♣ २ राजप्रश्नीय

यह दूसरे अंग आगम सूत्रकृतांग का उपांग है। इसे सूत्रकृतांग का उपांग मानने का कारण यह है कि जैसे सूत्रकृतांग में क्रियावादी, अक्रियावादी आदि तीन सौ तिरसठ पाखंडी मतों का वर्णन है, वैसे ही इसमें राजा प्रदेशी ने, जो अक्रियावाद को माननेवाला था, केशी श्रमण से जीव विषयक प्रश्न किये थे। अक्रियावाद का वर्णन सूत्रकृतांग में है। उसी का दृष्टान्त द्वारा विशेष वर्णन किया गया है। यह उत्कालिक सूत्र है।

यह पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध इन दो भागों में विभाजित है और इसमें २१७ सूत्र हैं। पहले भाग में सूर्याभदेव का भगवान महावीर के समक्ष उपस्थित होकर विविध नाटक व नृत्य करना आदि का विस्तार से वर्णन है और दूसरे भाग में यह ऋषि वैभव उसे क्यों प्राप्त हुआ, गौतम गणधर के इस प्रश्न के उत्तर में भगवान महावीर ने उसके पूर्वभव में हुए भगवान पार्श्वनाथ के प्रमुख शिष्य केशीश्रमण और श्रावस्ती के राजा प्रदेशी के जीव विषयक संवाद का वर्णन है। राजा प्रदेशी जीव और शरीर को अभिन्न मानता है और केशी श्रमण उसके मत का खंडन करते हुए जीव के स्वतंत्र अस्तित्व को सप्रमाण सिद्ध करते है और अन्त में उनके उपदेश को सर्वात्मना श्रद्धापूर्वक ग्रहण कर आत्म साधना में लगकर जीवनान्त में शरीर त्याग कर वह सौधर्म देवलोक में सूर्याभदेव हुआ। वह वहाँ से च्यव कर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर मोक्ष प्राप्त करेगा।

औपपातिक सूत्र की भाँति इस ग्रंथ का प्रारंभ आमलकप्पा नगरी के वर्णन से हुआ है। यह वर्णन चंपा नगरी के वर्णन से मिलता जुलता है। इस समग्र वर्णन में राजा प्रदेशी और केशी कुमार श्रमण के अतिरिक्त राजा जितशत्रु, आमलकप्पा नगरी के राजा सेय और उसकी रानी धारिणी, राजा प्रदेशी की रानी सूर्यकान्ता व पुत्र सूर्यकान्त, चित्त सारथी आदि व्यक्तियों तथा स्थानों में आमलकप्पा नगरी के अतिरिक्त श्रावस्ती, श्वेतांबिका आदि नगरियों एवं केकय देश, कुणाल देश आदि का वर्णन है। इस वर्णन से तत्कालीन लोकजीवन, नगर रचना, राजा-प्रजा, देश की स्थिति, सामाजिक व्यवस्था, रीति-रिवाज आदि का भली भाँति ज्ञान हो जाता है।

♣ ३. जीवाभिगम सूत्र

इसे जीवाजीवाभिगम सूत्र भी कहते हैं। यह तीसरे अंग स्थानांग का उपांग है। इसमें भगवान महावीर और गौतम गणधर के प्रश्नोत्तर के रूप में जीव और अजीव के भेद प्रभेदों का विस्तार से वर्णन है। इसमें नौ प्रकरण और दो सौ बहत्तर सूत्र हैं। प्रकरण के लिए यहाँ प्रतिपत्ति शब्द का प्रयोग किया गया है। इनमें से तीसरी प्रतिपत्ति अन्य सब की अपेक्षा बड़ी है। इसके टीकाकार आचार्य मलयगिरि ने अनेक स्थानों पर वाचनाभेद व विच्छिन्न होने का भी संकेत किया है।

दूसरी प्रतिपत्ति में तीन वेद के भेद-प्रभेद, स्त्रीवेद की स्थिति के विविध प्रकार, स्त्रीवेद के अन्तर व अल्पबहुत्व, स्त्रीवेद मोहनीय कर्म की स्थिति, पुरुषवेद की स्थिति, अन्तर, पाँच प्रकार का अल्पबहुत्व, कर्म स्थिति व विषय, नपुंसक वेद के बारे में भी पूर्वोक्त सभी बातें, तीनों वेदों को मिलाकर आठ प्रकार का अल्प बहुत्व आदि की जानकारी है।

तीसरी प्रतिपत्ति में चार प्रकार के जीव, चार गतियों के भेद-प्रभेद, नरकों के नाम, गोत्र, पिंड आदि, नारकों के क्षेत्रादि की वेदना का दृष्टान्तपूर्वक वर्णन, सातों नरकों के पाथड़ों की अलग-अलग अवगाहना और उनमें रहने वाले नारकी जीवों की स्थिति, नारकों के विषय में विविध वर्णन, तिर्यंचों के भेद-प्रभेद तथा विशेष भेद, अनगार, अवधि और लेश्या के लिए प्रश्नोत्तर, एक समय में दो क्रियाएँ मानने वाले अन्य तीर्थिको का मत, अन्तर्द्वीप के मनुष्यों का अधिकार, कर्मभूमिज मनुष्यों का अधिकार, भवनपति देवों का सविस्तार वर्णन, व्यन्तर ज्योतिष्क देवों का वर्णन, असंख्यात द्वीप समुद्रों और जंबूद्वीप का वर्णन, जंबूद्वीप के परकोटे का वर्णन, विजय द्वार, विजया राजधानी, विजय देवों और जंबूद्वीप के शेष तीनों द्वारों का वर्णन, उत्तर कुरु तथा यमक पर्वत, उत्तर कुरु के नीलवन्त आदि द्रहों का वर्णन, कंचनगिरि पर्वत का वर्णन, जंबू सुदर्शन वृक्ष का विस्तार, जंबूद्वीप में चंद्र-सूर्य आदि की संख्या, लवण समुद्र का अधिभार पाताल कलशों का वर्णन, शिखाचित्र व नागदेव का अधिकार गोस्तूभ पर्वत तथा वेलंधर, अनुवेलंधर राजा का वर्णन, सुस्थित देव व गौतम द्वीप का वर्णन, चंद्र व सूर्य के द्वीप का अधिकार, द्वीप समुद्रों के नाम, ढाई द्वीप के बाहर ज्योतिषी देव, लवण समुद्र संबंधी प्रश्नोत्तर, धातकी खंड द्वीप, कालोदधि समुद्र, पुष्कर द्वीप और मानुषोत्तर पर्वत का वर्णन, मनुष्यलोक का शाश्वतत्व, इन्द्र के च्यवन का अधिकार, अनेक द्वीप समुद्रों एवं अंतिम स्वयंभूरमण समुद्र का वर्णन, अलग-अलग समुद्रों के पानी का स्वाद, उनके मत्स्यों का वर्णन, द्वीप समुद्रों की गणना का प्रमाण व परिमाण, इन्द्रियों के विषय, मेरु व उसका समभूमि से अन्तर, अभ्यन्तर तथा बाह्य नक्षत्र, चंद्र विमान का

संस्थान तथा लंबाई-चौड़ाई, ज्योतिषी विमान उठानेवाले देवों का विस्तार, शीघ्र व मंद गति, हीनाधिक ऋद्धि, वैमानिक देवों व देवियों का विस्तार आदि बातों का उल्लेख किया गया है।

नरक भूमियों के वर्णन के प्रसंग में निम्नलिखित बातों का भी उल्लेख किया गया है- सोलह प्रकार के रत्न, अस्त्रों-शस्त्रों के नाम, धातुओं आदि के नाम आदि।

जंबूद्वीप के एकोस नामक द्वीप में विविध कल्प वृक्षों का वर्णन करते हुए निम्नलिखित विषयों का भी उल्लेख है— मद्य के नाम, पात्रों (बर्तनों) के नाम, आभूषणों के नाम, भवन आदि के नाम, वस्त्रों के नाम, दासों के प्रकार त्यौहार के नाम, उत्सवों के नाम, नट आदि के नाम, यानों के नाम, अनर्थ के नाम, कलह के प्रकार, युद्ध के नाम, रोगों के नाम आदि।

चौथी प्रतिपत्ति में बताया गया है कि संसारी जीव एकेन्द्रिय आदि पंचेंद्रिय पर्यन्त पाँच प्रकार के होते हैं। पाँचवी प्रतिपत्ति में बताया गया है कि पृथ्वीकाय आदि के भेद से संसारी जीव छह प्रकार के होते हैं। निगोद दो प्रकार के होते हैं- निगोद और निगोद जीव। छठी प्रतिपत्ति में बताया है कि संसारी जीव सात प्रकार के होते हैं। सातवीं प्रतिपत्ति में संसारी जीवों का आठ प्रकारों की अपेक्षा से वर्णन किया है। आठवी प्रतिपत्ति में बताया है कि संसारी जीव नौ प्रकार के होते हैं। नौवी प्रतिपत्ति में जीवों का सिद्ध-असिद्ध, ऐन्द्रिय-अनिन्द्रिय, ज्ञानी-अज्ञानी, आहारक-अनाहारक, भाषक- अभाषक, सम्यग्दृष्टि-मिथ्यादृष्टि, परीत्त-अपरीत्त, पर्याप्तक-अपर्याप्तक, सूक्ष्य बादर, संज्ञी-असंज्ञी, भवसिद्धिक-अभवसिद्धिक, योग, वेद, दर्शन, संयत-असंयत, कषाय, ज्ञान, शरीर, काय, लेश्या, योनि, इन्द्रिय आदि की अपेक्षा से वर्णन किया गया है।

४. **प्रज्ञापना**– प्रज्ञापना चौथे अंग आगम समवायांग का उपांग माना जाता हैं, यद्यपि दोनों की विषयवस्तु में कोई समानता नहीं है। नंदीसूत्र में प्रज्ञापना की गणना अंगबाह्य आवश्यक व्यतिरिक्त उत्कालिक श्रुत में की गयी है। इसमें तीन सौ उनचास सूत्र हैं। जैसे अंगों में भगवती सूत्र सब से बड़ा है, वैसे ही उपांगों में प्रज्ञापना सब से बड़ा है। इसके कर्ता वाचक वंशीय पूर्वधारी आर्य श्यामाचार्य है, जो सुधर्मास्वामी की तेईसवीं पीढ़ी में उत्पन्न हुए थे। वे वीर निर्वाण के तीन सौ छिहत्तर वर्ष बाद मौजूद थे।

समवायांग में जीव-अजीव, स्वसमय-परसमय, लोक-अलोक आदि विषयों का एक-एक पदार्थ की वृद्धि करते हुए सौ पदार्थों का वर्णन है। उन्हीं विषयों का वर्णन प्रज्ञापना में विशेष रूप से किया या है। आगमों में द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग,

चरण करणानुयोग और धर्मकथानुयोग इन चार प्रकार के अनुयोगों का निरूपण किया गया है। उनमें से प्रज्ञापना में मुख्य रूप से द्रव्यानुयोग का वर्णन है तथा कहीं-कहीं चरण करणानुयोग और गणितानुयोग का भी निरुपण है। इसमें निम्नलिखित छत्तीस पदों का प्रतिपादन है—

प्रज्ञापना, स्थान, बहुवक्तव्य (अल्प बहुत्व), स्थिति, विशेष, व्युत्क्रान्ति, उच्छ्वास, संज्ञा, योनि, चरम (चरमा-चरम) भाषा, शरीर, परिणाम, कषाय, इन्द्रिय, प्रयोग, लेश्या, कायस्थिति, सम्यक्त्व, अन्तक्रिया, अवगाहना, संस्थान, क्रिया, कर्मप्रकृति, कर्मबंधक, कर्मवेदक, वेद बंधक, आहार, उपयोग, पश्यता-दर्शनता, संज्ञा, संयम, अवधि, प्रविचारणा, वेदना और समुद्घात। इन पदों का विस्तृत वर्णन गौतम गणधर और भगवान महावीर के प्रश्नोत्तर रूप में किया गया है।

प्रज्ञापना पद में प्रज्ञापना के दो भेद किये हैं— अजीव प्रज्ञापना और जीव प्रज्ञापना। अजीव प्रज्ञापना में धर्मास्तिकाय आदि पाँच अजीव द्रव्यों के भेद-प्रभेदों का वर्णन है। जीव प्रज्ञापना में जीवों के भेदों का सविस्तार वर्णन है। मनुष्यों के भेदों में आर्य और म्लेच्छ आदि का भी सविस्तार से वर्णन किया गया है। स्थान पद में पृथ्वीकाय से लेकर सिद्धों तक के स्थान का वर्णन है। अल्पबहुत्व पद में दिशा, गति, इन्द्रिय, कायद्वार आदि छब्बीस द्वारों से अल्पबहुत्व का विचार किया गया है और सत्ताईसवें महादंडक द्वार में सब जीवों का विस्तार पूर्वक अल्प बहुत्व कहा गया है। स्थिति पद द्वार में चौबीस दंडकों की अपेक्षा सब जीवों की जघन्य और उत्कृष्ट आयु का वर्णन है। विशेष पद-द्वार में जीव और अजीव की पर्यायों का वर्णन है। इसे पर्याय पद भी कहते हैं। व्युत्क्रान्ति पद में जीवों के उत्पात, उपपात तथा उद्वर्तना, परभव का आयुबंध इत्यादि बातों का विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। चरमाचरम पद से रत्नप्रभा पृथ्वी आदि तथा परमाणु और परिमंडल आदि संस्थानों की अपेक्षा से चरम और अचरम का निरूपण है। भाषा पद में सत्य-असत्य भाषा आदि भाषा संबंधी भेदों का विचार किया गया है। भाषा के लिंग, वचन, उत्पत्ति आदि का और कैसी भाषा बोलने वाला आराधक तथा कैसी भाषा बोलने वाला विराधक होता है और भाषा संबंधी अल्पबहुत्व आदि विषयों का विस्तार पूर्वक वर्णन है। शरीर पद में औदारिक आदि पाँच शरीरों का वर्णन है।

प्रथम बारह पदों के वर्ण्य विषयों का पूर्वोक्त प्रकार से संकेत करने के अनन्तर अब तेरह से लेकर चौबीस पद पर्यन्त के वर्ण्य विषयों की रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं।

परिणाम पद में जीव के दस परिणामों और अजीव के दस परिणामों का वर्णन है। कषाय पद में कषायों के भेद, उत्पत्तिस्थान, आठ कर्मों के चय-उपचय आदि का वर्णन है। इन्द्रिय पद में इन्द्रियों के भेद, संस्थान, अवगाहना, प्रदेश, परिणाम, उपयोग

और काल आदि का वर्णन है। प्रयोग पद में योग के पन्द्रह भेद, विहायोगति के सतरह भेद आदि का निरूपण किया गया है। लेश्या पद में लेश्याओं का स्वरूप, जीवों का समान आहार, शरीर, उच्छ्वास, कर्म, वर्ण, लेश्या, वेदना और क्रिया आदि का विचार है तथा लेश्याओं के परिणाम और वर्ण आदि का भी निरूपण किया गया है। कायस्थिति पद में जीवों की कायस्थिति का वर्णन है। सम्यक्त्व पद में सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और सम्यग्मिथ्यादृष्टि जीवों का वर्णन है। अन्तक्रिया पद में अनन्तरागत, परंपरागत, अन्तक्रिया, केवली कथित धर्म, असंयत, भव्य देवों आदि के उपघात संबंधी विचार हैं। अवगाहना-संस्थान पद में पाँच शरीरों के संस्थान, परिमाण, पुद्गलों का चयोपचय, शरीरों का पारस्परिक संबंध, अल्पबहुत्व आदि का विस्तार से निरूपण है। क्रिया पद में कायिकी आदि क्रियाओं का वर्णन है। कर्म प्रकृति पद में ज्ञानावरण आदि कर्मों की प्रकृतियों, उनके बँधने के कारण, स्थान और वेदन की प्रक्रिया, विपाक रूप स्थिति, बंधस्वामित्व आदि का वर्णन विस्तारपूर्वक किया गया है। कर्म पद में बताया गया है कि ज्ञानावरण आदि कर्म बाँधते समय दूसरी कितनी प्रकृतियों का बंध होता है।

पच्चीस से लेकर छत्तीस तक बारह पदों का वर्ण्य विषय इस प्रकार है—

कर्मवेदक पद में बताया गया है कि ज्ञानावरणादि कर्म बाँधते समय जीव कितनी प्रकृतियों का वेदन करता है। वेद बंधक पद में बताया है कि ज्ञानावरणादि प्रकृतियों का वेदन करता हुआ जीव कितनी प्रकृतियों को बाँधता है। वेद वेदक पद में ज्ञानावरणादि कर्मों को वेदता हुआ जीव अन्य कर्मों की कितनी प्रकृतियों को वेदता है, इसका निरूपण किया गया है। आहार पद में कौन से जीव किस प्रकार का आहार लेते हैं, इसका तथा आहरक अनाहारक आदि बातों का विस्तार से कथन किया गया है। उपयोग पद में साकार और अनाकार उपयोग का वर्णन है। पश्यता-दर्शनता पद में भी उपयोग का विस्तार से वर्णन है तथा उपयोग और पश्यता का पारस्परिक भेद तथा पश्चयता के नौ भेदों का भी कथन किया गया है। संज्ञापद में संज्ञा का विस्तार से वर्णन किया गया है। संयम पद में संयत, असंयत और संयतासंयत आदि जीवों का वर्णन किया गया है। अवधि पद में अवधिज्ञान के हीयमान और वर्धमान आदि भेदों का विस्तार से वर्णन किया गया है। प्रविचारणा पद में देवों के प्रवीचार (कामभोगों) का विचार है। वेदना पद में वेदना संबंधी विचार है कि किन जीवों को कौन-कौनसी वेदना होती है। छत्तीसवां पद समुद्घात पद है। इसमें समुद्घात के काल, परिमाण, चौबीस दंडकों की अपेक्षा से अतीत, अनागंत और वर्तमान संबंधी समुद्घात, केवली समुद्घात करने का कारण, योगों का व्यापार आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है।

♣ ५. सूर्य प्रज्ञप्ति

सूर्य प्रज्ञप्ति पाँचवा उपांग आगम है। इसमें १७८ सूत्रों में सूर्य की गति, स्वरूप, प्रकाश आदि विषयों का वर्णन किया गया है। यह उत्कालिक सूत्र है और इसमें बीस अधिकार है, जिन्हें प्राभृत नाम दिया गया है। इन प्राभृतों का वर्णन गौतम गणधर और भगवान महावीर के प्रश्नोत्तरों के रूप में है। विषयों का क्रम निम्नलिखित अनुसार है—

प्रथम प्राभृत में आठ प्रतिप्राभृत (उपाधिकार) है। उनमें से पहले में सूर्यमंडल का परिमाण, दूसरे में मंडल का संस्थान, तीसरे में मंडल का क्षेत्र, चौथे में ज्योतिषियों में परस्पर अन्तर, पाँचवें में द्वीप आदि में गति का अन्तर, छठे में दिन और रात में ग्रहों का स्पर्श, सातवें में मंडलों का संस्थान और आठवें में मंडलों का परिमाण बताया है।

दूसरे प्राभृत के तीन प्रतिप्राभृतों में से पहले में तिरछी गति का परिमाण, दूसरे में मंडल संक्रमण और तीसरे में मुहूर्त में गति के परिमाण का प्रतिपादन किया गया है।

तीसरे प्राभृत में क्षेत्र का परिमाण, चौथे प्राभृत में क्षेत्र का संस्थान, पांचवे प्राभृत में लेश्या (ताप) का प्रतिघात, छठे प्राभृत में सूर्य के प्रकाश का वर्णन, सातवें प्राभृत में प्रकाश का संकोच और आठवे प्राभृत में उदय और अस्त का परिमाण बताया गया है। नौवें प्राभृत में यह बताया गया है कि सूर्य के उदय और अस्त के समय उनसाठ पुरुष प्रमाण छाया दिखायी देती है। इन प्राभृतों में अनेक मतान्तरों का उल्लेख है।

दसवें प्राभृत में बाईस प्रतिप्राभृत है, जिनका वर्ण्य विषय इस प्रकार है— १. नक्षत्रों का योग, २. नक्षत्रों की मुहूर्त गति, ३. नक्षत्रों का दिशा गमन, ४. युगादि में नक्षत्रों के साथ योग, ५. कुल और उपकुल नक्षत्र, ६. पौर्णिमा और अमावश्या तथा नक्षत्र, नक्षत्र निकालने की विधि, बारह अमावस्याओं के नक्षत्र अमावस्या के कुलादि नक्षत्र और पाँच संवत्सरों की अवस्थाएं, ७. नक्षत्रों का सन्निपात, ८. नक्षत्रों के संस्थान, ९. नक्षत्रों में तारों की संख्या, १०. अहोरात्रि में पूर्ण नक्षत्र, नक्षत्रों के दिन और माह, ११. चंद्र का नक्षत्र मार्ग, सूर्य मण्डल के नक्षत्र, सूर्यमंडल से ऊपर के नक्षत्र, १२. नक्षत्रों के अधिष्ठाता, १३. तीस मुहूर्तों के नाम, १४. तिथियों के नाम, १५. तिथि निकालने की विधि, १६. नक्षत्रों के गोत्र, १७. नक्षत्रों में भोजन, १८. चंद्र और सूर्य की गति, १९. बारह महीनों के नाम, २०. पाँच संवत्सरों का वर्णन, २१. चारों दिशाओं के नक्षत्र और २२. नक्षत्रों का योग, भोग और परिणाम।

ग्यारहवें प्राभृत में सवत्सर के आदि और अंत का वर्णन है। बारहवें प्राभृत

में संवत्सर का परिमाण, पाँच संवत्सर के महीने, दिन और मुहूर्त, पाँच संवत्सरों के संयोग से छब्बीस भांगे, ऋतु और नक्षत्रों का परिणाम, चन्द्र नक्षत्र के शेष रहने पर आवृत्ति आदि की जानकारी है। तेरहवें प्राभृत में चन्द्र की वृद्धि और अपवृद्धि का वर्णन है। चौदहवें प्राभृत में कृष्ण पक्ष और शुक्ल पक्ष का, पन्द्रहवें प्राभृत में ज्योतिषियों की शीघ्र और मंद गति, नक्षत्र मास, चन्द्र मास, ऋतु मास और आदित्य मास में चलने वाले नक्षत्रों की संख्या आदि का वर्णन है। सोलहवें प्राभृत में उद्योत के लक्षण बताये हैं। सतरहवें प्राभृत में चन्द्र और सूर्य के च्यवन के विषय में जानकारी है। अठारहवें प्राभृत में ज्योतिषियों की ऊँचाई बतायी गयी है और उन्नीसवें प्राभृत में चन्द्र और सूर्य की संख्या बतायी गयी है। इसी प्रकार अन्तिम बीसवें प्राभृत में चन्द्र और सूर्य का अनुभाव, ज्योतिषियों के भोग की उत्तमता के लिए दृष्टान्त और अठासी ग्रहों के नाम आदि का प्रतिपादन किया गया है।

♣ ६. जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति

छठा उपांग आगम जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति है। यह छठे आगम ज्ञाता धर्मकथा का उपांग माना जाता है। गौतम गणधर और भगवान महावीर के प्रश्नोत्तर के रूप में यह ग्रंथ रचित है। इसमें कुल एक सौ छिहत्तर सूत्र है। यह कालिक सूत्र है। अनेक स्थानों पर त्रुटित होने के कारण इसकी पूर्ति जीवाभिगम आदि के पाठों से की गयी हैं। इसमें जंबूद्वीप में रहे हुए भरत आदि क्षेत्र, वैताढ्य आदि पर्वत, पद्म आदि छत्तीस सरोवर, गंगा आदि नदियाँ, ऋषभ आदि कूट तथा तीर्थंकर ऋषभदेव और भरत चक्रवर्ती का वर्णन विस्तार से है। ज्योतिषी देव तथा उनके सुख आदि भी बताये हैं।

इस ग्रंथ का प्रारंभ इस प्रकार किया गया है— "मिथिला नगरी में राजा जितशत्रु राज करता था। धारिणी उसकी रानी थी। एक बार मिथिला नगरी के मणिभद्र चैत्य में भगवान महावीर का समवसरण हुआ। उस समय उनके ज्येष्ठ शिष्य इन्द्रभूति गौतम गणधर ने जंबूद्वीप के विषय में प्रश्न किये, जिनका उचित उत्तर भगवान महावीर ने दिया... ।"

इसके दस अधिकार हैं। उनके वर्ण्य विषय इस प्रकार हैं—

पहले अधिकार का नाम भरत क्षेत्राधिकार है। इसमें जंबूद्वीप का संस्थान व जगती द्वारों के अन्तर हैं। भरतक्षेत्र, वैताढ्य पर्वत व ऋषभकूट का वर्णन है।

दूसरे अधिकार में काल का वर्णन है। उत्सर्पिणी, अवसर्पिणी काल और व्यवहार काल का गणित के अनुसार एक सौ अठानबे अंकों तक का गणित, पहले, दूसरे और तीसरे आरे का वर्णन, भगवान ऋषभदेव का वर्णन, निर्वाण महोत्सव चौथे, पांचवे और छठे आरे का वर्णन और उत्सर्पिणी काल का वर्णन है।

तीसरे चक्रवर्त्याधिकार में भरत चक्रवर्ती का वर्णन हैं। चौथे अधिकार में क्षेत्र वर्षधरों का वर्णन किया गया है। पांचवें अधिकार में प्रदेश स्पर्शनाधिकार, खंड, योजन, क्षेत्र, पर्वत, कूट, तीर्थ, श्रेणी, विजय, द्रह और नदी द्वार का वर्णन है। छठा ज्योतिषी चक्राधिकार है। इसमें सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र आदि ज्योतिष मंडल का वर्णन है। सातवें अधिकार में संवत्सरों का वर्णन है। आठवें नक्षत्राधिकार में नक्षत्र और तारामंडल का वर्णन है। नौवें अधिकार में ज्योतिषी चक्र का वर्णन है कि नीचे तथा ऊपर के तारे कितने हैं। उनका परिवार, मेरु पर्वत से दूरी, लोकान्त तथा समतल भूमि से अन्तर, बाह्य और अभ्यन्तर तारे तथा उनमें अन्तर, संस्थान और परिणाम, विमान वाहक देव, गति, अल्पबहुत्व ऋद्धि, परस्पर अन्तर आदि-आदि। दसवें अधिकार का नाम समुच्चय अधिकार है। इसमें जंबूद्वीप में होने वाले उत्तम पुरुष, जंबूद्वीप में निधान, रत्नों की संख्या, जंबूद्वीप की लंबाई-चौड़ाई, जंबूद्वीप की स्थिति, जंबूद्वीप में क्या अधिक है ? इसका नाम जंबूद्वीप क्यों है ? इत्यादि का वर्णन है।

७. चन्द्र प्रज्ञप्ति– चंद्र प्रज्ञप्ति सातवाँ उपांग है। इसे सातवें अंग आगम उपासक दशा का उपांग माना गया है। यह कालिक सूत्र है। सूर्य प्रज्ञप्ति और चंद्रप्रज्ञप्ति इन दोनों नामों से मालूम होता है कि सूर्य प्रज्ञप्ति में सूर्य के परिभ्रमण आदि का और चंद्र प्रज्ञप्ति में चन्द्रमा से संबंधित वर्णन होगा, लेकिन वर्तमान में उपलब्ध चंद्र और सूर्य दोनों प्रज्ञप्तियों का विषय बिल्कुल समान है अथवा मिला हुआ है। इस सूत्र का विषय गणितानुयोग है। बहुत गहन होने के कारण यह सरलता से समझ में नहीं आता। इसमें भी सूर्य प्रज्ञप्ति के समान ही बीस प्राभृत हैं। स्थानांग (४/२७७) में चन्द्र, सूर्य, जंबूद्वीप और द्वीप सागर इन चार प्रज्ञप्तियों को अंगबाह्य श्रुत में गिना गया है। नंदीसूत्र में भी इसी प्रकार इन चारों को अंग बाह्य श्रुत में माना है। द्वीप सागर प्रज्ञप्ति तो अप्राप्य है। शेष तीन का परिचय ऊपर दिया गया है।

८-१२ निरयावलिका आदि– निरयावलिका अथवा कल्पिका, कल्पावतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूलिका और वृष्णिदशा ये पाँचों उपांग निरयावलिका श्रुतस्कंध में समविष्ट हैं। इनके बारे में प्रो. विंटरनित्ज का कथन है कि मूलतः ये पाँचों उपांग निरयावलिका सूत्र के नाम से कहे जाते थे, लेकिन उपांगों की संख्या का अंगों की संख्या के साथ मेल करने के लिए इन्हें अलग-अलग गिना जाने लगा। ये पाँचों कालिक श्रुत है और वृष्णिदशा में बारह तथा शेष चार में दस-दस अध्ययन हैं। इनके प्रत्येक अध्ययन में एक-एक कथा है।

निरयावलिका का प्रारंभ इस प्रकार किया गया है– राजगृह नगर में गुणशील नामक एक चैत्य था। वहाँ भगवान महावीर के शिष्य आर्य सुधर्मा नामक गणधर

विहार करते हुए आये। अपने शिष्य जंबू के प्रश्नों के उत्तर में उन्होंने निरयावलिका आदि उपांगों का प्रतिपादन किया है।

निरयावलिका के दस अध्ययनों में राजा श्रेणिक के काल, सुकाल, महाकाल, कृष्ण, सुकृष्ण, महाकृष्ण, वीरकृष्ण, रामकृष्ण, प्रियसेनकृष्ण और महासेनकृष्ण इन दस पुत्रों की कथाएँ हैं। ये सभी अपने बड़े भाई कोणिक (चेलना का पुत्र) व चेडा महाराज के बीच हुए युद्ध में स्वर्गवासी हुए थे। इन कुमारों की मृत्यु के समाचार सुनकर उनकी माताओं ने वैराग्यभाव उत्पन्न होने से भगवान महावीर के पास दीक्षा ग्रहण कर आत्म कल्याण किया।

कोणिक और चेडा महाराज के बीच युद्ध होने का कारण कोणिक के छोटे भाई विहल्लकुमार (चेलना के द्वितीय पुत्र) का अपने पिता श्रेणिक से प्राप्त सेचनक नामक गंधहस्ती और अठारह लड़ियों के हार को लेकर अपने नाना चेडा महाराज के पास पहुँच जाना और वापिस लौटाने का सन्देश भेजने पर भी चेडा महाराज का उसे वापिस नहीं भेजना था। उन्होंने अपने दूत से सन्देश भिजवाया कि शरणागत की रक्षा करना क्षत्रियों का धर्म है। इस पर क्रुद्ध होकर कोणिक ने चेडा महाराज पर चढ़ाई कर दी। चेडा महाराज ने अठारह देशों के राजाओं के साथ युद्ध में सामना किया। इन दोनों के बीच रथ मूसल और शिलाकंटक जैसे भयानक संग्राम हुए, जिनमें एक करोड़ अस्सी लाख लोग मारे गए थे।

इसी में राजा कोणिक की जीवनी का विस्तार से वर्णन किया गय है। कोणिक का चेलना के गर्भ में आना, चेलना का वीभत्स, घृणित दोहद, दोहद की पूर्ति, कोणिक का जन्म, राज्य प्राप्ति के लिए कोणिक का अपने पिता को कारागार में डालना, श्रेणिक की मृत्यु आदि का वर्णन है।

कल्पावतंसिका में श्रेणिक राजा के पुत्र कालकुमार के पद्म, महापद्म, भद्र, सुभद्र पद्मभद्र, पद्मसेन, पद्मगुल्म, नलिनी गुल्म, आनन्द और नंद इन दस पुत्रों की कथाएँ हैं। सब ने भगवान महावीर के पास दीक्षा ली थी। श्रमण पर्याय का पालन करके ये सब देवलोक में उत्पन्न हुए। वहाँ से च्यव कर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेंगे और वहाँ से मुक्ति प्राप्त करेंगे।

पुष्पिका के दस अध्ययनों में चन्द्र, सूर्य, शुक्र, बहुपुत्रिका देवी, पूर्ण भद्र, मणिभद्र, दत्त, शिव, बल और अनादृष्टि की कथाएँ हैं। ये सब ज्योतिषी देव हैं। भगवान महावीर के समवसरण में आकर इन्होंने विविध प्रकार के नाटक करके दिखाये। उनकी ऐसी उत्कृष्ट ऋद्धि को देखकर गौतम गणधर ने भगवान महावीर से प्रश्न किया कि इनको यह ऋद्धि कैसे प्राप्त हुई। तब भगावन ने इनके पूर्व भव बतलाये

कि इन्होंने अपने पूर्व भव में दीक्षा ली थी, किन्तु फिर ये विराधक हो गये। इस कारण ज्योतिषी देवों में उत्पन्न हुए हैं। वहाँ से च्यव कर ये महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेंगे और संयम धारण कर मोक्ष प्राप्त करेंगे।

पुष्पचूलिका उपांग के दस अध्ययनों में से क्रमशः एक-एक में श्री, ह्री, धृति, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी, इला, सुरा, रस, गंध इन दस ऋद्धि शालिनी देवियों के पूर्व भवों का वर्णन है। इन सभी देवियों ने भगवान महावीर के समवसरण में उपस्थित हो कर विविध प्रकार के नाटक दिखाये थे। गौतम गणधर के पूछने पर भगवान ने इनके पूर्व भव बतलाये कि इन्होंने पूर्व भव में दीक्षा ली थी और फिर विराधक हो जाने के कारण यहाँ देवी रूप में उत्पन्न हुई है। अब यहाँ से च्यवकर महाविदेह क्षेत्र में ये जन्म लेंगी और वहीं से मोक्ष प्राप्त करेंगी।

वृष्णिदशा के बारह अध्ययनों में क्रमशः निषध, अनिय, वह, वहे, प्रगति, मुक्ति, दशरथ, दृढ़रथ, महाधनुष, सप्तधनुष, दशधनुष और शतधनुष इन बारह राजकुमारों की कथाएं हैं।

पहले अध्ययन में राजकुमार निषध का विस्तार से वर्णन है कि द्वारिका नगरी में कृष्ण वासुदेव राज करते थे। उसी नगरी में बलदेव नामक राजा रहते थे। उनकी रानी का नाम रेवती था। उनके पुत्र निषध ने भगवान अरिष्टनेमि के पास दीक्षा ली। नौ वर्ष तक शुद्ध संयम का पालन करके सर्वार्थसिद्ध विमान में वह तैतीस सागरोपम की स्थिति वाला देव हुआ। वहाँ से च्यव कर वह महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेगा और दीक्षा ग्रहण करके संयम साधना करके मोक्ष प्राप्त करेगा।

इसी प्रसंग में निषध के पूर्व भव का भी वर्णन किया गया है तथा द्वारिका नगरी की शोभा का वर्णन करते हुए भगवान अरिष्टनेमि के द्वारिका पदार्पण पर श्रीकृष्ण वासुदेव का सपरिवार व पुरजनों के साथ उनके दर्शनार्थ जाने का भी वर्णन किया है।

शेष ग्यारह अध्ययनों का वर्णन भी पहले अध्ययन के समान ही है।

♣ छेद सूत्र

अंग बाह्य आगमों में कुछ आगम छेदसूत्र के नाम से प्रसिद्ध हैं। छेद संज्ञा कब से प्रचलित हुई और प्रारंभ में कौन से शास्त्र छेद वर्ग में सम्मिलित थे, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। किन्तु आवश्यक निर्युक्ति गाथा ७७७ में सर्व प्रथम 'छेदसुत्त' का उल्लेख मिलता है। इससे प्राचीन उल्लेख अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। इससे अभी यही कहा जा सकता है कि आवश्यक निर्युक्ति के समय में कुछ ग्रंथों का छेद सूत्र यह एक पृथक् वर्ग बन गया था। संभवतः छेदनामक प्रायश्चित को ध्यान में रखते हुए इन्हें छेद सूत्र कहा जाने लगा हो।

जैनागमों में छेद सूत्रों का स्थान अति महत्वपूर्ण है, क्योंकि जैन संस्कृति का सार है– श्रमण धर्म और श्रमण धर्म की सिद्धि के लिए श्रमणाचार– साध्वाचार की निर्दोष साधना अनिवार्य है। छेद सूत्रों में जैन श्रमण वर्ग के आचार से संबंधित प्रत्येक विषय का पर्याप्त विवेचन किया गया है। उसे चार वर्गों में विभाजित कर सकते हैं– उत्सर्ग, अपवाद, दोष और दोष शुद्धि। दोष शुद्धि को प्रायश्चित भी कह सकते हैं। उत्सर्ग याने किसी विषय का सामान्य विधान। अपवाद का अर्थ है, परिस्थिति विशेष की दृष्टि से श्रामण्य की रक्षा के लिए विशेष विधान अथवा छूट। दोष याने उत्सर्ग अथवा अपवाद का भंग और प्रायश्चित अर्थात व्रतभँग के लिए शुध्दिकरण हेतु समुचित दंड। यह तो मानी हुई बात है कि किसी भी विधान या व्यवस्था के लिए ये चार बातें आवश्यक होती हैं– १. सर्वप्रथम सामान्य नियम का विधान किया जाता है। २. अनन्तर उपयोगिता, देश, काल, शक्ति आदि को दृष्टि में रखते हुए अल्पाधिक छूट दी जाती है, क्योंकि इस प्रकार का लचीलापन आने पर छूट न देने पर नियम पालन प्रायः असंभव हो जाता है। परिस्थिति विशेष के लिए अपवाद व्यवस्था होना अनिवार्य है। ३. केवल नियम और अपवाद व्यवस्था से ही कोई विधान पूर्ण नहीं होता, किन्तु उसका पालन करते समय होने वाले दोषों की संभावना का विचार करना आवश्यक होता है। ४. और जब उसके दोषों का विचार किया, तब उनकी शुद्धिकरण के लिए दंड व्यवस्था भी अनिवार्य है, क्योंकि केवल दोषों का विचार कर लिया जाये, किन्तु शुद्धि करण के लिए दंड व्यवस्था का निर्धारण न हो, तो इष्ट सिद्धि नही होती।

इस शुद्धिकरण के लिए दंड व्यवस्था से निम्न लाभ होते हैं- पहला पूर्व दोषों का परिमार्जन होने से दोषभार नहीं बढ़ता और दूसरा भविष्य में उस दोष की या उस जैसे अन्य दोषों की पुनरावृत्ति न होने से दोषों में कमी आ जाती है। उक्त समग्र कथन का फलितार्थ यह हुआ कि आचार धर्म के गूढ़ रहस्यों को समझने एवं विशुद्ध रूप में सूक्ष्मतम क्रिया कलापों को जानने और पालने के लिए छेद सूत्रों का ज्ञान अनिवार्य है। उनका ज्ञान किये बिना जिन कथित निर्दोष आचार का परिपालन करना असंभव है। छेद सूत्रों की तरह अन्य धर्म परंपराओं ने भी अपने अपने साधकों के लिए आचार विचार की व्यवस्था की है। जैसे कि विनय पिटक में बौद्ध भिक्षुओं के आचार विचार का इसी प्रकार विवेचन किया गया है। छेद सूत्रों के नियमों की विनय पिटक के नियमों से बड़ी रोचक तुलना की जा सकती है।

दशाश्रुतस्कंध, बृहत्कल्प, व्यवहार, निशीथ, महानिशीथ और पंचकल्प (अनुपलब्ध) अथवा जीतकल्प ये छह छेदसूत्र के रूप में प्रसिद्ध है। इन उपलब्ध छह छेद सूत्रों में छेद के अतिरिक्त अन्य प्रकार के प्रायश्चितों एवं विषयों का वर्णन भी

दृष्टिगोचर होता है। अतः यह कहना कठिन है कि छेदसूत्र शब्द का संबंध सिर्फ छेद नामक प्रायश्चित से है अथवा और किसी से भी। दशाश्रुतस्कंध, महानिशीथ और जीतकल्प को छोड़ कर शेष तीन सूत्रों के विषय वर्णन में कोई सुनिश्चित योजना दृष्टिगोचर नहीं होती। कोई कोई उद्देश्य इसका अपवाद अवश्य है। सामान्यतः श्रमण जीवन से संबंधित किसी भी विषय का किसी भी उद्देश में समावेश कर दिया गया है। निशीथ में विभिन्न प्रायश्चितों की दृष्टि से उद्देशों में विभाजन अवश्य है, किन्तु तत्संबंध दोषों के विभाजन में कोई निश्चित योजना दिखाई नहीं देती।

उपर्युक्त छह छेद सूत्रों में से दशाश्रुतस्कंध, बृहत्कल्प, व्यवहार और निशीथ को तो समस्त श्वेतांबर परंपराएं स्वीकार करती है, लेकिन महानिशीथ और जीतकल्प को सिर्फ श्वेतांबर मूर्तिपूजक परंपरा मान्य करती है। इन्हें स्थानकवासी परंपरा मान्य नहीं करती। इस मान्य न करने का कारण क्या है? इसके कारण की मीमांसा करके सर्व मान्य छेद सूत्रों का संक्षेप में परिचय प्रस्तुत करते हैं। शेष दो का यथास्थान अन्यत्र परिचय दे रहे हैं।

१. दशाश्रुतस्कंध– प्रस्तुत छेद सूत्र में जैनाचार से संबंधित दस अध्ययन होने से इसे दशाश्रुतस्कंध कहते हैं। इसका अपर नाम आचार दशा है।[१] यह मुख्यतया गद्य में लिखा या है और भाषा आर्ष प्राकृत है।

इस छेद सूत्र के प्रथम अध्ययन में बीस असमाधि स्थानों[२] का वर्णन है। समवायांग सूत्र के बीसवे स्थान में भी यह वर्णन है, किन्तु अन्तर केवल इतना है कि समवायांग में 'बीस असमाहिठाणा पण्णत्ता' इतना कह कर असमाधि स्थानों का वर्णन प्रारंभ कर दिया है। लेकिन इस सूत्र में 'सूयं मे आउसं_' इत्यादि पाठ और जोड़ दिया है। दूसरे में इक्कीस प्रकार के शवल दोषों[३] का और तीसरे में तैंतीस प्रकार की आशतनाओं का वर्णन है। समवायांग में भी इसी प्रकार का वर्णन है, लेकिन भेद केवल प्रारंभिक वाक्यों में ही है। चौथे अध्ययन में आठ प्रकार की गणि संपदा का विस्तृत वर्णन है। स्थानांग में इन आठ संपदाओं का सिर्फ नाम निर्देश है। पाँचवें अध्ययन में दस चित्त समाधियों का वर्णन है। इसमें से केवल उपोद्घात अंश संक्षिप्त रूप में औपपातिक सूत्र में उपलब्ध है। समवायांग के दसवें स्थान में भी दस चित्त समाधियों का पाठ गद्य रूप में मिलता है। छठे में श्रमणोपासक श्रावक की ग्यारह प्रतिमाओं-पडिमाओं का वर्णन है। समवायांग के ग्यारहवें स्थान में इसका सूत्ररूप

---

१. स्थानांग १०/७५५

२. चित की मोक्ष मार्गाभिमुखी प्रवृत्ति को समाधि और उससे विपरीत को असमाधि कहते हैं।

३. व्रत आदि से संबंधित विविध विचित्र दोषों का नाम शवल दोष है- शवलं कर्बुरं चित्रम्।

मूलपाठ मिलता है। सातवें अध्ययन में बारह भिक्षु प्रतिमाओं का विवेचन किया गया है। इसका मूल समवायांग के बारहवें स्थान में एवं विवेचन स्थानांग के तीसरे स्थान में तथा भगवती, अन्तकृद्दशा आदि सूत्रों में उपलब्ध है। आठवें अध्ययन में श्रमण भगवान महावीर के पाँच कल्याणको - च्यवन, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञान, मोक्ष का वर्णन है। इसका मूल स्थानांग के पंचम स्थान में है। प्रसिद्ध कल्पसूत्र (पर्यूषण कल्प-पज्जोसणा कल्प) इसी अध्ययन का पल्लवित रूप है। नौवे अध्ययन में तीस महामोहनीय स्थानों का वर्णन है। इसका उपोद्घात अंश औपपातिक सूत्र में एवं शेष समवायांग के तीसवें स्थान में है। दसवें अध्ययन में निदान कर्म का वर्णन है। इसका उपोद्घात अंश संक्षेप में औपपातिक सूत्र में उपलब्ध है।

२. व्यवहार सूत्र– जिसके लिए जो प्रायश्चित है, उसे वह प्रायश्चित देना व्यवहार है। इस सूत्र में प्रायश्चित का वर्णन है। इसलिए इस सूत्र को व्यवहार सूत्र कहते हैं। इस सूत्र में दस उद्देश्य और करीब तीन सौ सूत्र हैं। उद्देश्यों का वर्ण्य विषय इसप्रकार है–

पहले उद्देश में निष्कपट और संकपट आलोचना का प्रायश्चित, प्रायश्चित के भंग, एकल विहारी साधु, शिथिल होकर वापस गच्छ में आने वाले साधु गृहस्थ होकर पुनः साधु बनने वाले, पर मत का परिचय करने वाले, आलोचना सुनने के अधिकारी इत्यादि विषयों का वर्णन है।

दूसरे उद्देश में दो या अधिक समान समाचारी वाले दोषी साधुओं की शुद्धि, सदोषी रोगी आदि की वैयावृत्त्य, अनवस्थितादि का पुनः संयमारोपण, अभ्याख्यान चढ़ाने वाले, गच्छ को त्यागकर पुनः गच्छ में आने वाले, एक पाक्षिक साधु और साधुओं का परस्पर संयोग आदि विषयक वर्णन है।

तीसरे उद्देश में गच्छाधिपति होने वाले साधु, पदवी धारक के आधार आचार, थोड़े काल में दीक्षित की पदवी, युवा साधु को आचार्य, उपाध्याय आदि से अलग रहने का निषेध, गच्छ में रहकर तथा गच्छ छोड़कर अनाचार सेवन करने वाले को सामान्य साधु एवं पदवीधारी को पद देने बाबत काल मर्यादा के साथ विधि निषेध, मृषावादी को पद देने का निषेध आदि का वर्णन है।

चौथे उद्देश में आचार्य आदि पदवी धारक का परिवार एवं ग्रामानुग्राम विचरते हुए उनका परिवार, आचार्य आदि की मृत्यु पर आचार्य आदि स्थापन कर रहना, न रहने पर दोषों की संभावना, युवाचार्य की स्थापना, भोगावली कर्म उपशमना, बड़ी दीक्षा देना, ज्ञानादि के निमित्त अन्य गच्छ में जाना, स्थविर की आज्ञा के बिना विचरने का निषेध इत्यादि विषयों का वर्णन किया गया है।

पाँचवें उद्देश में साध्वी का आचार, सूत्र भूलने पर भी स्थविर के पद की योग्यता, साधु, साध्वी के बारह संयोग, प्रायश्चित देने योग्य आचार्य आदि एवं साधु-साध्वी के परस्पर वैयावृत्त्य आदि बातों का वर्णन है।

छठें उद्देश में संबंधियों के यहाँ जाने की विधि, आचार्य, उपाध्याय के अतिशय, पठित-अपठित साधु संबंधी कामेच्छा का प्रायश्चित, अन्य गच्छ से आए हुए साधु-साध्वी विषयक वर्णन है।

सातवें उद्देश में संयोगी साधु-साध्वी का पारस्परिक आचार, किस अवस्था में किस साधु को प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष में विसंयोगी करना, साधु का साध्वी को दीक्षा देना, साधु-साध्वी की आचार भिन्नता, रक्तादि के स्वाध्याय, साधु-साध्वी को पदवी देने का काल, एकाएक साधु-साध्वी की मृत्यु होने पर साधर्मिक साधुओं का कर्त्तव्य, साधु के रहने के स्थान को बेचने या किराए से देने पर शय्यातर संबंधी विवेक, राजा का परिवर्त्तन होने पर नवीन राज्याधिकारियों से आज्ञा माँगना आदि बातों का वर्णन है।

आठवें उद्देश में चातुर्मास के लिए शय्या, पाटले आदि माँगने की विधि, स्थविर की उपाधि, प्रतिहारी, पाट-पाटले लेने की विधि, मूल उपकरण ग्रहण करने एवं अन्य के लिए उपकरण माँगने की विधि आदि का वर्णन है।

नौवें उद्देश में शय्यातर के अतिथि आदि का आहारादि ग्रहण तथा साधु की प्रतिमाओं की विधि का वर्णन है।

दसवें उद्देश में भव मध्य एवं वज्रमध्य प्रतिमाओं की विधि, पाँच व्यवहार, विविध चौभंगियाँ, बालक को दीक्षा देने की विधि, दीक्षा लेने के बाद कब सूत्र पढ़ना, दस प्रकार की वैयावृत्य से महानिर्जरा एवं प्रायश्चित का स्पष्टीकरण इत्यादि विषयों का वर्णन है।

३. वृहत कल्पसूत्र– 'कल्प' शब्द का अर्थ है—मर्यादा। श्रमण धर्म की मर्यादा का प्रतिपादक होने से इसका बृहत्कल्प यह नाम सार्थक है। इसमें कोई संदेह नहीं कि छेद सूत्रों में बृहत्कल्प सूत्र का अति महत्वपूर्ण स्थान है। अन्य छेद सूत्रों की भाँति इसमें भी साधुओं के आचार विषय का विधि-निषेध, उत्सर्ग-अपवाद, तप-प्रायश्चित आदि का विस्तार से विचार किया गया है। इसमें छह उद्देश है और यह गद्य शैली में लिखा गया है। इसका ग्रंथमान ४७५ श्लोक प्रमाण है। उनमें से प्रथम उद्देश में पचास सूत्र, द्वितीय उद्देश में पच्चीस सूत्र, तृतीय उद्देश में इकतीस सूत्र, चतुर्थ उद्देश में सैंतीस सूत्र, पंचम उद्देश में बयालीस सूत्र और छठे उद्देश में बीस सूत्र हैं।

प्रथम उद्देश के पहले पाँच सूत्रों में बताया है कि श्रमण को फल आदि कैसे

लेना चाहिए। मासकल्प विषयक सूत्रों में बताया है कि साधु-साध्वी के लिए किस स्थान पर वर्षा ऋतु के चार माह को छोड़कर कितने दिन तक रहना कल्पता है। वगड़ा विषयक सूत्रों में यह बताया है कि एक परकोटे और एक द्वार वाले ग्राम आदि में साधु-साध्वी को एक साथ एक ही समय में रहने का निषेध किया गया है और अनेक परकोटे व द्वार वाले ग्रामादि में उनका एक साथ रहना कल्पता है। आपण गृहादि संबंधी सूत्रों में बताया है कि उन्हें कैसे उपाश्रय में रहना कल्प्य है। अपावृत द्वारोपाश्रय विषयक सूत्रों में बताया गया है कि निर्ग्रंथिनियों को बिना दरवाजे वाले खुले उपाश्रय में नहीं रहना चाहिए। यदि अन्य स्थान न मिले तो अपवादावस्था में परदा लगाकर रहना कल्प्य है। निर्ग्रंथ रह सकते हैं। घटी मात्र प्रकृत सूत्रों में निर्ग्रन्थिनियों को घटी मात्रक (घड़ा) रखने एवं उसका उपयोग करने का विधान है, किन्तु निर्ग्रंथों के लिए घट रखने एवं उसका उपयोग करने का निषेध बताया है। चिलिमिलिका प्रकृत सूत्र में निर्ग्रंथ-निर्ग्रंथिनियों को कपड़े का परदा रखने एवं उसका उपयोग करने की अनुमति प्रदान की गई है। तकतीर प्रकृत सूत्रों में तालाब आदि के समीप अथवा उनके किनारे रहना, बैठना, स्वाध्याय, कायोत्सर्ग आदि करना अकल्प्य बताया है। चित्रकर्म विषयक सूत्रों में चित्रकर्म युक्त उपाश्रय में रहने का निषेध किया गया है। सागरिक निश्रा विषयक सूत्रों में बताया है कि निर्ग्रंथिनियों का सागरिक मकान मालिक की निश्रारक्षा आदि की स्वीकृति के बिना कहीं पर भी नहीं जाना चाहिए। उन्हें उनकी निश्रा में रहना कल्प्य है। निर्ग्रंथ सागरिक की निश्रा में अथवा अनिश्रा में रह सकते हैं। सागरिक परिश्रय प्रकृत सूत्रों में बताया है कि निर्ग्रंथ की स्त्री सागरिक के उपाश्रय में रहना और निर्ग्रंथिनी को पुरुष सागरिक के उपाश्रय में रहना अकल्प्य है। प्रतिबद्ध शय्या प्रकृत सूत्रों में बताया गया है कि यदि गृहस्थ उपाश्रय से सटे हुए रहते हो तो वहाँ साधु को रहना अकल्प्य है, किन्तु साध्वी रह सकती है। गृहपति कुल मध्यमवास विषयक सूत्रों में बताया है कि जिस स्थान पर जाने आने के लिए गृहस्थों के घरों में से आने-जाने का काम पड़ता हो, उस स्थान पर नहीं रहना चाहिए। अधिकरण से संबंधित सूत्र में बताया है कि यदि भिक्षु, आचार्य, उपाध्याय, भिक्षुणी आदि का आपस में झगड़ा हो गया हो, तो परस्पर उपशम धारण कर उसे शान्त कर लेना चाहिए। चार संबंधी सूत्रों में श्रमण-श्रमणों को चातुर्मास काल में एक गाँव से दूसरे गाँव जाने का निषेध किया गया है। वैराज्य विषयक सूत्र में विरुद्ध राज्य में साधु-साध्वियों को आने जाने की मनाई की गई है। जो जाता है या अनुमोदन करता है, उसे चतुर्गुरु प्रायश्चित करना पड़ता है। रात्रिभक्त विषयक, रात्रि वस्त्रादि ग्रहण विषयक सूत्रों में साधु-साध्वियों को रात्रि में अथवा विकाल-असमय में आहार-वस्त्रादि ग्रहण करने का निषेध किया है।

हृताहृतिका प्रकृत सूत्र में बताया है कि अपवाद रूप में यदि चोर वस्त्रादि उतार ले गए हों और वे वापस मिल गए हों तो उन्हें रात्रि के समय ले लेना चाहिए। अध्वगमन प्रकृत सूत्र में रात्रि को अथवा विकाल में साधु-साध्वी को विहार का निषेध किया है। विचार भूमि एवं विहार भूमि संबंधी सूत्र में बताया है कि रात्रि में साधु-साध्वी को उच्चार भूमि अथवा स्वाध्याय भूमि में अकेले जाना अकल्प्य है। आवश्यकता होने पर अन्य साधु-साध्वी को साथ लेकर निकलना चाहिए। आर्य क्षेत्र विषयक सूत्र में साधु-साध्वियों के विहार योग्य क्षेत्र की मर्यादा पर प्रकाश डाला है।

द्वितीय उद्देश के पच्चीस सूत्रों में से आदि के बारह सूत्रों में उपाश्रय भूमि संबंधी वर्णन किया गया है। आगे के सूत्रों में बताया है कि एक या अनेक सागरिकोंवसति स्वामियों- उपाश्रय के मालिकों के यहाँ से साधु-साध्वियों को आहार आदि नहीं लेना चाहिए। विभिन्न दृष्टियों से उनके यहाँ से आहार आदि लेने के बारे में विचार किया गया है।

साधु-साध्वियों को पाँच प्रकार के वस्त्र धारण करना कल्प्य है—जांगिक, भांगिक, सानक, पोतक और तिरीढ़पट्टक तथा पाँच प्रकार के रजोहरण रखना कल्प्य है—और्णिक, औष्ट्रिक, सानक, वच्चक, चिप्पक और मुंज चिप्पक।

तृतीय उद्देश के इकतीस सूत्रों में से उपाश्रय संबंधी सूत्र में साधु को साध्वियों के उपाश्रय में उठना, बैठना, खाना, पीना, स्वाध्याय करना आदि तथा साध्वी को साधुओं के उपाश्रय में उठना-बैठना आदि क्रियाएँ करना अकल्प्य बताया है। कर्म विषयक सूत्रों में बताया है कि साधु-साध्वियों को रोमयुक्त, चर्मपट पर बैठना आदि अकल्प्य है। अकृत्स्त चर्म का उपयोग एवं संग्रह कर सकते हैं। वस्त्र विषयक सूत्रों में वस्त्रों के कल्प्याकल्प्य का विचार किया गया है। त्रिकृत्स्न विषयक सूत्र में नवदीक्षित साधु के और चतुःकृत्स्न विषयक सूत्र में नवदीक्षित साध्वी के वस्त्र की मर्यादा बताई है। साधु को तीन वस्त्र लेकर और साध्वी को चार वस्त्र लेकर प्रव्रजित होना चाहिए। समवसरण संबंधी सूत्र में बताया है कि साधु साध्वी को प्रथम समवसरण अर्थात् वर्षाकाल में वस्त्र ग्रहण करना अकल्प्य है, किन्तु द्वितीय समवसरण अर्थात् हेमन्त, ग्रीष्म ऋतु में वस्त्र ग्रहण करने में कोई दोष नहीं है। यथादलिक वस्त्र परिमार्जन प्रकृत सूत्र में साधु-साध्वी को छोटे-बड़े की मर्यादा के अनुसार वस्त्र विभाजन करने का विधान बताया है। अन्तर गृहस्थानादि प्रकृत सूत्र में साधु-साध्वी को गृहस्थ के घर के भीतर, दो घरों के बीच सोना-बैठना, अकल्प्य बताया है। शय्या संस्तारक संबंधी सूत्रों में बताया है कि साधु-साध्वी को वापस देने योग्य उपकरण मालिक को दिए बिना विहार नहीं करना चाहिए। इसी संबंधी अन्य बातों पर भी प्रकाश डाला है।

अवग्रह विषयक सूत्रों पर प्रकाश डाला है कि जिस दिन कोई श्रमण वसति का त्याग करें और उसी दिन दूसरे श्रमण आए, तो एक दिन तक पहले श्रमणों का उस पर अधिकार कायम रहता है। अवग्रह प्रमाण प्रकृत सूत्र में बताया है कि साधु-साध्वियों को चारों ओर से सवा वर्ग योजन का अवग्रह रखकर ग्राम, नगर आदि में रहना कल्प्य है।

चतुर्थ उद्देश के प्रारंभिक सूत्रों में गुरु प्रायश्चित योग्य कार्यों में गुरु प्रायश्चित योग्य कार्यों को बताया है। इसी प्रकार के अन्य श्रमण योग्य कार्यों के विधान का उल्लेख किया है।

पंचम उद्देश में ब्रह्मचर्य रक्षा संबंधी और ब्रह्मचर्य खण्डित होने पर किस दोष के लिए कौन-सा प्रायश्चित लेना पड़ता है, इसका और आहार संबंधी बातों आदि का विचार किया गया है।

षष्ठ उद्देश में बीस सूत्र हैं। इसमें बताया गया है कि साधु-साध्वियों को अपना वाणी व्यवहार कैसा रखना चाहिए। उन्हें निम्नलिखित छह प्रकार के वचन नहीं बोलने चाहिए--

१. अलीक वचन, २. हीलित वचन, ३. खिंसित वचन, ४. परुष वचन, ५. गार्हस्थिक वचन और ६. व्यवशमितोदीरण वचन (पुनः कलह उत्पन्न करने वाले वचन)।

कल्प के विशुद्धिमूलक छह प्रस्तार (प्रायश्चित की रचना विशेष) है। वे इस प्रकार हैं--प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, अविरतिका अथवा अब्रह्म (मैथुन) और अपुरुष--नपुंसक और दास का आरोप लगाने वाले से संबंधित वचन प्रयोगों का प्रायश्चित।

साधु को यदि पैर में काँटा आदि लग जाए या आँख में मच्छर, कचरा आदि गिर जाए और वह उसे निकालने में असमर्थ हो, तो साध्वी निकाल सकती है। इसी प्रकार साध्वी के पैर में काँटा आदि लगने पर आँख में कचरा आदि गिर जाने की स्थिति में भी समझना चाहिए। साध्वी के डूबने, गिरने, फिसलने आदि का मौका आने पर साध्वी को साधु और साधु के वैसा मौका आने पर साधु को साध्वी इस प्रकार एक दूसरे को पकड़कर निकाल कर बचा सकते हैं। विक्षिप्तचित्त साध्वी को साधु हाथ पकड़कर उसके स्थान पर पहुँचा दे, तो उसे कोई दोष नहीं लगता। इसी प्रकार दीप्तचित्त साध्वी को भी साधु हाथ पकड़कर उसके स्थान पर पहुँचा सकता है। साध्वाचार के छह व्याघातक, छह प्रकार की कल्पस्थिति का भी वर्णन किया गया है।

इस प्रकार बृहत्कल्प सूत्र के इस संक्षिप्त परिचय से यह स्पष्ट हो जाता है कि

इस लघुकाय ग्रंथ में जैन आचार का विशेषता के साथ वर्णन किया गया है और साधु-साध्वी के जीवन व व्यवहार से संबंधित अनेक महत्वपूर्ण बातों का सुनिश्चित विधान किया गया है। इस ग्रंथ में साध्वाचार से संबंधित जिस बात का उल्लेख नहीं हो सका है, उसका व्यवहार सूत्र में उल्लेख मिलता है। इस दृष्टि से ये दोनों ग्रंथ एक दूसरे के पूरक हैं।

४. **निशीथ सूत्र**– निशीथ शब्द का अर्थ है—प्रच्छन्न अर्थात् छिपा हुआ। इस शास्त्र में सबको नहीं बताने योग्य बातों का वर्णन है, इसलिए इस सूत्र का नाम निशीथ है। अथवा जिस प्रकार निशीथ अर्थात् कतकफल को पानी में डालने से मैल नीचे बैठ जाता है, उसी प्रकार इस शास्त्र के अध्ययन से भी आठ प्रकार के कर्मरूपी मल का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम हो जाता है। इसलिए इसे निशीथ कहते हैं। यह सूत्र नौवें प्रत्याख्यान पूर्व की तृतीय वस्तु के बीसवें प्राभृत से उद्धृत किया गया है। इस छेदसूत्र में साधु-साध्वियों के लिए चार प्रकार के प्रायश्चितों गुरुमासिक, लघुमासिक, गुरु चातुर्मासिक और लघु चातुर्मासिक के वर्णन के साथ-साथ आलोचना एवं प्रायश्चित करने के समय लगने वाले दोषों व उनके लिए विशेष प्रायश्चित की व्यवस्था का विवेचन किया गया है। व्यवहार सूत्र के प्रथम उद्देश में भी प्रायः इसी विषय पर प्रकाश डाला है।

इस ग्रंथ में करीब पंद्रह सौ सूत्र और बीस उद्देश हैं। कुछ सूत्रों का तो पुनरावृत्ति होने की दृष्टि से सांकेतिक निर्देश कर दिया है। पहले उद्देश में गुरु मासिक प्रायश्चित का, दूसरे, तीसरे, चौथे और पाँचवें उद्देश में लघुमासिक प्रायश्चित, छठे से लेकर ग्यारहवें उद्देश तक गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित का और बारहवें से लेकर उन्नीसवें उद्देश तक लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित का वर्णन है। बीसवें उद्देश में केवल आलोचना एवं प्रायश्चित करते समय लगने वाले दोषों पर विचार करके उनके लिए विशेष प्रायश्चित की व्यवस्था की गई है। प्रत्येक उद्देश के विषय की रूपरेखा इस प्रकार है—

प्रथम उद्देश में उन क्रियाओं का उल्लेख किया गया है, जिनके लिए गुरुमास अथवा मासगुरु[१] प्रायश्चित का विधान किया गया है। दूसरे, तीसरे, चौथे और पाँचवें उद्देश में मासलघु[२] प्रायश्चित के योग्य क्रियाओं का उल्लेख किया गया है। छठें, सातवें और आठवें उद्देश में मैथुन संबंधी क्रियाओं का उल्लेख है, जो चातुर्मासिक प्रायश्चित के योग्य हैं। नौवां उद्देश भी गुरु चातुर्मासिक प्रायश्चित योग्य क्रियाओं

---

१. उपवास
२. एकाशन

से संबंधित है। ये क्रियाएँ आहार गवेषणा से संबंधित है। दसवाँ उद्देश भी गुरुचातुर्मासिक प्रायश्चित से संबंधित है। इसमें साधु के आपसी व्यवहार से संबंधित क्रियाओं का विशेषतया उल्लेख किया गया है, जो गुरुचातुर्मासिक प्रायश्चित के योग्य हैं। बारहवें उद्देश में लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित के योग्य कुछ क्रियाओं का उल्लेख है। तेरहवें उद्देश में भी लघुचातुर्मासिक प्रायश्चित के योग्य क्रियाओं का संकेत किया गया है। इन क्रियाओं का अधिकतर संबंध सचित्त पृथ्वी पर बैठने, सोने, स्वाध्याय करने, अन्य तीर्थकों को शिल्पकला सिखाने, जन्तर-मन्तर करने, फलाफल बताने आदि से है। चौदहवें उद्देश में पात्र संबंधी दोषपूर्ण क्रियाओं पर प्रकाश डाला गया है। पंद्रहवें, सोलहवें, सतरहवें और अठारहवें उद्देश में लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित योग्य विभिन्न क्रियाओं का उल्लेख किया गया है। उन्नीसवें उद्देश में निम्नोक्त क्रियाओं के लिए लघु चातुर्मासिक प्रायश्चित का विधान किया गया है—

अचित वस्तु मोल लेना, लिवाना, घूस ले कर देने वाले से ग्रहण करना, उधार लेना, उधार लिवाना आदि। रोगी साधु के लिए तीन दत्ती (दिए जाने वाले पदार्थ की अखण्ड धारा अथवा हिस्सा) से अधिक अचित्त वस्तु ग्रहण कर ग्रामानुग्राम विहार करना, अचित वस्तु को पानी में गलाना, अस्वाध्याय के काल में स्वाध्याय करना, इन्द्र महोत्सव, स्कन्द महोत्सव, यक्ष महोत्सव एवं भूत महोत्सव के समय स्वाध्याय करना, चैत्री, आषाढ़ी, भाद्रपदी एवं कार्तिकी प्रतिपदाओं के दिन स्वाध्याय करना रात्रि के प्रथम तथा अंतिम इन चारों प्रहरों के समय स्वाध्याय नहीं करना, नीचे के सूत्र का उल्लंघन कर ऊपर के सूत्र की वाचना देना, अयोग्य को शास्त्र पढ़ाना और योग्य को शास्त्र न पढ़ाना, आचार्य उपाध्याय से न पढ़कर अपने आप ही स्वाध्याय करना, अन्य तीर्थिक अथवा गृहस्थ को पढ़ाना अथवा उससे पढ़ना, पासत्था आदि शिथिलाचारियों को पढ़ाना अथवा उनसे पढ़ना।

बीसवें उद्देश के प्रारंभ में सकपट एवं निष्कपट आलोचना के लिए विविध प्रकार के प्रायश्चितों का विधान किया गया है। जैसे कि सकपट आलोचना के लिए निष्कपट आलोचना से एक मासिकी अतिरिक्त प्रायश्चित करना पड़ता है। किसी भी दशा में षण्मासिकी से अधिक प्रायश्चित का विधान नहीं है। प्रायश्चित करते हुए पुनः दोष सेवन करने वाले के लिए विशेष प्रायश्चित की व्यवस्था की गई है।

निशीथ सूत्र के इस परिचय से स्पष्ट हो जाता है कि इसमें केवल प्रायश्चित संबंधी क्रियाओं का वर्णन है। उन सभी क्रियाओं का इसमें समावेश कर दिया गया है, जो गुरु मासिक आदि प्रायश्चित प्रकारों के योग्य है। इस दृष्टि से निशीथ सूत्र अन्य आगमों से विलक्षण है। शेष रहे महानिशीथ और जीतकल्प छेद सूत्रों का अन्यत्र परिचय दिया जा रहा है।

♣ मूलसूत्रों का परिचय

छेदसूत्रों के परिचय के पश्चात अब क्रम प्राप्त मूल सूत्रों का परिचय प्रस्तुत करते हैं।

उपांगों की भाँति मूल सूत्रों का उल्लेख भी प्राचीन आगमों में नहीं है। कुछ ग्रंथों के लिए मूल शब्द का प्रयोग क्यों किया गया ? इसका क्या कारण है ? प्राचीन ग्रंथों में तो स्पष्टीकरण नहीं किया गया है, लेकिन संशोधक विद्वानों ने 'मूलसूत्र' शब्द के बारे में विभिन्न विचार व्यक्त किए हैं। जर्मन विद्वान जाल शार्पेण्टियर के कथनानुसार भगवान महावीर से कहे गए होने से ये मूल सूत्र कहलाए। परंतु यह कथन उचित मालूम नहीं होता, क्योंकि मूल सूत्रों में गिना जाने वाला दशवैकालिक सूत्र शय्यंभवसूरि विरचित माना जाता है। डॉ. शूब्रिंग के कथनानुसार साधु जीवन के मूलभूत नियमों का उपदेश मूल सूत्र कहने का कारण है। फ्रांसिसी विद्वान प्रो. गॅरिनो के मतानुसार इन सूत्रों पर अनेक टीका-टिप्पणियाँ लिखी गई हैं, इसीलिए इन्हें मूलसूत्र कहा गया है। जैन तत्व प्रकाश (पृष्ठ २१८) में कहा गया है कि ये ग्रंथ सम्यकत्व की जड़ को दृढ़ बनाने वाले और सम्यक्त्व की वृद्धि करने वाले होने से मूल सूत्र कहलाते हैं। मूलसूत्र शब्द के प्रयोग के लिए यह दृष्टिकोण यथार्थ सत्य के निकट है, क्योंकि श्रमण जीवन की पूर्व भूमिका निर्मित करने में विशेष उपयोगी होने से कुछ ग्रंथ मूल सूत्र कहलाते हैं।

मूल सूत्रों की संख्या के बारे में मत भिन्नता है। कुछ लोग उत्तराध्ययन, आवश्यक और दशवैकालिक इन तीन सूत्रों को मूलसूत्र मानते हैं। वे पिंडनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति को मूलसूत्रों में नहीं गिनते। उनके मतानुसार पिंडनिर्युक्ति दशवैकालिक निर्युक्ति के आधार से और ओघनिर्युक्ति आवश्यक निर्युक्ति के आधार से लिखी गई है। प्रो. विण्टरनित्ज आदि विद्वानों ने उत्तराध्ययन आदि उक्त तीन मूलसूत्रों के साथ पिंडनिर्युक्ति को मिलाकर मूलसूत्रों की संख्या चार मानी है। कुछ लोग पिण्डनिर्युक्ति के साथ ओघनिर्युक्ति को भी मूलसूत्र मानते हैं। कुछ ने पक्खियसुत्त की गणना भी मूल सूत्रों में की है। इसी प्रकार इनके क्रम के बारे में भी मतभिन्नता है। इनके क्रम के चार प्रकार देखने को मिलते हैं–

१. उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक।

२. उत्तराध्ययन, आवश्यक, दशवैकालिक, पिंडनिर्युक्ति।

३. उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आवश्यक, पिंडनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति।

४. उत्तराध्ययन, आवश्यक, पिंडनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति और दशवैकालिक।

वर्तमान में उत्तराध्ययन, दशवैकालिक, आवश्यक और पिंडनिर्युक्ति ये चार मूलसूत्र के रूप में हैं। इनमें से प्रथम तीन तो सर्वमान्य हैं और पिंडनिर्युक्ति को श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परंपरा मूलसूत्र के रूप में मानती हैं। सर्वमान्य मूलसूत्रों का परिचय यहाँ प्रस्तुत करने के बाद पिंडनिर्युक्ति का परिचय यथायोग्य स्थान पर दिया जा रहा है।

१. उत्तराध्ययन– यह जैन आगमों का पहला मूलसूत्र है। प्रो. लायमन के अनुसार यह सूत्र उत्तर-बाद का होने से अर्थात् अंग ग्रंथों की अपेक्षा से उत्तर काल में रचित होने से उत्तराध्ययन कहलाता है, लेकिन टीका ग्रंथों में इसके नामकरण के बारे में बताया है कि भगवान महावीर ने अपने अंतिम चातुर्मास में अपुट्ठ वागरणा-बिना पूछे जिन छत्तीस प्रश्नों के उत्तर दिए थे, उनका इस ग्रंथ में संकलन होने से इसका नामकरण उत्तराध्ययन किया गया है। जनसाधारण में इसका नाम छत्तीसा भी प्रचलित है और पर्यूषण पर्व में इसका वाचन किया जाता है।

उत्तराध्ययन निर्युक्ति के अनुसार इसके छत्तीस अध्ययनों में से कुछ अंग आगमों में से लिए गए हैं, कुछ जिन भाषित है और कुछ संवाद रूप हैं। वादिवेताल शांतिसूरि के अनुसार 'परीसह' नामक दूसरा अध्ययन दृष्टिवाद से लिया गया है, द्रुम पुष्पिका नामक दसवाँ अध्ययन भगवान महावीर ने प्ररूपित किया है तथा केशी गौतमीय नामक तेईसवाँ अध्ययन संवाद रूप में प्रतिपादित किया गया है।

इस प्रकार ग्रंथ के विषयों के लिए किन्हीं भी सूत्रों को आधार माना जाए, लेकिन इस बात के लिए सभी एकमत है कि उत्तराध्ययन में जैन आचार विचारों का प्रभावक रूप में विवेचन किया गया है। भाषा और विषय की दृष्टि से इसके प्राचीन होने की चर्चा अनेक विद्वानों ने की है। इस ग्रंथ के अनेक स्थलों की तुलना बौद्धों के सुत्तनिपात, जातक और धम्म पद आदि प्रमुख ग्रंथों से की जा सकती है। जैसे के राजा नमि को बौद्ध ग्रंथों में प्रत्येक बुद्ध मानकर उनकी कठोर तपश्चर्या का वर्णन किया गया है। चित्तसंभूत कथा की तुलना चित्तसंभूत जातक की कथा से, हरिकेश मुनि की कथा की मातंग जातक की कथा से और इषुकार की कथा की तुलना हत्थिपाल जातक में वर्णित कथा से की जा सकती है। उत्तराध्ययन सूत्र में वर्णित चार प्रत्येक बुद्धों की कथा कुंभकार जातक में कही गई है। मृगापुत्र की कथा भी बौद्ध साहित्य में आती है। इस ग्रंथ में अनेक सुभाषित और संवाद ऐसे हैं, जिन्हें पढ़ने से प्राचीन बौद्ध सूत्रों का स्मरण हो जाता है।

ग्रंथ के महत्व को देखते हुए पूर्वकाल में तो विद्वान आचार्यों ने इसके आशय को स्पष्ट करने के लिए टीकाएँ लिखी हैं, लेकिन वर्तमान में भी यह क्रम चालू है।

अनेक शोध स्नातकों ने अपने-अपने गवेषणापूर्ण शोध प्रबंध लिखकर इसके बहुआयामी दृष्टिकोणों में से किसी एक आयाम पर प्रकाश डाला है। संक्षेप में कहा जाए तो इसमें महत्वपूर्ण जैन सिद्धांतों का सारांश गर्भित कर दिया है।

उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययनों के नाम और उनमें वर्णित विषय इस प्रकार है–

१. **विनय**– विनीत और अविनीत के लक्षण एवं उनके परिणाम, साधक का कठिन कर्त्तव्य, गुरुधर्म, शिष्य, शिक्षा, चलते, उठते, बैठते एवं शिक्षा लेने के लिए जाते हुए साधु का आचरण।

२. **परीषह**– विभिन्न परिस्थितियों में विभिन्न प्रकार के आगत आकस्मिक संकटों के समय भिक्षु को किस प्रकार सहिष्णु व शान्त बने रहना चाहिए।

३. **चतुरंगीय**– मनुष्यत्व, धर्मश्रवण, श्रद्धा संयम में पुरुषार्थ इन चार अंगों का क्रमपूर्वक निर्देश, संसार भ्रमण का कारण, धर्म कौन पाल सकता है, शुभ कर्मों का सुन्दर परिणाम।

४. **असंस्कृत**– जीवन की क्षण भंगुरता, दुष्कर्म का दुःखद परिणाम, कृत कर्मों का योग्य अवश्यंभावी है। प्रलोभनों में सजग रहना, स्वच्छंद प्रवृत्ति का नियंत्रण करने से मोक्ष प्राप्ति।

५. **अकाम मरणीय**– अज्ञानी का ध्येय शून्य मरण, क्रूरकर्मी का विलाप, भोगासक्ति का दुष्परिणाम, मृत्यु के समय, दुराचारी की स्थिति, गृहस्थ साधक की योग्यता, सच्चे संयम का प्रतिपादन, सदाचारी की गति, देवगति के सुखों का वर्णन, संयमी का सफल मरण।

६. **क्षुल्लक निग्रन्थीय**– धन, स्त्री, पुत्र, परिवार आदि मनुष्य के लिए शरणभूत नहीं होते, बाह्य परिग्रह का त्याग, प्राणिमात्र से मैत्री भाव, आचार शून्य विद्वता व्यर्थ है, संयमी की परिमितता।

७. **एलय**– योगी की बकरें से तुलना, अधमगति में जाने वाले जीव के लक्षण, लेशमात्र भूल का दुःखद परिणाम, मानव जीवन का कर्त्तव्य, काम भोगों की चंचलता।

८. **कापिलीय**– कपिल मुनि के पूर्व जन्म का वृत्तान्त, शुभ भावना के कारण पतन में से उत्थान, भिक्षुओं के लिए इनका सदुपदेश, सूक्ष्म अहिंसा का प्रतिपादन, जिन विद्याओं से मुनि का पतन हो, उनके त्याग का उपदेश, लोभ का परिणाम, तृष्णा का चित्रण, स्त्रीसंग का त्याग।

९. **नमि प्रवज्या**– नमि राजर्षि का अभिनिष्क्रमण मिथिला नगरी में हाहाकार, नमि राजर्षि और इंद्र के प्रश्नोत्तर और उनका सुन्दर समाधान।

१०. **द्रुमपत्रक**– वृक्ष के पत्ते से मनुष्य जीवन की तुलना, जीवनोत्क्रांति का क्रम, मनुष्य जीवन की दुर्लभता, भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न आयु का परिमाण, अप्रमत्त रहने का उपदेश आदि।

११. **बहुश्रुत पूजा**– ज्ञानी और अज्ञानी के लक्षण, सच्चे ज्ञानी की मनःस्थिति, ज्ञान का सुन्दर परिणाम, ज्ञानी की सर्वोच्च उपमा।

१२. **हरिकेशीय**– जातिवाद का खण्डन, जातिभेद का दुष्परिणाम, तपस्वी की त्याग दशा, शुद्ध तपश्चर्या का प्रभाव, सच्ची शुद्धि किसमें है।

१३. **चित्त संभूतीय**– संस्कृति और जीवन का संबंध, स्नेह का आकर्षण, चित्त और संभूत इन दोनों भाइयों के पूर्व भव का इतिहास, छोटी सी वासना के लिए योग, पुनर्जन्म क्यों, प्रलोभन के निमित्त मिलने पर भी त्यागी की दशा, चित्त और संभूत का परस्पर मिलन, चित्त मुनि का उपदेश, संभूति का न मानना निदान का दुष्परिणाम, संभूति का घोर दुर्गति में जाकर पड़ना।

१४. **इषुकारीय**– छह साथी जीवों का वृत्तांत और इषुकार नगर में उनका पुनः इकट्ठा होना, संस्कार की स्फूर्ति, परंपरागत मान्यताओं का जीवन पर प्रभाव, गृहस्थाश्रम किसलिए, सच्चे वैराग्य की कसौटी आत्मा की नित्यता का मार्मिक वर्णन, अन्त में पुरोहित के दोनों पुत्रों, पुरोहित और उसकी पत्नी, इषुकार राजा और रानी इन छहों जीवों का एक दूसरे के निमित्त से संसार का त्याग और मोक्ष प्राप्ति।

१५. **सभिक्षु**– आदर्श भिक्षु का हृदयग्राही वर्णन।

१६. **ब्रह्मचर्य**– मन, वचन, काया से शुद्ध ब्रह्मचर्य कैसे पाला जा सकता है, इसके लिए दस हितकारी वचन, बह्मचर्य की आवश्यकता, ब्रह्मचर्य पालन का फल आदि का विस्तृत विवेचन।

१७. **पापश्रमणीय**– पापी श्रमण का स्वरूप, श्रमण जीवन को दूषित करने वाले सूक्ष्मातिसूक्ष्म दोषों का विवेचन।

१८. **संयतीय**– कंपिलपुर नगर के राजा संयति का शिकार के लिए उद्यान में जाना, अपने शौक के लिए पश्चाताप, गर्दभाली मुनि के उपदेश का प्रभाव, संयति राजा का गृहत्याग, संयति तथा क्षत्रिय मुनि का समागम, जैन शासन की उत्तमता, शुद्ध अन्तःकरण से पूर्व जन्म का स्मरण होना, अनुपम विभूति धारक महापुरुषों का संयम धारणकर आत्म कल्याण करना।

१९. **मृगापुत्रीय**– सुग्रीव नगर के युवराज मृगापुत्र को मुनि दर्शन से वैराग्य भाव की उत्पत्ति, पुत्र का कर्त्तव्य, माता-पिता का वात्सल्य भाव, दीक्षा के लिए आज्ञा प्राप्त करते समय उसकी तात्विक चर्चा, पूर्व जन्मों में भोगे हुए दुःखों की वेदना का वर्णन, आदर्श त्याग, संयम स्वीकार कर सिद्धि प्राप्त करना।

२०. **महानिर्ग्रंथीय–** श्रेणिक और अनाथी मुनि के बीच हुई सनाथता-अनाथता विषयक मार्मिक विचार चर्चा।

२१. **समुद्रपालीय–** चंपानगरी के श्रावक पालित का चरित्र। उसके पुत्र समुद्र पाल को एक चोर की दशा देखकर उत्पन्न हुआ वैराग्य भाव, उसका त्याग और उसकी अडिग तपस्या का वर्णन।

२२. **रथनेमीय–** भगवान अरिष्टनेमि का पूर्वभव, उनके दीक्षा लेने आदि का मार्मिक चित्रण तथा सती राजीमती का अभिनिष्क्रमण, रथनेमि और राजीमती का एकान्त में अकस्मात् मिलन, रथनेमि का कामातुर होना, राजीमती की अडिगता, रथनेमि को उपदेश देकर संयम में स्थिर करना, स्त्री शक्ति का ज्वलन्त दृष्टान्त।

२३. **केशी गौतमीय–** श्रावस्ती नगरी में भगवान पार्श्वनाथ की परंपरा के श्रमण केशी और गौतम गणधर का मिलन, दोनों के बीच तात्विक प्रश्नोत्तर, केशी श्रमण का भगवान महावीर के द्वारा प्ररूपित आचार का ग्रहण।

२४. **प्रवचन माता–** आठ प्रवचन माताओं का विस्तृत विवेचन (पाँच समिति और तीन गुप्ति ये आठ प्रवचन माता हैं)।

२५. **यज्ञीय–** याजक कौन? यज्ञ कौन सा? अग्नि कैसी होनी चाहिए? ब्राह्मण किसे कहते हैं? वेद का असली रहस्य, सच्चा यज्ञ, जातिवाद का खण्डन, कर्मवाद का मण्डन, श्रमण, मुनि, तपस्वी किसे कहते हैं? संसार रूपी रोग की सच्ची चिकित्सा सच्चे उपदेश का प्रभाव।

२६. **समाचारी–** भिक्षु, साधु की दिनचर्या का वर्णन।

२७. **खलुंकीय–** गर्गाचार्य का साधु जीवन, कुशिष्यों को गलियार बैलों की उपमा, स्वच्छंदता का दुष्परिणाम, गर्गाचार्य का शिष्यों को त्यागकर निरासक्त भाव से एकान्त स्थान में साधना में लीन होकर आत्मकल्याण करना।

२८. **मोक्षमार्गीय–** मोक्षमार्ग के साधनों का वर्णन, तत्वों का लक्षण आदि।

२९. **सम्यक्त्व पराक्रम–** जिज्ञासा की सामान्य भूमिका से लेकर अंतिम साध्य (मोक्ष) प्राप्ति तक होने वाली समस्त भूमिकाओं का तीन-तीन बोलों में वर्णन।

३०. **तपोमार्ग–** तपश्चर्या का विभिन्न दृष्टियों से निरीक्षण, तपश्चर्या के विभिन्न प्रकार के प्रयोगों का वर्णन और उनका शारीरिक-मानसिक प्रभाव।

३१. **चरणविधि–** एक से लेकर तैंतीस संख्या तक की वस्तुओं का वर्णन किया गया है। इनमें जो सदैव उपयोग रखता है, वह भिक्षु संसार परिभ्रमण नहीं करता।

३२. प्रमाद स्थान– सम्पूर्ण ज्ञान के प्रकाश से, अज्ञान और मोह के त्याग से एवं राग-द्वेष के क्षय से एकान्त सुखकारी मोक्ष की प्राप्ति होती है। जैसे बिल्लियों के निवास स्थान के पास चूहों का रहना प्रशस्त नहीं है, वैसे ही स्त्रियों के निवास स्थान के पास ब्रह्मचारी का रहना उचित नहीं है।

३३. कर्म प्रकृति– जन्म-मरण के दुःखों का मूल कारण क्या है? वह कारण कर्म है। ज्ञानावरण आदि आठ कर्मों के नाम, भेद, प्रभेद तथा उनकी स्थिति एवं परिणाम का संक्षिप्त वर्णन।

३४. लेश्या– लेश्याओं के नाम, लक्षण, उनके वर्ण, रस, गंध, स्पर्श और परिणामों का वर्णन।

३५. अनगार– संयमी को हिंसा आदि पाँच पापों का त्याग करना चाहिए। श्मशान, शून्यागार, वृक्ष के नीचे अथवा दूसरे के निमित्त बनाए हुए एकान्त स्थान में रहना चाहिए। क्रय-विक्रय में साधु को किसी भी प्रकार का भाग नहीं लेना चाहिए।

३६. जीवाजीव विभक्ति– इसमें जीव, धर्म, अधर्म, आकाश, काल और पुद्गल इन छह द्रव्यों का भेद, प्रभेद, लक्षण आदि सहित वर्णन किया गया है।

ऊपर उत्तराध्ययन के छत्तीस अध्ययनों के वर्ण्य विषयों का संक्षेप में विहंगावलोकन मात्र किया गया है। विस्तृत ज्ञान के लिए ग्रंथ का पठन, अध्ययन, अध्यापन, पाठन, वांचन करना चाहिए। इसकी वर्णन शैली कथाच्छेदन का बालानां 'नीतिस्तदिह कथ्यते' की उक्ति को सार्थक करती है। ग्रंथ के अध्ययनों के नामकरण के आधार हैं, अध्ययनगत विवेचनीय विषय अथवा प्रमुख पात्र।

२. दशवैकालिक सूत्र– उत्तराध्ययन सूत्र की तरह दशवैकालिक सूत्र भी मूलसूत्र हैं। आर्य शय्यंभव सूरि इसके कर्ता हैं। दस अध्ययनों में इस सूत्र की रचना होने के कारण और विकाल अर्थात् संध्या के समय पढ़े जाने के कारण इसका नाम दशवैकालिक सूत्र पड़ा। आचार्य भद्रबाहु की निर्युक्ति के अनुसार इसका चौथा अध्ययन आत्मप्रवाद पूर्व, पाँचवाँ अध्ययन कर्मप्रवाद पूर्व, सातवाँ अध्ययन सत्यप्रवाद पूर्व और शेष अध्ययन नौवें प्रत्याख्यान पूर्व की तीसरी वस्तु में से लिए गए हैं। दशवैकालिक के कतिपय अध्ययन और गाथाओं की तुलना उत्तराध्ययन एवं आचारांग सूत्र के अध्ययनों एवं गाथाओं से की जा सकती है।

दशवैकालिक सूत्र के दस अध्ययनों के नाम क्रमशः इस प्रकार हैं–

१. द्रुमपुष्पिका, २. श्रामण्यपूर्विका, ३. क्षुल्लिकाचार कथा, ४. षडजीवनिका, ५. पिंडेषणा, ६. महाचार, ७. वाक्य शुद्धि, ८. आचार प्रणिधि, ९. विनय समाधि और १०. सभिक्षु। पिंडेषणा में दो और विनय समाधि में चार उद्देश हैं।

द्रुमपुष्पिका अध्ययन में धर्म को उत्कृष्ट मंगल बताते हुए धर्म का स्वरूप तथा उसके आराधक श्रमण की भिक्षा विधि का संकेत है कि जैसे भ्रमर पुष्पों को पीड़ा पहुँचाए बिना उनमें से रस का पान कर अपने आपको तृप्त करता है, वैसे ही भिक्षु आहार आदि की गवेषणा में रत रहता है। दूसरे अध्ययन श्रामण्यपूर्विका में बताया है कि इंद्रिय भोगों को जो स्वेच्छा से त्याग देता है, वह त्यागी है। अगंधन कुल का नाग अग्नि में जलकर अपने प्राण त्याग देता है, पर वमन किए हुए विष का कभी पान नहीं करता, वैसे ही त्यागी पुरुष भुक्त भोगों को पुनः भोगने की आकांक्षा नहीं करता। उसे वैसी आकांक्षा करनी भी नहीं चाहिए। क्षुल्लिकाचार कथा में सामान्य साध्वाचार के वर्णन के साथ अनाचारों का संकेत एवं उनसे दूर रहने का उपदेश दिया है। षड्जीवनिका अध्ययन में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस इन षट्जीवनिकायों का स्वरूप बताकर पंच महाव्रतों का स्वरूप और मोक्षगति का क्रम बताया है। पिंडैषणा अध्ययन के दो उद्देशों में साधु की भिक्षाविधि का सूक्ष्मता के साथ उपयोगी वर्णन है। महाचार अध्ययन में साध्वाचार का विस्तृत वर्णन किया गया है। वाक्य शुद्धि अध्ययन में भाषा का स्वरूप तथा उसके गुण दोषों का विस्तृत विवेचन कर शुद्ध भाषा प्रयोग की शिक्षा दी गई है। विनय समाधि अध्ययन में अपने नाम के अनुसार विनय ही धर्म का मूल है, इस सिद्धांत को विविध रूपको एवं उपदेशों में भिक्षु में कौन सी योग्यता, विशेषता होनी चाहिए और भिक्षु कौन होता है ? उसकी योग्यता क्या होती है आदि का वर्णन है।

इसके अंत में रति वाक्य और विविक्तचर्या नामक दो चूलिकाएँ हैं। पहली चूलिका में संयम में प्रीति उत्पन्न करने वाले वाक्यों द्वारा हितशिक्षाओं का संकलन किया गया है और दूसरी विविक्तचर्या चूलिका में वर्णन है कि दोषों से दूर रहकर श्रमण आत्मगवेषणा के मार्ग पर कैसे आगे बढ़े। इन दोनों चूलिकाओं का आर्य शय्यंभवकृत होना अनिश्चित है।

३. आवश्यक सूत्र– साध्वाचार के लिए आवश्यक, अनिवार्य नित्य कर्म के प्रतिपादक क्रिया अनुष्ठान रूप कर्त्तव्यों का वर्णन आवश्यक सूत्र में किया गया है। इसके नामकरण का यही आधार है। इसके सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान ये छह अध्ययन हैं। इनमें अपने-अपने नाम के अनुरूप क्रिया विधियों को बताया है। अंतिम प्रत्याख्यान अध्ययन के अंत में बहुत ही भावपूर्ण, प्रांजल शब्दों में अरिहंतों का गुणानुवाद करते हुए उन्हें नमस्कार किया गया है। वह इस प्रकार है–

आदिकर, तीर्थंकर, स्वयं संबुद्ध पुरुषोत्तम पुरुषसिंह, पुरुषवर पुण्डरीक, पुरुष

वर गंधहस्ती, लोकोत्तम, लोकनाथ, लोकहितैषी, लोकप्रदीप, लोकप्रद्योतक, अभयदाता, चक्षुदाता, मार्गदाता, शरणदाता, जीवनदाता, बोधिदाता, धर्मदाता, धर्मोपदेशक, धर्मनायक, धर्म सारथी और धर्मवर चतुरंत चक्रवर्ती श्री अरिहंतों को मैं नमस्कार करता हूँ।

♣ चूलिका सूत्र

नंदी और अनुयोग द्वार सूत्र चूलिका सूत्र कहलाते हैं। लोक व्यवहार में इस शब्द का अर्थ है—चूड़ा, चोटी, मस्तक का सबसे ऊँचा भाग, हिस्सा, पर्वत का शिखर, भवन का चरमान्त भाग। साहित्य में भी इसी आशय को ध्यान में रखकर चूलिका शब्द पुस्तक के उस भाग अथवा किसी समग्र ग्रंथ के लिए प्रयुक्त किया जाता है, जिसमें उन अवशिष्ट विषयों का वर्णन या वर्णित विषयों का स्पष्टीकरण हो, जिनका समावेश ग्रंथ के किसी अध्ययन या अध्याय में नहीं किया जा सका है। इनमें मूल ग्रंथ के प्रयोजन भूत विषयों को दृष्टि में रखते हुए तत्संबद्ध आवश्यकताओं की जानकारी दी जाती है। परिशिष्ट चूलिका का रूपान्तर ही तो है, जिसका वर्तमान लेखक उपयोग करते हैं।

नंदीसूत्र और अनुयोग द्वार सूत्र इसी प्रकार के चूलिका, परिशिष्ट सूत्र हैं, जो आगमों के अध्ययन के लिए भूमिका निर्माण का कार्य करते हैं। यह कथन नंदी की अपेक्षा अनुयोग द्वार सूत्र के बारे में अधिक सत्य है। नंदीसूत्र में तो सिर्फ ज्ञान का ही विवेचन है, लेकिन अनुयोग द्वार में आवश्यक सूत्र की व्याख्या के माध्यम से प्रायः सभी आगमों के मूलभूत प्रतिपाद्य सिद्धांतों का स्वरूप समझाते हुए अवशिष्ट पारिभाषिक शब्दों का स्पष्टीकरण कर दिया गया है, जो आगमों के अध्ययन के लिए आवश्यक एवं अनिवार्य है एवं आगमों में यत्र तत्र सर्वत्र प्रयुक्त होते रहते हैं। अनुयोग द्वार को समझ लेने के बाद शायद ही आगमगत कोई पारिभाषिक शब्द रह जाता हो, जिसे जानने में पाठक को कोई असुविधा हो। यह सूत्र लक्षण कोष की उपयोगिता प्रकट करता है और आवश्यकता की पूर्ति करता है।

सामान्य रूप में चूलिका सूत्रों की विशेषताओं को बतलाने के अनन्तर अब क्रमशः नंदी और अनुयोग द्वार सूत्र के वर्ण्य विषयों का संकेत करते हैं।

१. **नंदीसूत्र**– इसमें मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय और केवल ज्ञान इन पाँचों ज्ञानों का विस्तार से वर्णन किया गया है। निर्युक्तिसार आदि आचार्यों ने नन्दी शब्द को ज्ञान का ही पर्याय माना है। प्रारंभिक पचास गाथाएँ मंगलाचरणात्मक है। इनमें सर्वप्रथम सूत्रकार ने भगवान अर्हत् महावीर को नमस्कार किया है। तदन्तर जैन संघ, चौबीस जिन, ग्यारह गणधर, जिन प्रवचन तथा सुधर्म आदि स्थविरों को स्तुतिपूर्वक

प्रणाम किया है। इसी प्रसंग में स्थविरावली—गुरु शिष्य परंपरादि है, जो कल्पसूत्र की स्थविरावली के समान है। सामान्य से पाँचों ज्ञानों के नाम बताने के बाद उनके प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो भेद किए हैं। प्रत्यक्ष के पुनः इंद्रिय प्रत्यक्ष व अनिन्द्रिय प्रत्यक्ष ये दो भेद किए हैं। इंद्रिय प्रत्यक्ष में स्पर्शन, रसन आदि पाँच इंद्रियों से होने वाले ज्ञान का समावेश है। जैन कथा शास्त्र में इस प्रकार के ज्ञान को सांख्य व्यावहारिक प्रत्यक्ष कहा है। नोइन्द्रिय का अर्थ है—इंद्रिय भिन्न आत्मा। आत्म साक्षीजन्य ज्ञान-नोइंद्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान है। इसमें अवधि, मनःपर्यय और केवल ज्ञान का समावेश होता है। परोक्ष ज्ञान दो प्रकार का है : आभिनिबोधिक (मति) और श्रुत। इस प्रकार संक्षेप में ज्ञान के भेदों का उल्लेख करने के बाद प्रत्यक्ष वर्णगत अवधि, मनःपर्यय और केवल ज्ञान तथा इसके अनन्तर परोक्ष वर्गगत आभिनिबोधिक (मति) और श्रुत इस क्रम से प्रत्येक ज्ञान का सविस्तार विवेचन किया है। उसकी जानकारी आगे दी जा रही है।

प्रस्तुत सूत्र की रचना गद्य-पद्य मिश्रित है तथा इसके प्रतिपादित विषयों के आधार हैं—प्रज्ञापना सूत्र, भगवती सूत्र और समवायांग सूत्र।

वर्णन का प्रवाहक्रम इस प्रकार है—मंगलाचरण, मंगलाचरण के प्रसंग में स्थविरावली, श्रोता, श्रोताओं के भेद और उनके लिए दृष्टान्त, सभा, ज्ञानवाद की सामान्य भूमिका (विषय प्रवेश), अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान, केवलज्ञान, आभिनिबोधिक (मति) ज्ञान, औत्पातिकी, वैनयिकी कर्मजा और पारिणामिकी इन चार प्रकार की बुद्धियों, श्रुतनिर्मित मतिज्ञान और श्रुतज्ञान का वर्णन।

ज्ञानवाद की सामान्य भूमिका में संक्षेप से मुनि आदि पाँचों ज्ञानों व उनके भेदों की जानकारी कराई है। इसके बाद प्रत्यक्ष ज्ञान के पहले भेद अवधिज्ञान का लक्षण, उसके भेद, पात्र, स्वामी आदि का विवेचन है। इसी प्रकार मनः पर्यय ज्ञान के विचार प्रसंग में भी लक्षण, भेद, स्वामी आदि को बताते हुए द्रव, क्षेत्र, काल और भाव इन चार दृष्टियों से कुछ विशेष विचार किया गया है। मति ज्ञान के वर्णन में श्रुतनिश्रित और अश्रुतनिश्रित ये दो मुख्य भेद करके पहले अश्रुत-निश्रित के औत्पातिकी बुद्धि आदि चार भेदों का विचार किया है। अनन्तर श्रुतनिश्रित के अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा ये चार मुख्य भेद करके इनका सूक्ष्म, तलस्पर्शी विचार करके तीन सौ छत्तीस प्रकार के मतिज्ञानों का वर्णन किया है। श्रुतज्ञान का लक्षण बतलाने के बाद उसके अक्षर श्रुत, अनक्षर श्रुत आदि चौदह भेदों को आधार बनाकर श्रुतज्ञान की सूक्ष्म चर्चा की है। इसी प्रसंग में अंगप्रविष्ट और अनंग प्रविष्ट आगमों का परिचय दिया है।

नंदी सूत्र के वर्ण्य विषय का परिचय देने के बाद अब क्रम प्राप्त अनुयोग द्वार सूत्र का परिचय देते हैं।

२. अनुयोग द्वार सूत्र– अणु अर्थात् संक्षिप्त सूत्र को महान अर्थ के साथ जोड़ना अनुयोग है। अथवा अध्ययन के अर्थ व्याख्यान विधि को अनुयोग कहते हैं। अनुयोग भाष्य, विभाषा, वार्तिक आदि एकार्थक शब्द है। अनुयोग द्वार सूत्र में आवश्यक सूत्र का व्याख्यान है तथा प्रसंगों पात निक्षेप[1] पद्धति को आधार बनाकर जैन परंपरा व आगमों के कुछ एक दूसरे मूलभूत विषयों का भी विवेचन किया गया है। प्रस्तुत सूत्र में जिन विषयों का व्याख्यान किया गया है, उनके नाम इस प्रकार हैं– .

आवश्यक, श्रुतस्कंध और अध्ययन के विविध निक्षेप, अनुयोग के उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय ये चार, द्वार, उनका विवरण, आनुपूर्वी का अधिकार, समवतार का अधिकार आदि अनुगम का अधिकार नाम के दस भेद, औदयिक आदि भाव, पाँच प्रकार के शरीर, गर्भज मनुष्यों की संख्या, सप्त नय, संख्यात, असंख्यात व अनन्त के भेद प्रभेद, श्रमण का स्वरूप और उनके लिए विविध उपमाएँ निर्युक्ति अनुगम के तीन भेद सामायिक विषयक प्रश्नोत्तर आदि। इन विषयों के वर्णन में जैन न्याय शास्त्र के बीज छिपे हुए हैं। उनका आधार लेकर उत्तरवर्ती काल में आचार्यों ने जैन न्याय को महान वटवृक्ष का रूप दे दिया और उन विद्वानों का समाधान किया, जो तार्किक दृष्टि से प्रत्येक वस्तु की कसौटी करके निर्णय पर पहुँचाते हैं।

सूत्र का ग्रंथमान लगभग दो हजार श्लोक प्रमाण है। गद्य शैली में लिखित इस सूत्र में यत्र तत्र कुछ गाथाएँ भी हैं।

इस प्रकार सर्वमान्य अंगबाह्य आगमों का परिचय देने के अनन्तर अवशिष्ट रहे उन ग्रंथों का परिचय देते हैं, जो आगम रूप में मान्य एवं साहित्य के अंग हैं।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक परंपरा में पूर्वोक्त अंगबाह्य आगमों के अतिरिक्त निम्नलिखित ग्रंथों को भी आगम के रूप में मान्य किया गया है–

१. महानिशीथ, २. जीतकल्प, ३. पिण्डनिर्युक्ति तथा ओघनिर्युक्ति, ४. चतुःशरण, ५. आतुरप्रत्याख्यान, ६. महाप्रत्याख्यान, ७. भक्त परिज्ञा, ८. तंदुल वैचारिक, ९. संस्तारक, १०. गच्छाचार, ११. गणिविद्या, १२. देवेन्द्रस्तव और १३. मरण समाधि।

इनमें से प्रथम दो को छेद सूत्र वर्ग में तीसरे को मूलसूत्र वर्ग में और शेष चौथे से लेकर तेरहवें तक को प्रकीर्णक[2] वर्ग में मान्य किया गया है। इनका परिचय इस प्रकार है–

---

१. निक्षेप, विभिन्न दृष्टियों से किसी वस्तु का विश्लेषण करना।

२. *वर्तमान में प्रकीर्णकों की संख्या मुख्यतया दस मानी जाती है। इन दस नामों में भी एकरूपता* नहीं है। कोई मरण समाधि और गच्छाचार के स्थान पर चंद्रवेद्यक और वीरस्तव को गिनते हैं तो कोई देवेंद्रस्तव और वीरस्तव को मिला देते हैं तथा संस्तारक को नहीं गिनते, किन्तु इनके स्थान पर गच्छाचार और मरण समाधि का उल्लेख करते हैं।

१. महानिशीथ– भाषा और विषय की दृष्टि से इसकी गणना प्राचीन आगमों में नहीं की जा सकती। इसमें यत्र तत्र आगमेतर ग्रंथों के भी उल्लेख मिलते हैं। इसमें छह अध्ययन और दो चूलिकाएँ हैं। ग्रंथमान ४५५४ श्लोक प्रमाण है।

प्रथम अध्ययन शल्योद्धरण में पाप रूपी शल्य को निन्दा एवं आलोचना करने की दृष्टि से अठारह पापस्थान तक बताए हैं। दूसरे अध्ययन में कर्मविपाक का वर्णन करते हुए पापों की आलोचना पर प्रकाश डाला है। तीसरे व चौथे अध्ययन में कुशील साधुओं से दूर रहने का उपदेश है। पाँचवें नवनीत सार[1] अध्ययन में गच्छ के स्वरूप का विवेचन है। छठे अध्ययन में प्रायश्चित के दस व आलोचना के चार भेदों का विवेचन है।

चूलिकाओं में सुसढ आदि की कथाएँ हैं। यहाँ सतीप्रथा का और राजा के पुत्रहीन होने पर कन्या को राजगद्दी पर बैठाने का उल्लेख है।

२. जीतकल्प– इस ग्रंथ में निर्ग्रंथ-निर्ग्रंथिनियों के भिन्न-भिन्न अपराध स्थान विषयक प्रायश्चित का जीत व्यवहार[2] के आधार पर निरूपण किया गया है। इसमें कुल एक सौ तीन गाथाएँ हैं और इसके रचयिता प्रसिद्ध भाष्यकार जिनभद्रगणि क्षमा श्रमण है।

प्रायश्चित के निम्नलिखित दस भेद हैं–

१. आलोचना, २. प्रतिक्रमण, ३. उभय, ४. विवेक, ५. व्युत्सर्ग, ६. तप, ७. छेद, ८. मूल, ९. अनवस्थाप्य और १०. पारांचिक। इन प्रायश्चितों के प्रसंग में यह बतलाया गया है कि किस दोष के लिए कौन सा प्रायश्चित विधेय है। प्रत्येक प्रायश्चित के प्रसंग में उन क्रियाओं व दोषों के नाम गिनाए हैं। अंत में उपसंहार करते हुए यह बताया गया है कि इन दस प्रायश्चितों में से अंतिम दो प्रायश्चित–अनवस्थाप्य व पारांचिक चतुर्दश पूर्वधर भद्रबाहु तक ही अस्तित्व भेद हैं और उसके बाद उनका विच्छेद हो गया।

३. पिण्डनिर्युक्ति और ओघनिर्युक्ति– इन दोनों को मूलसूत्र माना जाता है। कोई-कोई ओघनिर्युक्ति को और कोई दोनों को मानते हैं। पिण्ड का अर्थ है–भोजन। पिण्डनिर्युक्ति में पिण्डनिरूपण उद्गम दोष, उत्पादन दोष, एषणा दोष और ग्रासएषणा दोष का निरूपण किया गया है। इसमें छह सौ इकहत्तर गाथाएँ हैं। निर्युक्ति और भाष्य की गाथाएँ एक दूसरी में मिल गई हैं। दशवैकालिक सूत्र के पाँचवें अध्ययन का

---

१. गच्छाचार प्रकीर्णक का यह अध्ययन आधार है।

२. जो व्यवहार परंपरा से प्राप्त हो एवं श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा अनुमत हो; वह जीत व्यवहार कहलाता है।

नाम पिण्डेषणा है। इस अध्ययन पर लिखी गई निर्युक्ति के विस्तृत हो जाने के कारण पिण्डनिर्युक्ति के नाम से एक अलग ही ग्रंथ स्वीकार कर लिया गया है। इसके रचयिता भद्रबाहु हैं।

पिण्डनिर्युक्ति के आठ अधिकार हैं—उद्गम, उत्पादन, एषणा, संयोजना, प्रमाण, अंगार, धूम और कारण। अधिकार के शीर्षक के अनुसार अपने-अपने विषय का उनमें वर्णन किया गया है।

ओघनिर्युक्ति में साधु संबंधी नियम और आचार-विचार का प्रतिपादन किया गया है। बीच-बीच में अनेक कथाएँ हैं। इसीलिए कोई-कोई छेद सूत्रों में भी इसकी गणना करते हैं। इसमें आठ सौ ग्यारह गाथाएँ हैं। निर्युक्ति और भाष्य की गाथाएँ आपस में मिल गई हैं। इसके कर्ता भी भद्रबाहु हैं।

इस ग्रंथ में प्रतिलेखन द्वार, पिण्डद्वार, उपाधि निरूपण, अनायतन वर्जन, प्रतिसेवना द्वार, आलोचना द्वार और विशुद्धि द्वार की प्ररूपणा की गई है। जैन श्रमण संघ के इतिहास का संकलन करने की दृष्टि से यह ग्रंथ महत्वपूर्ण है।

४. **चतुःशरण**– इसका दूसरा नाम कुशलानुबंधी अध्ययन है। इसमें तिरसठ गाथाएँ हैं। इसमें अरिहंत सिद्ध, साधु और केवली भाषित धर्म इन चार को शरण माना गया है। इसीलिए इसे चतुःशरण कहा गया है। प्रारंभ में षडावश्यक की चर्चा है। तदन्तर आचार्य ने कुशलानुबंधी अध्ययन की रचना का संकल्प किया है और उन्होंने चतुःशरण को कुशल हेतु बताते हुए चार शरणों का नामोल्लेख किया है।

५. **आतुर प्रत्याख्यान**– मरण से संबंधित होने के कारण इसे अन्तकाल प्रकीर्णक कहा जाता है। इसे बृहदातुर प्रत्याख्यान भी कहते हैं। इसमें सत्तर गाथाएँ हैं। दसवीं गाथा के बाद कुछ भाग गद्य में हैं। इस प्रकीर्णक मे मुख्यतया बालमरण एवं पण्डित मरण का विवेचन है। मारणान्तिक प्रत्याख्यान की उपादेयता बताते हुए इसमें कहा है कि प्रत्याख्यानपूर्वक मरने वाला शाश्वत स्थान को-मोक्ष को प्राप्त करता है।

६. **महाप्रत्याख्यान**– इस प्रकीर्णक में प्रत्याख्यान– त्याग का विस्तृत व्याख्यान किया गया है। प्रारंभ में तीर्थंकारों, जिनों, सिद्धों एवं संयतों को प्रणाम किया है। संसार भ्रमण, पंडित मरण, पंच महाव्रत, वैराग्य, आलोचना, व्युत्सर्जन आदि पर प्रकाश डालने के बाद अंत में बताया है कि धीर की भी मृत्यु होती है और का पुरुष की भी इन दोनों में से धीरत्वपूर्ण मृत्यु ही श्रेष्ठ है। प्रत्याख्यान का सुविहित व सम्यक पालन करने वाला मरकर या तो वैमानिक देव होता है या सिद्ध पद प्राप्त करता है। इसमें एक सौ बयालीस गाथाएँ हैं।

७. भक्त परिज्ञा– इसमें एक सौ बहत्तर गाथाएँ हैं। इस प्रकीर्णक में भक्त परिज्ञा नामक मरण का विवेचन है। ग्रंथकार ने, अभ्युद्यत मरण से आराधना सफल होती है, यह बताते हुए अभ्युद्यत मरण के तीन भेद किए हैं–भक्त परिज्ञा, इंगिनी पादोपगमन। भक्त परिज्ञा मरण दो प्रकार का है–सविचार और अविचार। भक्त परिज्ञा मरण के विवेचन में आचार्य ने बताया है कि दर्शन भ्रष्ट, श्रद्धा भ्रष्ट को मुक्ति प्राप्त नहीं होती। वह उसकी प्राप्ति का अधिकारी नहीं है।

८. तंदुल वैचारिक– इसमें एक सौ उनतालीस गाथाएँ हैं। बीच-बीच में कुछ सूत्र भी हैं। इसमें विस्तार से गर्भ विषयक विचार किया गया है। सौ वर्ष की आयु वाला पुरुष कितना तंदुल, चावल खाता है ? इसका संख्या पूर्वक विशेष विचार करने के कारण उपलक्षण से इसको तंदुल वैचारिक कहा जाता है। गर्भ से उत्पन्न प्राणी की निम्नलिखित दस अवस्थाएँ होती हैं–

१. बाला, २. क्रीडा, ३. मंदा, ४. बला, ५. प्रज्ञा, ६. दायनी, ७. प्रपंचा, ८. प्राग्भारा, ९. मुन्मुखी और १०. शायिनी। प्रत्येक अवस्था दस वर्ष की होती है। ग्रंथकार ने इन दस अवस्थाओं का वर्णन किया है। युगलधर्मियों के अंग प्रत्यंगों का साहित्यिक भाषा में वर्णन करते हुए संहनन व संस्थान का विवेचन किया है। सौ वर्ष जीने वाला मनुष्य अपने जीवनकाल में साढ़े बाईस वाह तंदुल, साढ़े पाँच घड़े मूँग, चौबीस सौ आढक स्नेह याने घी तेल और छत्तीस हजार पल नमक खाता है। अन्त में बताया है कि हमारा यह शरीर जन्म, जरा, मरण एवं वेदनाओं से भरा हुआ एक प्रकार का शकट (गाड़ी) है। इसे पाकर ऐसा कार्य करो जिससे समस्त दुःखों से मुक्ति मिले।

९. संस्तारक– इसमें मृत्यु के समय अपनाने योग्य संस्तारक याने तृण आदि की शैया का महत्व वर्णित है। संस्तारक पर आसीन होकर पण्डित मरण प्राप्त करने वाला मुनि मुक्ति का वरण करता है। इस प्रकार के अनेक मुनियों के दृष्टान्त प्रस्तुत प्रकीर्णक में दिए गए हैं। इसमें एक सौ तेईस गाथाएँ हैं।

१०. गच्छाचार– इसमें गच्छ अर्थात् समूह में रहने वाले साधु-साध्वियों के आचार का वर्णन है। जिस गच्छ में दान, शील, तप और भावना इन चार प्रकार के धर्मों का आचरण करने वाले गीतार्थ मुनि अधिक हो, वह सुगच्छ है और ऐसे गच्छ में रहने से महा निर्जरा होती है एवं सारणा, वारणा, प्रेरणा आदि से नए दोषों की उत्पत्ति रुक सकती है। साध्वियों को किस प्रकार शयन करना चाहिए ? इसका विचार करते

हुए बताया है कि जिस गच्छ में स्थविरा वृद्धा साध्वी के बाद युवती साध्वी और युवती के बाद स्थविरा, इस प्रकार सोने की व्यवस्था हो, उसे ज्ञान चारित्र का आधारभूत श्रेष्ठ गच्छ समझना चाहिए। इस प्रकीर्णक में एक सौ सैंतीस गाथाएँ हैं और इसे महानिशीथ, बृहतकल्प और व्यवहार सूत्र के आधार पर बनाया गया है।

११. गणिविद्या– यह गणित विद्या अर्थात् ज्योतिष विद्या का ग्रंथ है। इसमें इन नौ विषयों (नव बल) का विवेचन है—१. दिवस, २. तिथि, ३. नक्षत्र, ४. करण, ५. ग्रहदिवस, ६. मुहूर्त, ७. शकुन, ८. लाभ, ९. निमित्त। अंत में बताया है कि दिवस से तिथि, तिथि से नक्षत्र, नक्षत्र से करण, करण से ग्रह दिवस, ग्रह दिवस से मुहूर्त, मुहूर्त से शकुन, शकुन से लग्न और लग्न से निमित्त बलवान होता है। इसमें बयासी गाथाएँ हैं।

१२. देवेन्द्रस्तव– नाम के अनुसार इसमें बत्तीस देवेन्द्रों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। प्रारंभ में कोई गृहस्थ ऋषभादि तीर्थंकरों को वर्णन करके अंतिम तीर्थंकर महावीर की स्तुति करता है। बत्तीस देवेंद्रों से पूजित महावीर स्वामी की स्तुति करके वह अपनी पत्नी के सामने उन इंद्रों की महिमा का वर्णन करता है। इस वर्णन में निम्न पहलुओं पर प्रकाश डाला गया है—इंद्रों के नाम, आवास, स्थिति, भवन, विमान, नगर, परिवार, श्वासोच्छवास, अवधिज्ञान आदि। इसमें तीन सौ सात गाथाएँ हैं।

१३. मरण समाधि– इसमें छह सौ तिरसठ गाथाएँ हैं। समाधि से मरण कैसे होता है ? यह उसकी विधिपूर्वक बताया है। आराधना, आराधक, अनाराधक, परिकर्म से आलोचना इत्यादि का स्वरूप, सूरिगुण, शल्योद्धार, ज्ञान चारित्र का उद्यम, संलेखना विधि, कषाय, प्रमादादि त्याग, प्रत्याख्यान, पण्डितमरण, अभ्यद्युत मरण, क्षमापना, संस्तारक, अनित्यादि भावना, मोक्षसुख की अपूर्वता, ध्यान आदि अनेक विषयों का इसमें समावेश किया गया है। अंत में बताया गया है कि यह प्रकीर्णक मरणविभक्ति, मरण विशोधि, मरणसमाधि, संलेखना श्रुत, भक्तपरिज्ञा, आउर पच्चक्खाण, महा प्रत्याख्यान और आराधना इन आठ प्राचीन श्रुत ग्रंथों के आधार पर निर्मित हुआ है। इसका दूसरा नाम मरणविभक्ति भी है। अनेक प्रकार के परीषह-कष्ट सहन कर पण्डित मरण पूर्वक मुक्ति प्राप्त करने वाले अनेक महापुरुषों के यत्र तत्र दृष्टान्त भी दिए गए हैं।

इन सभी सूत्रों के ग्रंथों का ग्रंथमान हजारों श्लोक प्रमाण है। सबसे अधिक टीकाएँ दशवैकालिक, कल्पसूत्र तथा आवश्यक सूत्र पर लिखी गई है। टीकाओं की दृष्टि से वरीयता के क्रम में प्रथम कल्पसूत्र, द्वितीय आवश्यक सूत्र, तृतीय उत्तराध्ययन और चतुर्थ दशवैकालिक का स्थान है। अनेक पाश्चात्य विद्वानों द्वारा कितने ही आगमों के वृहद प्रस्तावनाओं के साथ अंग्रेजी, जर्मन आदि भाषाओं में अनुवाद भी किए गए हैं। जैसे कि प्रो. ई. लायमन ने औपपातिक सूत्र का अपनी विद्वतापूर्ण प्रस्तावना के साथ अनुवाद किया, जो सन् १८८३ में प्रकाशित हुआ। जे.एफ. कोल स्टुट गार्ट द्वारा १९३७ में सूर्य प्रज्ञप्ति ग्रंथ मूल रोमन लिपि में प्रकाशित हुआ। डॉ. जेकोबी द्वारा किया गया उत्तराध्ययन का अंग्रेजी अनुवाद सन् १८९५ में सेक्रेड बुक्स ऑफ ईस्ट सिरीज खण्ड ४५ में और उसके बाद जाल शार्पेण्टियर की शोधपूर्ण अंग्रेजी प्रस्तावना के साथ उत्तराध्ययन का संशोधित संस्करण पुनः सन् १९२२ में प्रकाशित हुआ। डॉ. शूब्रिग द्वारा दशवैकालिक मूल का एवं डॉ. लायमन द्वारा भद्रबाहु कृत निर्युक्ति के साथ अनुवाद किया गया। डॉ. जेकोबी द्वारा किया गया कल्पसूत्र का अंग्रेजी अनुवाद सेंक्रेड बुक्स ऑफ ईस्ट खंड २२ में प्रकाशित हुआ। डॉ. शूब्रिंग द्वारा सन् १९०५ में जर्मन टिप्पणी के साथ वृहतकल्प का संशोधित संस्करण प्रकाशित किया गया। इसी प्रकार व्यवहार सूत्र एवं निशीथ सूत्र का भी डॉ. शूब्रिंग द्वारा सन् १९१८ में अनुवाद किया गया। महानिशीथ का आलोचनात्मक अध्ययन डॉ. शूब्रिंग द्वारा सन् १९१८ में प्रकाशित हुआ तथा जीतकल्प का प्रो. लायमन ने अनुवाद किया।

आगमों के इस संक्षिप्त परिचय में प्रत्येक सूत्र की यथासंभव सारगर्भित जानकारी देने के बाद अब आगामी प्रकरण में आगमों के व्याख्या ग्रंथों का परिचय प्रस्तुत करते हैं।

¤

अध्याय ८

आगमिक व्याख्या साहित्य

इस प्रकरण में आगमिक व्याख्या साहित्य का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत करते हैं।

साहित्य की आत्मा है भाव और भावों की अभिव्यक्ति के साधन हैं शब्द। साहित्य में शब्दों का नहीं, भावों का महत्व है। भाव शून्य शब्द चमत्कार उत्पन्न कर सकते हैं, लेकिन जब तक उनमें भाव चेतना का संचार नहीं होता, तब तक उनका अपना कुछ भी महत्व नहीं है। माना कि साहित्य शब्दों की देन है, शब्दों का पुंज है और शब्द न हों तो साहित्य का सृजन नहीं हो सकता। शाब्दिक वाहन भाव विहार के साधन हैं, लेकिन शब्दों की संख्या सीमित है और उनकी गणना भी की जा सकती है, किन्तु उनमें गर्भित भाव असीम है। उनका उद्‌घाटन होता है, विशेष रूप से विवेचन करने पर, विभिन्न दृष्टियों से विश्लेषण करने पर।

यही कारण है कि साहित्य के क्षेत्र में विवेचन को प्रमुख स्थान प्राप्त हो रहा है। सर्वानुमति से यह स्वीकार किया गया है कि ग्रंथगत रहस्योद्‌घाटन के लिए उसका विविध आयामी विश्लेषण व्याख्या होना आवश्यक है। जब तक ग्रंथगत भाव वैशिष्ट्य की प्रामाणिक व्याख्या नहीं होती, विवेचन एवं विश्लेषण नहीं किया जाता, तब तक ग्रंथ में विद्यमान और उसके प्रणेता के विचारों की अनेक महत्वपूर्ण बातें अज्ञात रह जाती है। यह दृष्टिकोण जितना वर्तमानकालीन मौलिक ग्रंथों के लिए चरितार्थ होता है, उससे भी अधिक प्राचीन साहित्यिक ग्रंथों के लिए भी चरितार्थ होता है, क्योंकि पुरातन ग्रंथों की रचना शैली सूत्रात्मक है। तत्तत् ग्रंथ में उनके प्रणेताओं ने अपने विचारों को, भावों को अर्थ गांभीर्य युक्त पद्धति द्वारा संक्षेप में व्यक्त किया है। भारत का प्राचीन वाङ्मय विशेषतः सूत्रात्मक है। अतएव उसके रहस्योद्‌घाटन के लिए व्याख्या ग्रंथों की रचना होना अनिवार्य एवं आवश्यक तो है ही। यही कारण है कि व्याख्या साहित्य का निर्माण करना भारतीय साहित्य साधनों की परंपरा रही है।

♣ व्याख्या के प्रकार

व्याख्या साहित्य के सृजन की आवश्यकता का ऊपर उल्लेख किया गया है। इसके अतिरिक्त व्याख्या ग्रंथों के निर्माण से दो प्रयोजन सिद्ध होते हैं। प्रथम यह कि ग्रंथगत भावों के प्रगतिकरण से जनसाधारण सत्य को समझने में समर्थ होता है और

द्वितीय यह कि ग्रंथ के अभीष्ट अर्थ का विश्लेषण करने में व्याख्याकार को असीम आत्मोल्लास की अनुभूति होने के साथ-साथ प्रसंगानुकूल अपनी मान्यता, बौद्धिक प्रगल्भता को प्रस्तुत करने का अवसर मिलता है । संक्षेप में कहा जाए तो व्याख्याकार का इस प्रकार का श्रम स्वपर एवं उभय को उपयोगी सिद्ध होता है ।

व्याख्या और सरिता में समान रूपता है । जैसे सरिता स्रोत से प्रारंभ होकर क्रमशः क्षेत्र विस्तार करती हुई नए-नए जल प्रवाहों को अपने में समाहित करती हुई जनसाधारण को अपनी अमीधारा से संतुष्ट एवं शुष्क धारा को शस्य श्यामला भूमि में रूपान्तरित करती हुई सागर का रूप ले लेती है, वैसे ही व्याख्या व्याख्येय ग्रंथ के विशेष एवं पारिभाषिक शब्दों के अर्थ उनकी परिभाषाओं के स्रोत से प्रारंभ होकर युगानुरूप विवेचन प्रक्रिया के अनुगमन द्वारा नए-नए रूपों को धारण करके ग्रंथगत अभिछेद से पाठकों को परिचित कराते हुए अपनी पूर्ण विकास अवस्था को प्राप्त होती है । अर्थात् विशेष एवं पारिभाषिक शब्दों का लाक्षणिक अर्थ व्याख्या का प्रारंभ है और समग्र भावों का विवेचन करके ग्रंथ के अन्तर रहस्य को यथातथ्य रूप में पाठक के समक्ष उपस्थित कर देना उसकी पूर्णता है ।

सभी प्राचीन भारतीय साहित्यकारों ने व्याख्या का यही क्रम विधान अंगीकार करके क्रमिक विकास स्तरों का नामकरण किया है—१. निर्युक्ति, २. भाष्य और ३. टीका ।

निर्युक्ति शब्दार्थ रूप होती है । याने ग्रंथ गत विशिष्ट शब्दों का सरल, सुबोध भाषा में अर्थ प्रस्तुत कर देना निर्युक्ति है, जिसे आज की भाषा में मीनिंग या अर्थ कहते हैं ।

भाष्य में शब्दार्थ के अतिरिक्त भावों का भी विश्लेषण किया जाता है, लेकिन इसकी रचना विधा पद्यात्मक होने से छन्द के नियमों का भी ध्यान रखना पड़ता है । इस कारण व्याख्येय ग्रंथ की भावाभिव्यंजना में पूर्णता में कुछ न कुछ न्यूनता रह जाती है । अतः विशेष स्पष्टीकरण के लिए कुछ न कुछ और अपेक्षा रहती है ।

चूर्णि और टीकाएँ भी भावों का ही विश्लेषण करती हैं, लेकिन उनमें जो अन्तर है, उसका यथास्थान आगे संकेत किया जा रहा है ।

संग्रहणी भी व्याख्या का एक रूप है, जिसमें ग्रंथ के विषय का संक्षेप में परिचय दिया जाता है । वार्तमानिक शिक्षा प्रणाली में प्रचलित सारांश टिप्पणी (नोट्स) आदि संग्रहणी के अपर नाम हैं ।

उक्त व्याख्या प्रकारों के अतिरिक्त उत्तरवर्तीकाल में जैसे-जैसे भाषाओं में परिवर्तन आता गया और लोक भाषाओं के रूप में अपभ्रंश, गुजराती, अवधी, मैथिली,

ब्रज, राजस्थानी आदि रूप निश्चित होते गए, तदनुकूल उन-उन भाषाओं में भी प्रभूत मात्रा में व्याख्या साहित्य का निर्माण हुआ। आज भारतीय भाषाओं में हिन्दी का सर्वोपरि स्थान है। उसमें भी प्राचीन ग्रंथों की व्याख्याएँ लिखी गईं और लिखी जा रही हैं। उनमें अनुवाद की मुख्यता है, लेकिन साधारण पाठक के लिए अनुवाद भी महत्वपूर्ण है, अतः उसकी भी उपेक्षा नहीं की जा सकती। क्योंकि व्याख्या का मूल उद्देश्य ग्रंथगत आशय को स्पष्ट करना है, पाठकों को ग्रंथ के हार्द को समझकर उनकी जिज्ञासा को शान्त करना है। अतः व्याख्या युगानुकूल किसी भी प्रचलित भाषा में हो सकती है, चाहे फिर वह भाषा संस्कृत हो, प्राकृत हो, हिन्दी हो, अंग्रेजी हो या अन्य कोई भी भाषा हो।

♣ व्याख्या के प्रकारों का अभिधेय

व्याख्या के प्रकारों में निर्युक्ति का स्थान सर्वप्रथम है। निर्युक्तियों के मूलग्रंथ के प्रत्येक पद का व्याख्यान न किया जाकर विशेष रूप से पारिभाषिक एवं कठिन शब्दों का व्याख्यान किया जाता है। इनकी व्याख्यान शैली निक्षेप पद्धति रूप है। इस पद्धति में किसी शब्द या पद के संभावित अनेक अर्थ करके उनमें से अप्रस्तुतार्थ का निराकरण और प्रस्तुत अर्थ का ग्रहण किया जाता है। व्याख्यात्मक साहित्य लिखने की प्राचीन परंपरा में इस विधा का अधिक उपयोग देखने में आता है। जैसे कि वैदिक पारिभाषिक शब्दों की व्याख्या करने के लिए महर्षि भारक ने निघंटु भाष्य रूप निरूक्त लिखा।

जैन न्याय शास्त्र में भी इस पद्धति का विशेष महत्व है और निर्युक्तिकार भद्रबाहुस्वामी ने निर्युक्ति का प्रयोजन बताते हुए इस पद्धति को सर्वाधिक उपयुक्त बताया है। उन्होंने आवश्यक निर्युक्ति गाथा में स्पष्ट किया है कि प्रत्येक शब्द अनेकार्थक होता है। उसमें भी यथाप्रसंग कौन सा अर्थ उपयुक्त है और भगवान महावीर के उपदेश के समय कौन सा अर्थ किस शब्द से संबंधित रहा आदि बातों पर दृष्टि रखते हुए सम्यक रूप से अर्थ निर्णय करना और उसका मूलसूत्र के शब्दों के साथ संबंध जोड़ना निर्युक्ति का प्रयोजन है। निर्युक्ति की रचना शैली पद्यात्मक है।

निर्युक्तियों की रचना, व्याख्यान शैली, गूढ़ और संकोचशील है, जिससे किसी विषय का जितने विस्तार से विचार होना चाहिए, उसका उनमें अभाव है। उनको अनेक बातें बिना आगे की व्याख्याओं के समझ में नहीं आती। अतः इन निर्युक्तिगत गूढ़ार्थों को प्रकट रूप में प्रस्तुत करने के लिए उत्तरवर्ती काल में जो पद्यात्मक विस्तृत व्याख्याएँ की गई, वे भाष्य के रूप में प्रसिद्ध हुईं। भाष्यों में निर्युक्तियों के गूढ़ अर्थ की अभिव्यक्ति के साथ-साथ यत्किंचित् मूल ग्रंथगत भावों को प्रकट किया जाता है।

व्याख्या की इस विधा का नामकरण भाष्य किया गया है। भाष्यों की रचना शैली भी पद्यात्मक है।

निर्युक्ति और भाष्य के अनन्तर व्याख्या विधा ने एक और नया रूप लिया। निर्युक्ति और भाष्य की भाषा प्राकृत एवं शैली पद्यात्मक रही। किन्तु उन दोनों में भी मूलग्रंथ का भाव जब पूर्णरूपेण स्पष्टतया व्यक्त न हो सका, तब उत्तरवर्ती काल के आचार्यों ने ग्रंथगत भाव को सर्वात्मना स्पष्ट करने के लिए गद्यात्मक व्याख्या विधा का आश्रय लिया। यह व्याख्या प्राकृत में या संस्कृत मिश्रित प्राकृत में होती थी। यह व्याख्या प्रकार पूर्ववर्ती व्याख्या विधाओं से भिन्न रूपात्मक था। अतः इसका नामकरण चूर्णि किया गया।

यद्यपि साहित्य निर्माण का आधार भाषा है, लेकिन ऐसा कोई बंधन नहीं है कि अमुक भाषा में ही साहित्य की रचना की जाए। समयानुसार भाषाओं के रूप में परिवर्तन होता रहता है। अतः जब साहित्य के क्षेत्र में संस्कृत भाषा प्रमुख मानी जाने लगी, तब तत्कालीन आचार्यों ने प्राचीन आगम ग्रंथों की जो शुद्ध, परिष्कृत संस्कृत भाषा में गद्यात्मक व्याख्याएँ लिखी, वे टीका के नाम से प्रसिद्ध हुई। वैदिक साहित्य तो मूलतः संस्कृत भाषा में निबद्ध हुआ। अतः उस पर लिखे गए टीका ग्रंथों में शाब्दिक स्पष्टता के अतिरिक्त भावगत विचार के लिए विशेष अवकाश नहीं है, लेकिन जैन आगमों की भाषा प्राकृत है, उन पर लिखी गई निर्युक्तियाँ, भाष्य भी प्राकृत पद्य में है तथा चूर्णियाँ प्राकृत संस्कृत मिश्रित भाषा में है। अतः जैन टीकाकारों ने प्राचीन निर्युक्तियों, भाष्यों और चूर्णियों का उपयोग करके संस्कृत भाषायी रूप निश्चित किए और उनमें निहित भावों को प्रांजल भाषा में उपस्थित कर विद्वद् एवं सामान्य जन ग्राह्य बनाया।

जैन आगमों पर निर्युक्ति आदि उक्त सभी प्रकार के व्याख्यात्मक साहित्य का निर्माण हुआ है, जिसके फलस्वरूप जैन साहित्य की श्रीवृद्धि हुई। सम्मान्य ने उसकी गरिमा को परखा एवं सामान्य जन अध्ययन-अध्यापन, पठन-पाठन की सुविधा प्राप्त कर सका और ग्रंथ की विशेषता को सरलता से समझ सका।

यद्यपि सामयिक भाषा में आगमों पर युगानुरूप निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और संस्कृत टीका ग्रंथ प्रभूत मात्रा में लिखे जा चुके थे और उनमें गद्य, पद्य आदि शैलियों का अनुसरण भी किया गया था और उनमें बहुलता भी हो चुकी थी, लेकिन समयानुसार भाषा प्रवाह में परिवर्तन आने से और उत्तरवर्ती काल में लोकभाषाओं का प्रचार बढ़ने के कारण तथा संस्कृत टीकाओं में सर्वगम्यता न रहने से तत्कालीन आचार्यों ने जनहित को दृष्टि में रखते हुए लोकभाषाओं में सरल, सुबोध टीकाएँ लिखीं। इन व्याख्याओं

का उद्देश्य भी पूर्ववत् आगमों के मूल भावों को स्फुट सूत्र में व्यक्त करने का रहा है। परिणामतः तत्कालीन अपभ्रंश (प्राचीन गुजराती) में बालावबोधों की रचना हुई। इस प्रकार की रचनाओं से राजस्थानी एवं गुजराती बोलियों को जानने वाले आगम प्रेमियों को काफी लाभ मिला। आज का साधारण भाषाविज्ञ भी उन व्याख्याओं को पढ़कर अपनी आगमनिधि का रसास्वादन कर सकता है।

♣ व्याख्या प्रकारों में संकलित आगमों के नाम

व्याख्या प्रकारों का आशय जान लेने के बाद और आगमिक व्याख्याओं का परिचय प्राप्त करने के पूर्व यह जान लेना समुचित होगा कि व्याख्या प्रकारों में से किस आगम की कौन-कौन सी व्याख्याएँ हुई हैं। व्याख्या प्रकार और तद्गत आगमों के नाम इस प्रकार हैं–

१. पांच प्रकार– (निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, संस्कृत टीका और लोकभाषा टीका)
आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, व्यवहार और बृहत कल्पसूत्र।

२. चार प्रकार– (निर्युक्ति, चूर्णि, संस्कृत, टीका और लोकभाषा टीका)
आचारांग, सूत्रकृतांग।
(नियुक्ति, चूर्णि, लोकभाषा टीका)
निशीथ सूत्र
तीन प्रकार–(निर्युक्ति, चूर्णि और लोकभाषा टीका)
दशाश्रुतस्कंध।
(चूर्णि, संस्कृत टीका और लोकभाषा टीका)
नंदीसूत्र, अनुयोगद्वार, जंबूद्वीप, प्रज्ञप्ति।
दो प्रकार– (चूर्णि, संस्कृत टीका)
भगवती, जीवाभिगम सूत्र।
(संस्कृत टीका, लोकभाषा टीका)
स्थानांग, प्रश्नव्याकरण, विपाक सूत्र, औपपातिक, राजप्रश्नीय, निरयावलिका आदि अंतिम पाँच उपांग।
एक प्रकार– संस्कृत टीका।
प्रज्ञापना, चंद्रप्रज्ञप्ति, सूर्य प्रज्ञप्ति।
[वर्गीकरण में कोई त्रुटि हो तो परिमार्जन कर कृपया सूचित करें।]

उक्त व्याख्या प्रकारों में संकलित आगमों की सूची से यह ज्ञात होता है कि

प्रायः सभी आगमों पर व्याख्या ग्रंथ लिखे गए हैं। कई ग्रंथ तो ऐसे हैं, जिन पर अनेक आचार्यों ने व्याख्या ग्रंथ लिखे हैं। लेकिन उनमें भी कल्पसूत्र (दशाश्रुतस्कंध का आठवाँ अध्ययन), आवश्यक सूत्र और उत्तराध्ययन सूत्र की टीकाओं की सूची काफी बड़ी है। इसका कारण यही है कि पर्यूषण पर्व में कल्पसूत्र के वाचन का विशेष प्रचार है तथा आवश्यक सूत्र का संबंध श्रमणचर्या से है एवं उत्तराध्ययन में समग्र जैन सिद्धांतों का सार गर्भित कर दिया गया है। उक्त संकेत का यह आशय नहीं है कि अन्य आगमों पर व्याख्या ग्रंथ लिखे ही नहीं गए। उन पर भी व्याख्या ग्रंथ लिखे गए हैं और यदि उनके ग्रंथमानों का परिमाण देखा जाए तो वह हजारों श्लोक प्रमाण है।

♣ कतिपय प्रमुख व्याख्याकार

पूर्वोक्त व्याख्या प्रकारों में संकलित आगम नामों से यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि प्रत्येक आगम की व्याख्या हुई है, चाहे फिर उसका व्याख्या प्रकार एक हो या एक से अधिक। अतः अब यह जानने की सहज जिज्ञासा होती है कि उन व्याख्याकार विद्वानों के नाम और उनका परिचय क्या है? जिन्होंने साहित्य कोष की श्रीवृद्धि में अपना योगदान दिया है। समाधानार्थ यद्यपि उन सभी आचार्यों का नामोल्लेख करना आवश्यक है, लेकिन यहाँ कतिपय प्रमुख व्याख्याता आचार्यों के नाम और उनमें भी जिनके परिचय की यथोचित जानकारी उपलब्ध हैं, उनका संक्षेप में परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

निर्युक्तिकार– आगमिक व्याख्या प्रकारों में निर्युक्ति का प्रथम स्थान है और आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय) ने इस विधा का पहले उपयोग किया। गोविन्दाचार्य भी दूसरे निर्युक्तिकार हैं, लेकिन उनकी कृतियाँ उपलब्ध न होने से यही मानना पड़ता है कि आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय) ने जैन वाङ्मय के क्षेत्र में निर्युक्ति विधा का उपयोग सर्वप्रथम किया।

निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु चतुर्दश पूर्वधर आर्य भद्रबाहु से भिन्न है। इसीलिए उनसे पार्थक्य बताने के लिए यहाँ द्वितीय शब्द का प्रयोग किया है। आगम प्रभावक श्री पुण्यविजयजी महाराज का मन्तव्य है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी ने भी निर्युक्तियों की रचना की थी। उनके पश्चात गोविन्दवाचक जैसे अन्य आचार्यों ने निर्युक्तियाँ लिखीं। उन सभी निर्युक्ति गाथाओं का संग्रह कर तथा अपनी ओर से कुछ नवीन गाथाएँ बनाकर द्वितीय भद्रबाहु ने निर्युक्तियों को अंतिम रूप दिया।

निर्युक्तिकार भद्रबाहु प्रसिद्ध ज्योतिर्विद वराहमिहर के सहोदर माने जाते हैं एवं वे अष्टांग निमित्त व मंत्रविद्या में पारंगत नैमेत्तिक भद्रबाहु के रूप में भी प्रसिद्ध हैं। उवसग्गहरं स्तोत्र और भद्रबाहु संहिता (ज्योतिष ग्रंथ) भी इन्हीं की रचनाएँ है कहा

जाता है कि इन्होंने प्राकृत भाषा में भी ज्योतिष विषयक ग्रंथ की रचना की थी और वसुदेव चरित एवं हरिवंश की रचना का भी इन्हीं को श्रेय प्राप्त है, लेकिन ये ग्रंथ अनुपलब्ध है। उवसग्गहरं स्तोत्र की पाँच गाथाएँ हैं। इसकी रचना के संबंध में कहा जाता है कि सहोदर वराहमिहर मृत्यु के बाद व्यंतर देव होकर जैन संघ को कष्ट पहुँचाने लगा, तब उसके उपद्रव से संघ की रक्षा करने के लिए इस स्तोत्र की रचना की गई। इस स्तोत्र में भगवान पार्श्वनाथ की प्रशंसात्मक स्तुति की गई है। वराहमिहर वि.स. ५६२ में विद्यमान थे, क्योंकि पंचसिद्धान्तिका के अंत में शक संवत् ४२७ अर्थात् वि.स. ५६२ का उल्लेख है। निर्युक्तिकार भद्रबाहु का भी करीबन यही समय है। अतः निर्युक्तियों का रचनाकाल वि.स. ५०० और ६०० के बीच मानना चाहिए।

निर्युक्तिकार भद्रबादुह ने निम्नलिखित आगमों पर निर्युक्तियाँ लिखी हैं–

१. आवश्यक, २. दशवैकालिक, ३. उत्तराध्ययन, ४. आचारांग, ५. सूत्रकृतांग, ६. दशाश्रुतस्कंध, ७. बृहतकल्प, ८. व्यवहार, ९. सूर्य प्रज्ञप्ति और १०. ऋषिभाषित। इन दस निर्युक्तियों में से सूर्य प्रज्ञप्ति और ऋषिभाषित की निर्युक्तियाँ अनुपलब्ध हैं। ओघनिर्युक्ति, पिंडनिर्युक्ति, पंचकल्प निर्युक्ति और निशीथ निर्युक्ति क्रमशः आवश्यक निर्युक्ति, दशवैकालिक निर्युक्ति, बृहत कल्प निर्युक्ति और आचारांग निर्युक्ति की पूरक हैं।

आचार्य भद्रबाहुकृत दस निर्युक्तियों का रचनाक्रम वही है, जिस क्रम से ऊपर नाम दिए हैं। अपनी सर्वप्रथम निर्युक्ति आवश्य निर्युक्ति गाथा ८५-८६ में निर्युक्ति रचना का संकल्प करते समय इसी क्रम से ग्रंथों की नामावली दी है। निर्युक्तियों में उल्लिखित एक दूसरी निर्युक्ति के नाम आदि के अध्ययन से भी यह प्रमाणित होता है।

आचार्य भद्रबाहु ने जैन परंपरागत अनेक महत्वपूर्ण पारिभाषिक शब्दों की स्पष्ट व्याख्या अपनी आगमिक निर्युक्तियों में की है। उनका आधार लेकर उत्तरवर्ती भाष्यादिकारों ने अपनी-अपनी कृतियों का निर्माण किया है। इसीलिए जैन साहित्य के इतिहास में आचार्य भद्रबाहु का एक विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण स्थान है।

भाष्यकार– जैसा कि पूर्व में बताया गया है कि निर्युक्तियों की रचना पद्धति गूढ़ एवं संकोचशील है। अतः उन गूढ़ार्थों को प्रकट रूप में प्रस्तुत करने के लिए उत्तरवर्ती काल में आचार्यों ने जो व्याख्याएँ लिखीं, वे भाष्य के रूप में प्रसिद्ध हुई। निर्युक्ति की तरह इनकी भाषा प्राकृत एवं शैली पद्यात्मक है।

उपलब्ध भाष्यों के आधार से आचार्य जिनभद्रगणि और संघदास गणि इन दो भाष्यकारों के नाम का तो स्पष्ट रूप से पता चलता है। इनके अतिरिक्त अन्य

भाष्यकारों के नामों का पता अभी तक प्राप्त नहीं हुआ है। यह तो निश्चित है कि इन दो भाष्यकारों के अतिरिक्त अन्य भाष्यकार भी हुए हैं। जैसे कि व्यवहार भाष्य आदि के कर्ता और चार बृहत् कल्प भाष्य आदि के रचयिता। प्रथम दो भाष्यकारों के नाम तो ज्ञात है, लेकिन बृहतकल्प भाष्य के प्रणेता, जिनका नाम अभी तक ज्ञात नहीं है, वे बृहतकल्प चूर्णिकार और बृहतकल्प विशेष चूर्णिकार के भी बाद में हुए हैं। इसका कारण यह है कि बृहतकल्प लघु भाष्य की १६६१ वीं गाथा में प्रतिलेखना के समय का निरूपण किया गया है, उसका व्याख्यान करते समय चूर्णिकार और विशेष चूर्णिकार ने जिन आदेशान्तरों का अर्थात् प्रतिलेखना के समय से संबंध रखने वाली विविध मान्यताओं का उल्लेख किया है, उनसे भी और अधिक नई-नई मान्यताओं का संग्रह बृहतकल्प बृहद्भाष्यकार ने उपर्युक्त गाथा से संबंधित महाभाष्य में किया है, जो आचार्य हरिभद्रसूरि विरचित पंच वस्तुक प्रकरण की स्वोपज्ञवृत्ति में उपलब्ध है। इससे ज्ञात होता है कि बृहदकल्प बृहद्भाष्य के प्रणेता बृहत्कल्पचूर्णि तथा विशेष चूर्णि के प्रणेताओं के पश्चात् हुए हैं। ये आचार्य हरिभद्र सूरि के कुछ पूर्ववर्ती या समकालीन हैं। व्यवहार भाष्य के प्रणेता कौन है ? इस बात का उल्लेख कहीं नहीं मिलता है और वे कब हुए हैं ? इतना होते हुए भी यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि व्यवहार भाष्यकार जिनभद्रगणि से वे पूर्ववर्ती हैं। इसका प्रमाण यह है कि आचार्य जिनभद्र ने अपने विशेषणवती ग्रंथ में व्यवहार के नाम के साथ जिस विषय का उल्लेख किया है, वह व्यवहार सूत्र के छठे उद्देश्य के भाष्य में उपलब्ध होता है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि व्यवहार भाष्यकार आचार्य जिनभद्र से भी पहले हुए हैं।

इस प्रकार चार भाष्यकारों में से दो का निश्चित नाम व समय ज्ञात न होने से हमें यह मानकर चलना पड़ेगा कि वे हुए अवश्य हैं, क्योंकि उनकी कृतियाँ विद्यमान हैं और अवशिष्ट रहे दो भाष्यकार जिनभद्र गणि और संघदास गणि हैं। उनके बारे में उपलब्ध जानकारी हम यहाँ प्रस्तुत करते हैं।

यद्यपि अपने महत्वपूर्ण ग्रंथों के कारण आचार्य जिनभद्र गणि का नाम जैन परंपरा में अतिविशिष्ट है एवं उनका स्थान महत्वपूर्ण है, लेकिन उनके जीवन की घटनाओं के बारे में कोई प्रामाणिक सामग्री जैन ग्रंथों में देखने को नहीं मिलती है। उनके जन्म एवं शिष्यत्व के बारे में जो सामग्री मिलती है, वह बहुत प्राचीन नहीं है और परस्पर विरोधी भी हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि आचार्य जिनभद्र को पाट परंपरा में सम्यक स्थान नहीं मिला, लेकिन बाद में जब उनके महत्वपूर्ण ग्रंथों और उनके आधारों पर लिखे गए ग्रंथों को तत्कालीन संघ ने देखा, तब आचार्यों ने उन्हें उचित महत्व दिया एवं पाट परंपरा में सम्मिलित करने का प्रयास किया, लेकिन इस

प्रयास में वास्तविकता की मात्रा अधिक नहीं थी और सभी उनको अपना बनाना चाहते थे, इसलिए उन उल्लेखों में मतभेद आना स्वाभाविक था। यही कारण है कि किसी ने यहाँ तक लिख दिया कि वे आचार्य हरिभद्र के पाट पर बैठे।

डॉ. उमाकान्त प्रेमानन्द शाह ने अक्कोटक-अंकोटा गाँव से प्राप्त दो प्रतिमाओं के अध्ययन के आधार पर यह सिद्ध किया है कि ये प्रतिमाएँ ई.स. ५५०-६०० तक के काल की है। उन्होंने प्रतिमा लेखों के आधार से यह संकेत दिया है कि इनमें जिन आचार्य जिनभद्र का नाम है, वे विशेषावश्यक भाष्य के कर्ता जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण है। परंतु अभी तक यह निश्चय नहीं किया जा सका है कि ये वे ही हैं या अन्य कोई समान नामधारी आचार्य हैं।

आचार्य जिनभद्र कृत विशेषावश्यक भाष्य की एक प्रति शक संवत ५३१ में लिखी गई तथा वल्लभी के एक जैन मंदिर में समर्पित की गई। इस घटना से यह प्रतीत होता है कि आचार्य जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण ने मथुरा में देव निर्मित स्तूप के देव की आराधना एक पक्ष की तपस्या द्वारा की और दीमक द्वारा नष्ट किए गए महानिशीथ सूत्र का उद्धार किया। इससे यह सिद्ध होता है कि आचार्य जिनभद्र का वल्लभी के अतिरिक्त मथुरा से भी संबंध था।

मुनिश्री जिनविजयजी ने जैसलमेर शास्त्र भण्डार में स्थित विशेषावश्यक भाष्य की प्रति के आधार पर आचार्य जिनभद्र का समय वि.स. ६६६ के आसपास माना है। लेकिन अभी यह समय विवादग्रस्त है। इस उल्लेख से इतना माना जा सकता है कि आचार्य जिनभद्र का उत्तरकाल वि.स. ६५०-६६० के आसपास रहा होगा।

भले ही आचार्य जिनभद्र को उनके समकालीन संघ ने बहुमान न दिया हो, लेकिन उत्तरवर्ती काल के आचार्यों ने आचार्य जिनभद्र का बहुमानपूर्वक उल्लेख किया है। उनके लिए भाष्यसुधाम्भोधि, भाष्यपीयूषपयोधि, भगवान भाष्यकार, दुःषमान्धकार निमग्न जिनवचन प्रदीप प्रतिम, दलित कुवादि प्रवाद, प्रशस्य भाष्य, सस्यकाश्यपीकल्प, त्रिभुवन जन प्रथित, प्रवचनोपनिषद, वेदी, संदेह, संदोह, शैलशृंग भंगदम्भोलि आदि विशेषणों का प्रयोग किया गया है।

आचार्य जिनभद्र ने निम्नलिखित ग्रंथों की रचना की है—

१. विशेषावश्यक भाष्य (प्राकृत पद्य), २. विशेषावश्यक भाष्य स्वोपज्ञवृत्ति, (संस्कृत वृत्ति अपूर्ण), ३. बृहत्संग्रहणी (प्राकृत पद्य), ४. बृहद क्षेत्र समास (प्राकृत पद्य), ५. विशेषणवती (प्राकृत पद्य), ६. जीत कल्प (प्राकृत पद्य), ७. जीतकल्प भाष्य (प्राकृत पद्य), ८. अनुयोग द्वारा चूर्णि (प्राकृत गद्य), ९. ध्यानशतक (प्राकृत पद्य), ध्यान शतक का कर्तृत्व संदिग्ध है।

संघदास गणि भी भाष्यकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। इनके दो भाष्य उपलब्ध हैं—बृहत्कल्प लघु भाष्य और पंचकल्प महाभाष्य। मुनिश्री पुण्यविजयजी के मतानुसार संघदास नाम के दो आचार्य हैं। एक वसुदेव हिंडी प्रथम भाग के प्रणेता और दूसरे बृहत्कल्प लघुभाष्य एवं पंचकल्प महाभाष्य के कर्ता। क्योंकि वसुदेव हिंडी मध्यखण्ड के कर्ता आचार्य धर्मसेन गणि के कथनानुसार वसुदेव हिंडी प्रथम खण्ड के प्रणेता वाचक पद से अलंकृत थे, जबकि भाष्य प्रणेता संघदास गणि क्षमा श्रमण पद से अलंकृत थे। लेकिन पदवी भेद से व्यक्ति भेद भी हो जाता है, यह विचारणीय है। क्योंकि कभी-कभी एक ही व्यक्ति दो पदवियों से अलंकृत हो सकता है और विभिन्न दृष्टियों से उनका समयानुसार प्रयोग भी होता है। अतः संघदास नाम के दो अलग-अलग आचार्य हो, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है।

मुनिश्री पुण्यविजयजी ने भाष्यकार तथा वसुदेवहिंडीकार आचार्यों को भिन्न-भिन्न सिद्ध करने के लिए एक और हेतु दिया है। वह यह है कि आचार्य जिनभद्र ने अपने विशेषणवती ग्रंथ में वसुदेव हिंडी प्रथम भाग में चित्रित ऋषभदेव चरित्र की संग्रहणी गाथाएँ बनाकर उनका अपने ग्रंथ में समावेश भी किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि वसुदेव हिंडी प्रथम खण्ड के प्रणेता संघदास आचार्य जिनभद्र के पूर्ववर्ती हैं। आज यह ऐतिहासिक गुत्थी अनसुलझी पड़ी है, लेकिन प्राप्त प्रमाणों के आधार से अब यह तो स्वीकार करने लगे हैं कि भाष्यकार संघदास गणि आचार्य जिनभद्र के पूर्ववर्ती हैं।

भाष्यकारों का नामोल्लेख करने के प्रसंग में अब भाष्यों के नामों का संकेत करते हैं। प्रत्येक आगम पर जैसी निर्युक्तियाँ नहीं लिखी गई, वैसे ही प्रत्येक आगम पर भाष्य भी नहीं लिखे गए। जिन आगमों पर भाष्य लिखे गए हैं, उनके नाम इस प्रकार हैं—आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, बृहत्कल्प, व्यवहार और निशीथ। आवश्यक सूत्र पर तीन भाष्य लिखे गए हैं—१. मूल भाष्य, २. भाष्य और ३. विशेषावश्यक भाष्य। यह विशेषावश्यक भाष्य आवश्यक सूत्र के प्रथम अध्ययन का सामयिक पद है, लेकिन काफी विस्तृत एवं महत्वपूर्ण है। पहले और दूसरे भाष्य संक्षिप्त है। उनकी अनेक गाथाएँ विशेषावश्यक भाष्य में सम्मिलित कर ली गई है। उत्तराध्ययन भाष्य भी बहुत छोटा है। उसमें कुल पैंतालीस गाथाएँ हैं। बृहत कल्प पर बृहत और लघु ये दो भाष्य हैं। व्यवहार एवं निशीथ भाष्य में लगभग ४३२९ और ६५०० गाथाएँ हैं। इसके अतिरिक्त पंचकल्प, जीतकल्प, ओघनिर्युक्ति और पिंडनिर्युक्ति पर भी भाष्य लिखे गए हैं।

चूर्णिकार– निर्युक्ति एवं भाष्य तक व्याख्या ग्रंथों की भाषा प्राकृत और शैली पद्यात्मक रही। इसके बाद उत्तरवर्ती आचार्यों ने गद्यात्मक शैली में प्राकृत या प्राकृत

मिश्रित संस्कृत भाषा में व्याख्या ग्रंथों की रचना प्रारंभ की। यह एक नई व्याख्या विधा थी। इसे चूर्णि नाम दिया गया। इस विधा का प्रचार होने से व्याख्या साहित्य का क्षेत्र तो व्यापक बना, लेकिन जैसे निर्युक्तियाँ और भाष्य सभी आगम ग्रंथों पर नहीं लिखे गए, वैसे ही चूर्णियाँ भी सभी आगम ग्रंथों पर नहीं लिखी गई। फिर भी पूर्वद्वय व्याख्या विधाओं की अपेक्षा कुछ अधिक आगमों पर एवं आगमेतर ग्रंथों पर भी चूर्णियां लिखी गईं। किन्तु अपेक्षाकृत उनकी संख्या बहुत कम हैं।

जिन आगम ग्रंथों पर चूर्णियाँ लिखी गईं, उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं— १. आचारांग, २. सूत्र कृतांग, ३. भगवती, ४. जीवाभिगम, ५. निशीथ, ६. महानिशीथ, ७. व्यवहार, ८. दशाश्रुतस्कंध, ९. बृहत्कल्प, १०. पंचकल्प, ११. ओघनिर्युक्ति, १२. जीत कल्प, १३. उत्तराध्ययन, १४. आवश्यक, १५. दशवैकालिक, १६. नंदी, १७. अनुयोग द्वार, १८. जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति।

भाषा की दृष्टि से इन चूर्णियों में नंदी चूर्णि और अनुयोग द्वार चूर्णि मुख्यतया प्राकृत में है। क्वचित कदाचित यत्र तत्र संस्कृत के श्लोक और गद्यांश उद्धृत किए गए हैं। जिनदास कृत दशवैकालिक चूर्णि की भाषा मुख्यतया प्राकृत है और अगस्त्यसिंहसूरिकृत दशवैकालिक चूर्णि प्राकृत में ही है। उत्तराध्ययन चूर्णि संस्कृत मिश्रित प्राकृत में है। इसमें भी अनेक स्थानों पर संस्कृत के श्लोक उद्धृत हैं। आचारांग चूर्णि, सूत्रकृतांग चूर्णि प्राकृत प्रधान है। इनमें यत्र तत्र संस्कृत के श्लोक भी उद्धृत हैं। जीतकल्प चूर्णि प्राकृत में ही है। इसमें उद्धरण भी प्राकृत के दिए हैं। निशीथ विशेष चूर्णि अल्प संस्कृत मिश्रित प्राकृत में है।

चूर्णिकारों में जिनदास गणि महत्तर, सिद्धसेन सूरि, प्रलंब सूरि और अगस्त्य सिंह सूरि के नाम ज्ञात होते हैं। अन्य चूर्णिकारों के नाम अज्ञात हैं। इनमें भी चूर्णिकार के रूप में मुख्यतया जिनदास गणि महत्तर का नाम प्रसिद्ध है, किन्तु उन्होंने कितनी चूर्णियाँ लिखी, यह निश्चित रूप से ज्ञात नहीं होता। परंपरा से निम्नलिखित चूर्णियाँ अवश्य जिनदास गणि महत्तर कृत मानी जाती है, निशीथ विशेष चूर्णि, नंदी चूर्णि, अनुयोग द्वार चूर्णि, आवश्यक चूर्णि, दशवैकालिक चूर्णि, उत्तराध्ययन चूर्णि और सूत्रकृतांग चूर्णि।

जिनदास गणित महत्तर की जीवनी के बारे में विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है। निशीथ विशेष चूर्णि के अंत में चूर्णिकार का नाम जिनदास बताया है और प्रारंभ में विद्या गुरु के रूप में प्रद्युम्न क्षमा श्रमण का नाम तथा उत्तराध्ययन चूर्णि में जो लेखक का परिचय दिया है, उसमें इनके नाम का स्पष्ट उल्लेख नहीं है, किन्तु गुरु का नाम गोपाल गणि महत्तर बताया है, जो वाणिज्य कुल, कोटिक गण, वज्र शाखा से संबंधित थे। नंदी चूर्णी के अंत में भी जो लेखक परिचय दिया गया है, वह भी अस्पष्ट है।

जिनदास गणि के समय के बारे में उपलब्ध साक्ष्यों से इतना कहा जा सकता है कि ये भाष्यकार आचार्य जिनभद्र के बाद और टीकाकार आचार्य हरिभद्र के पूर्व हुए हैं। क्योंकि जिनदास गणि महत्तर ने आचार्य जिनभद्र की अनेक गाथाओं का अपनी चूर्णियों में और आचार्य हरिभद्र ने इसकी चूर्णियों का अपनी टीकाओं में यथास्थान उपयोग किया है। अतः इन दोनों के मध्य जिनदास गणि महत्तर का समय मानना उचित प्रतीत होता है। आचार्य जिनभद्र का समय वि.स. ६००-६६० के आसपास है तथा आचार्य हरिभद्र का समय वि.स. ७५७-८२७ के बीच का है। अतः जिनदास गणि का समय वि.स. ६५०-७५० के बीच में मानना चाहिए। इससे भी यही सिद्ध होता है कि जिनदास गणि का समय वि.स. ६५०-७५० के बीच होना चाहिए।

उपलब्ध जीतकल्प चूर्णि के कर्ता सिद्धसेन सूरि हैं। ये सिद्धसेन दिवाकर से भिन्न कोई दूसरे आचार्य हैं, क्योंकि सिद्धसेन दिवाकर जीतकल्पकार आचार्य जिनभद्र के पूर्ववर्ती हैं। प्रस्तुत चूर्णि की एक व्याख्या (विषम पद व्याख्या) श्रीचंद्र सूरि ने वि.स. १२२७ में पूर्ण की। अतः चूर्णिकार सिद्धसेन का अस्तित्व इससे पूर्व ही होना चाहिए।

बृहत्कल्प चूर्णिकार प्रलंब सूरि के जीवन पर प्रकाश डालने वाली कोई सामग्री उपलब्ध नहीं है। ताड़ पत्र पर लिखी गई इस चूर्णि की एक प्रति का उल्लेख समय वि.स. १३३४ है। अतः इतना निश्चित है कि प्रलंबसूरि वि.स. १३३४ से पूर्व हुए हैं। संभवतः ये चूर्णिकार सिद्धसेनसूरि के समकालीन हों अथवा उनसे पहले भी हुए हों।

दशवैकालिक चूर्णिकार अगस्त्य सिंह सूरि कोटि गणीय वज्रस्वामी की शाखा के एक स्थविर हैं। इनके गुरु का नाम ऋषिगुप्त है, किन्तु इनके समय आदि के बारे में भी प्रकाश डालने वाली कोई सामग्री प्राप्त नहीं है। यह चूर्णि विशेष प्राचीन भी नहीं है, क्योंकि इसमें तत्वार्थ सूत्र आदि के संस्कृत उद्धरण भी हैं। शैली आदि की दृष्टि से चूर्णि सरल है।

टीकाकर– चूर्णियों के बाद संस्कृत टीकाओं का युग प्रारंभ होता है। चूर्णि तक व्याख्या शैली गद्य प्रधान हो चुकी थी, लेकिन भाषा का शुद्ध रूप नहीं रहा था। उस काल में प्राकृत संस्कृत मिश्रित भाषा का प्रयोग होता था। इससे यही माना जा सकता है कि चूर्णिकाल भाषा की दृष्टि से संक्रांति का युग था, जिसमें साहित्य की भाषा के रूप में प्राकृत अपना स्थान छोड़ रही थी और संस्कृत उसका स्थान लेती जा रही थी, लेकिन टीकायुग में संस्कृत भाषा ने साहित्य निर्माण के लिए प्रमुख स्थान बना लिया था। तत्कालीन आचार्यों ने संस्कृत में जो आगमिक व्याख्याएँ लिखी, उनमें निर्युक्ति, भाष्य और चूर्णियों का उपयोग तो किया ही, पर साथ में नए-नए तर्कों,

हेतुओं द्वारा पूर्व सामग्री को उन्होंने सरल, व्यापक, विस्तृत बना दिया। इस युग में व्याख्या ग्रंथों को लिखने का प्रभाव इतना बढ़ा कि प्रत्येक आगम पर कम से कम एक टीका तो अवश्य ही लिखी गई।

टीकाकारों में हरिभद्रसूरि, वादिवेताल शांतिसूरि, अभयदेव सूरि, मलयगिरि, मलधारी हेमचन्द्र आदि प्रमुख हैं। इन आचार्यों के अतिरिक्त और भी अनेक टीकाकारों के नाम हैं, जिनमें से कुछ की टीकाएँ उपलब्ध हैं और कुछ की अनुपलब्ध है। कुछ ऐसी टीका प्रतियाँ मिलती हैं, जिनमें लेखकों के नाम नहीं मिलते, लेकिन इन टीकाओं से भी पूर्व आचार्य जिनभद्रगणि क्षमा श्रमण का नाम है, जो विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने विशेषावश्यक भाष्य की स्वोपज्ञवृत्ति लिखना प्रारंभ किया था, लेकिन अपने जीवनकाल में यह वृत्ति पूरी न कर सकें। उस अपूर्ण वृत्ति को कोट्याचार्य ने पूर्ण किया। इस दृष्टि से आचार्य जिनभद्र को अन्य टीकाकारों से भी पूर्ववर्ती प्राचीनतम् आगमिक टीकाकार के रूप में स्मरण कर सकते हैं।

जिन रत्न कोष आदि में अनेक टीकाकार आचार्यों के नामों का उल्लेख किया गया है, जिनके व्यक्तित्व का ठीक-ठीक निश्चय किया नहीं जा सकता है, क्योंकि संभवतः एक ही आचार्य के एक से अधिक नाम हो अथवा एक ही नाम के एक से अधिक आचार्य हो।

टीकाओं के लिए भिन्न-भिन्न नामों का प्रयोग किया गया है। टीका, वृत्ति, विवृत्ति, विवरण, विवेचन, व्याख्या, वार्तिक, अवचूरि, अवचूर्णि, पंजिका, टिप्पन, टिप्पनक, पर्याय, स्तबक, पीठिका, अक्षरार्थ आदि।

टीकाकारों में प्रमुख आचार्य जिनभद्र के परिचय का पूर्व में कुछ संकेत दिया जा चुका है। उनके बाद आचार्य हरिभद्रसूरि का नाम आता है। हरिभद्र सूरि जैन आगमों के प्राचीन टीकाकार है। उनका जन्म मेवाड़ के चित्तौड़ (चित्रकूट) नगर में हुआ था। लगभग साढ़े बारह सौ वर्ष पूर्व इस नगर में जितारि नामक राजा राज करता था। हरिभद्र सूरि उसके राजपुरोहित थे। अनेक विधाओं में पारंगत होने केारण उन्हें कुछ अभिमान हो गया था। उनका यह मानना था कि संसार में ऐसा कोई विद्वान नहीं है, जो उनकी बराबरी कर सकें। उनके हाथ में हमेशा जंबू वृक्ष की शाखा रहती थी, जो इस बात का प्रतीक थी कि इस जंबूद्वीप में उनके मुकाबले का कोई विद्वान नहीं है। अभिमानवश उन्होंने यह प्रतिज्ञा भी कर रखी थी कि जिसके कथन का अर्थ मैं नहीं समझ सकूँगा, उसका शिष्य बन जाऊँगा।

एक दिन वे राजमहल से घर लौट रहे थे। रास्ते में जैन उपाश्रय में कुछ साध्वियाँ स्वाध्याय कर रही थीं। संयोग से उनके कानों में एक गाथा की ध्वनि पड़ी।

गाथा का अर्थ उनकी समझ में नहीं आया। वे उपाश्रय में पहुँचे और साध्वियों से गाथा का अर्थ पूछा। साध्वियों ने उन्हें आचार्य जिनभद्र के पास भेजा। आचार्य ने हरिभद्र को गाथा का अर्थ समझाया। हरिभद्र की इच्छा जैन दर्शन का ज्ञान प्राप्त करने की हुई। उन्होंने गहन अध्ययन किया और आचार्य के पास दीक्षा ग्रहण की और साध्वी याकिनी महत्तरा को अपनी धर्ममाता माना। वे स्वयं को याकिनी महत्तरा सूनु कहते थे। स्थान-स्थान पर घूमकर उन्होंने जिन शासन का प्रचार किया।

प्रभावक चरित्र में वर्णित उक्त उल्लेख से हरिभद्र के दीक्षा गुरु आचार्य जिनभद्र सिद्ध होते हैं, किन्तु हरिभद्र के खुद के उल्लेखों से यह सिद्ध होता है कि आचार्य जिनभद्र उनके गच्छाधिपति थे, जिनदत्त दीक्षा दाता गुरु थे और याकिनी महत्तरा उनकी धर्ममाता थी। उनका कुल विद्याधर गच्छ था और संप्रदाय श्वेताम्बर था।

कहा जाता है कि हरिभद्र सूरि ने १४४४ ग्रंथों की रचना की थी। इसके लिए यह कारण बताया जाता है कि १४४४ बौद्ध साधुओं का संहार करने के संकल्प के प्रायश्चित के रूप में उनके गुरु ने १४४४ लिखने की उन्हें आज्ञा दी थी। इस घटना का उल्लेख राजशेखरसूरि ने अपने चतुर्विंशति प्रबंध और मुनि क्षमाकल्याण ने अपनी खरतरगच्छ पट्टावली में भी किया है।

हरिभद्रसूरि के कुछ ग्रंथ पचास श्लोक प्रमाण भी है। इसी प्रकार सोलह श्लोकों के षोडशक और बीस श्लोकों की विशिकाएँ भी हैं। इनकी एक स्तुति 'संसार दावानलदाह नीर' तो केवल चार श्लोक प्रमाण ही है। इस प्रकार देखे तो इनके ग्रंथों की संख्या में और भी वृद्धि की जा सकती है।

आचार्य हरिभद्र ने अपने प्रत्येक ग्रंथ में प्रायः 'विरह' शब्द का प्रयोग किया है। प्रभावक चरित्र में इस तथ्य के लिए बताया है कि अपने अतिप्रिय दो भानजे शिष्यों—हंस और परम हंस के विरह से दुःखित हृदय होकर उन्होंने अपने प्रत्येक ग्रंथ को 'विरह' शब्द से अंकित किया है।

वर्तमान में आचार्य हरिभद्र कृत तिहत्तर ग्रंथ उपलब्ध हैं। उनमें न्याय, अध्यात्म, स्तुति, चरित्र आदि विविध विषय हैं। आगमों में से उन्होंने आवश्यक, दशवैकालिक, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, नंदी, अनुयोग द्वार आदि आगमों पर टीकाएँ लिखी हैं। इनके उपलब्ध ग्रंथों के अवलोकन से इनकी विद्वता का पता लग जाता है। ये एक समदर्शी और बहुश्रुत विद्वान थे।

इनके समय के बारे में यह कहा जाता है कि जैन परंपरानुसार वि.स. ५८५ अथवा वीर संवत् १०५५ या ई.स. ५२८ में इनका स्वर्गवास हो गया था। इस मान्यता को मिथ्या सिद्ध करते हुए डॉ. जेकोबी लिखते हैं कि ई.स. ६५० में होने वाले धर्मकीर्ति

के तात्विक विचारों से आचार्य हरिभद्र परिचित थे। अतः यह संभव नहीं है कि ई.स. ५२८ के बाद वे न रहे हो। हरिभद्र के समय निर्धारण का एक दूसरा प्रबल प्रमाण उद्योतनसूरि का प्राकृत ग्रंथ कुवलयमाला कथा है। यह ग्रंथ शक संवत् ७७० की अंतिम तिथि अर्थात् २१ मार्च ७७९ को पूर्ण हुआ था। इस ग्रंथ की प्रशस्ति में उद्योतनसूरि ने हरिभद्र का नामोल्लेख करके उन्हें अपने दर्शन शास्त्र के गुरु के रूप में माना है और अनेक ग्रंथों के रचयिता के रूप में इनका वर्णन किया है। आचार्य हरिभद्र और कुवलयमाला के कर्ता उद्योतन सूरि समकालीन थे। इतनी विशाल ग्रंथराशि को लिखने वाले महापुरुष की आयु करीब साठ-सत्तर साल की तो होनी ही चाहिए। अतः ईसा की आठवीं शताब्दी के प्रथम दशक में हरिभद्र का जन्म और उसी शताब्दी में स्वर्गवास मान लिया जाए तो कोई असंगति प्रतीत नहीं होगी। अतः हम ई.स. ७०० से ७७० अर्थात् वि.स. ७५७ से ८२७ तक हरिभद्रसूरि का सही समय निश्चित करते हैं।

आचार्य शीलांक के लिए कहा जाता है कि इन्होंने प्रथम नौ अंग आगमों पर टीकाएँ लिखी थीं, लेकिन वर्तमान में आचारांग और सूत्रकृतांग की टीकाएँ उपलब्ध हैं। आचारांग टीका की प्रतियों में भिन्न-भिन्न समय का उल्लेख है। जैसे कि किसी पर शक संवत् ७७२ तो किसी पर शक में संवत् ७८४ या ७९८। इससे यही अनुमान लगाया जा सकता है कि शक की आठवीं अर्थात् विक्रम की नौवीं-दसवीं शताब्दी का इनका रूप है।

शीलांकाचार्य शीलाचार्य एवं तत्वाचार्य के नाम से भी प्रसिद्ध है।

वादिवेताल शांतिसूरि उत्तराध्ययन सूत्र की टीका के कर्ता है। इनका जन्म राधनपुर (गुजरात) के पास ऊण-उन्नतायु नामक गाँव में हुआ था। इनके पिता का नाम धनदेव, माता का नाम धनश्री तथा स्वयं का नाम भीम था। दीक्षा के पश्चात् इनका नाम शांति पड़ा।

शांतिसूरि का समय पाटन के राजा भीमराज (शासनकाल वि.स. १०७८ से ११२०) के समकालीन माना जाता है। ये भीमराज की सभा में वादी चक्रवर्ती तथा कवीन्द्र के रूप में प्रसिद्ध थे। मालव प्रदेश में विहार करते समय धारा नगरी के प्रसिद्ध राजा भोज की सभा में (शासनकाल वि.स. १०३७ से १११९) चौरासी वादियों को पराजित करने पर राजा भोज ने इन्हें वादी वेताल के पद से विभूषित किया था। धारा नगरी में कुछ समय ठहरकर इन्होंने महाकवि धनपाल की तिलक मंजरी का संशोधन किया और बाद में धनपाल के साथ ये भी पाटन आ गए।

इनके गुरु का नाम विजयसिंह सूरि था। विजयसिंह सूरि ने इन्हें दीक्षित किया

था और प्रमाण शास्त्र का अभ्यास कराया था। एक बार जब विजयसिंह सूरि इन्हें अभ्यास करा रहे थे, उस समय मुनिचंद्र सूरि भी वहाँ उपस्थित थे। वे नाडोल से विहार कर पाटन आए थे। उन्होंने पंद्रह दिन क खड़े-खड़े ही पाठ सुना। सोलहवें दिन सब शिष्यों के साथ उनकी भी परीक्षा ली गई। मुनिचंद्र सूरि की बौद्धिक प्रतिभा से प्रभावित होकर शांतिसूरि ने उनको अपने पास रख लिया और प्रमाण शास्त्र का विशेष अभ्यास कराया।

शांतिसूरि ने उत्तराध्ययन टीका के अतिरिक्त धनपाल की तिलकमंजरी पर भी एक टिप्पण लिखा है। वह आज भी पाटन के ज्ञान भण्डार में विद्यमान हैं। जीवविचार प्रकरण और चैत्यवन्दन महाभाष्य भी इन्हीं की रचना मानी जाती है।

जीवनान्त वेला में गिरनार में आकर इन्होंने संलेखना ग्रहण की और वि.स. १०८९ ज्येष्ठ शुक्ला नवमी मंगलवार को देह त्याग किया।

विक्रय की बारहवीं और तेरहवीं शताब्दी के बीच सात प्रमुख टीकाकार आचार्य हुए हैं। उनमें से एक अभयदेव सूरि हैं। ये नवांगी टीकाकार के रूप में प्रसिद्ध हैं। इन्होंने स्थानांग आदि समवायांग पर्यन्त नौ अंग आगमों एवं औपपातिक उपांग की टीकाएँ लिखी हैं। इनकी कुल रचनाओं का ग्रंथमान करीब साठ हजार श्लोक प्रमाण है।

अभयदेव सूरि का बाल्यकाल का नाम अभयकुमार था। वे धारा नगरी के सेठ धनदेव के पुत्र थे। उनके दीक्षागुरु का नाम जिनेश्वर सूरि था। जिनेश्वर सूरि वर्धमान सूरि के शिष्य थे। अभयकुमार का जन्म अनुमानतः वि.स. १०८८, दीक्षा संवत् ११०४, आचार्य पद एवं टीकाओं का प्रारंभ वि.स. ११२० और स्वर्गवास वि.स. ११३५ या ११३९ माना जाता है।

अभयदेवसूरि के अनन्तर टीकाकारों की परंपरा में आचार्य मलयगिरि और मलधारी हेमचंद्र विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इनके अतिरिक्त और भी टीकाकार आचार्य हुए हैं, जिनका परिचय यथास्थान दिया जा रहा है।

आचार्य मलयगिरि की प्रसिद्धि टीकाकार के रूप में है, न कि ग्रंथकार के रूप में। इन्होंने आगम ग्रंथों पर अंतिम महत्वपूर्ण टीका ग्रंथ लिखे हैं। इन टीकाओं में इनकी विद्वता, भाषा की प्रासादिकता, शैली की प्रौढ़ता एवं निरूपण की स्पष्टता झलकती है।

आचार्य मलयगिरि ने अपने टीका ग्रंथों में अपना कुछ भी परिचय न देकर सिर्फ नाम का उल्लेख मात्र किया है। लेकिन पंद्रहवीं शताब्दी के एक ग्रंथकार जिनमंडन गणि ने अपने कुमारपाल प्रबंध में आचार्य हेमचंद्रसूरि की विद्या साधना के

प्रसंग में आचार्य मलयगिरि के संबंध में कुछ बातों का उल्लेख किया है। उनसे ज्ञात होता है कि आचार्य मलयगिरि कलिकाल सर्वज्ञ हेमचंद्राचार्य के समकालीन थे। आचार्य हेमचन्द्र के समकालीन होने से मलयगिरि का समय वि.स. ११५० से १२५० के लगभग मानना चाहिए।

मलयगिरि ने कितने टीकाग्रंथ लिखे, इसका स्पष्ट उल्लेख तो नहीं है, लेकिन उनके जितने ग्रंथ इस समय उपलब्ध है तथा जिन ग्रंथों के नामों का उल्लेख उन्होंने अपने ग्रंथों में किया है, परंतु जो अनुपलब्ध है, उन सबका ग्रंथमान करीब ढाई लाख श्लोक प्रमाण होना चाहिए, क्योंकि उपलब्ध ग्रंथों का प्रमाण ही दो लाख श्लोकों के करीब है तो शेष अनुपलब्ध ग्रंथों के प्रमाण को पचास हजार श्लोक नहीं मानने के लिए कोई अवकाश नहीं रहता। अनुपलब्ध ग्रंथों की संख्या साठ है, जिनमें आगमिक टीका ग्रंथों के नाम इस प्रकार हैं—१. भगवती (द्वितीय शतक), २. राजप्रश्नीय, ३. जीवाभिगम, ४. प्रज्ञापना, ५. चंद्रप्रज्ञप्ति, ६. सूर्यप्रज्ञप्ति, ७. नंदीसूत्र, ८. व्यवहार सूत्र, ९. बृहत्कल्प और १०. आवश्यक।

मलधारी हेमचन्द्र सूरि का परिचय इस प्रकार है—

उनका गृहस्थाश्रम का नाम प्रद्युम्न था। वे राज्यमंत्री थे। अपनी चार पत्नियों का और राज्य मंत्री पद का त्यागकर वे मलधारी अभयदेव सूरि के पास दीक्षित हुए थे। इन दोनों आचार्यों के प्रभावशाली जीवन चरित्र का वर्णन मलधारी हेमचंद्र सूरि के ही शिष्य श्री चंद्रसूरि ने अपने मुनिसुव्रत चरित्र की प्रशस्ति में किया है। हेमचन्द्र सूरि का परिचय देते हुए उन्होंने कहा है कि श्री हेमचंद्रसूरि आचार्य अभयदेव के बाद हुए। वे अपने युग में प्रबंध पारगामी और वचनातिशय से सम्पन्न थे। भगवती जैसा शास्त्र तो उन्हें अपने नाम की भाँति कंठस्थ था।

उनके तीन प्रमुख शिष्य थे—विजयसिंह, श्रीचंद और विबुधचंद्र। इनमें से श्रीचंद पट्टधर आचार्य हुए।

आचार्य विजयसिंह ने धर्मोपदेश माला की बृहद्वृत्ति लिखी है। उसकी समाप्ति वि.स. ११९१ में हुई। उसकी प्रशस्ति में अपने गुरु हेमचंद्रसूरि और उनके गुरु आचार्य अभयदेव सूरि का जो परिचय दिया है, उससे मालूम होता है कि वि.स. ११९१ में आचार्य हेमचंद्र सूरि के स्वर्गवास को काफी वर्ष व्यतीत हो चुके थे। ऐसी स्थिति में यह माना जा सकता है कि अभयदेव सूरि का स्वर्गवास होने पर अर्थात् वि.स. ११६८ में हेमचंद्रसूरि ने आचार्य पद प्राप्त किया और लगभग वि.स. ११८० तक उन्होंने उस पद को सुशोभित किया। क्योंकि उनके ग्रंथांत की किसी भी प्रशस्ति में वि.स. ११७७ के बाद के वर्ष का उल्लेख नहीं मिलता।

आचार्य हेमचंद्र ने स्वहस्त लिखित जीव समास वृत्ति की प्रति के अंत में अपना जो परिचय दिया है, उसमें उन्होंने अपने को यम, नियम, स्वाध्याय व ध्यान के अनुष्ठान में रत परम नैष्ठिक पण्डित श्वेताम्बराचार्य भट्टारक के रूप में प्रस्तुत किया है। यह प्रति उन्होंने वि.स. ११६४ में लिखी है।

अपनी विशेषावश्यक भाष्य वृत्ति के अंत में उन्होंने जो प्रशस्ति लिखी है, उसके आधार से यह प्रतीत होता है कि उन्होंने निम्नलिखित ग्रंथों की रचना की है—

१. आवश्यक टिप्पण, २. शतक विवरण, ३. अनुयोग द्वार वृत्ति, ४. उपदेश नाम माला सूत्र, ५. उपदेश माला वृत्ति, ६. जीव समास विवरण, ७. भव भावना सूत्र, ८. भव भावना विवरण, ९. नंदी टिप्पण, १०. विशेषावश्यक भाष्य बृहदवृत्ति। इन ग्रंथों का परिमाण करीब अस्सी हजार श्लोक प्रमाण है।

उक्त प्रमुख टीकाकारों के अतिरिक्त नेमिचंद्र सूरि ने उत्तराध्ययन वृत्ति और श्रीचंद्र सूरि ने अंगबाह्य आगमों पर टीका ग्रंथ लिखे हैं। आगमों पर संस्कृत टीका ग्रंथ लिखने का क्रम विक्रम की सतरहवीं शताब्दी तक चलता रहा। उसके बाद लोक भाषाओं का विकास होते जाने से कतिपय विद्वान आचार्यों ने अपभ्रंश, गुजराती आदि लोकभाषाओं में स्वतंत्र रूप में या टीका ग्रंथों के रूप में रचनाएँ प्रारंभ कर दी।

लोकभाषा टीकाकार– लोकभाषाओं में आगमिक टीकाग्रंथ, बालावबोध नाम से लिखे गए। बालावबोधों के लेखकों में साधुरत्न सूरि के शिष्य पार्श्वचंद्र गणि (वि.स. १५७२) का नाम उल्लेखनीय है। इनके बाद मुनि धर्मसिंह का नाम है। इन्होंने भगवती, जीवाभिगम, प्रज्ञापना, चंद्रप्रज्ञप्ति और सूर्य प्रज्ञप्ति इन पाँच सूत्रों को छोड़कर शेष स्थानकवासी मान्य सत्ताईस आगमों के बालावबोध (टब्बे) लिखे हैं।

मुनि धर्मसिंह जामनगर (सौराष्ट्र) के निवासी उनके पिता का नाम जिनदास और माता का नाम शिवादेवी था। वे जब पंद्रह वर्ष के थे, तब लोंकागच्छ के आचार्य रत्नसिंह के शिष्य देवजी मुनि का जामनगर में आगमन हुआ। उनके व्याख्यान से प्रभावित होकर उन्होंने और उनके पिता ने दीक्षा ग्रहण की। अध्ययन करने से उन्हें शास्त्रों का अच्छा ज्ञान हो गया। उनके बारे में यह कहा जाता है कि वे दोनों हाथों से ही नहीं दोनों पैरों से भी लेखनी पकड़कर लिख सकते थे। वि.स. १७२८ आश्विन शुक्ला ४ को उनका निधन हुआ।

मुनि धर्मसिंह ने सत्ताईस सूत्रों के बालावबोधों (टब्बों) के अतिरिक्त निम्नलिखित गुजराती ग्रंथों की भी रचना की है—समवायांग की हुंडी, भगवती का यंत्र, प्रज्ञापना का यंत्र, स्थानांग का यंत्र, जीवाभिगम का यंत्र, जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति का यंत्र, चंद्रप्रज्ञप्ति का यंत्र, सूर्य प्रज्ञप्ति का यंत्र, राजप्रश्नीय का यंत्र, व्यवहार की हुंडी, सूत्र

समाधि की हुण्डी, द्रौपदी की चर्या, सामायिक की चर्या, साधु समाचारी, चंद्रप्रज्ञप्ति की टीप। इन ग्रंथों में एक दो को छोड़कर शेष आगमों के विषय का प्रतिपादन करने वाले हैं। उन्होंने कुछ और ग्रंथ भी लिखे हैं, लेकिन अब तक इन ग्रंथों का प्रकाशन नहीं हुआ है।

विक्रम की बीसवीं सदी में श्री राजेंद्रसूरिजी महाराज हुए हैं। वे आगम साहित्य के मर्मज्ञ थे। वि.स. १८८३ में भरतपुर में उनका जन्म हुआ था। उनके पिता का नाम ऋषभदासजी और माता का नाम केसर देवी था। इक्कीस वर्ष की उम्र में उन्होंने श्री पूज्य प्रमोदसूरिजी के पास यतिदीक्षा ग्रहण की। फिर वि.स. १९२५ में जावरा (म.प्र.) में क्रियोद्धार करके शुद्ध चारित्र की प्ररूपणा की। स्वयं संवेगी मुनि (आचार्य) बने।

उन्होंने सम्पूर्ण आगम साहित्य का अध्ययन करके जैन प्राकृत विश्वकोष 'अभिधान राजेंद्र' का निर्माण किया। यह कोश सात भागों में विभक्त है और अपने आप में अनूठा है। इस कोश के कारण आगम साहित्य के अध्ययन में अधिक सुविधा हुई। यह ग्रंथ जिनागम की कुंजी है। आगम साहित्य का ऐसा एक भी शब्द नहीं है, जिसका इस कोष में समावेश न हुआ हो। इसके अलावा श्रीमद् ने छोटे-बड़े लगभग इकसठ ग्रंथों की रचना की। उनमें से कुछ ग्रंथों के नाम इस प्रकार हैं—

१. आवश्यक सूत्रावचूरी टब्बार्थ, २. उपासक दशांग सूत्र भाषान्तर (बालावबोध), ३. दशाश्रुत स्कंध चूर्णि, ४. प्रज्ञापनोपांग सूत्र सटीक (त्रिपाठ), ५. जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति वीजक (सूची) ये सभी ग्रंथ अब तक अप्रकाशित हैं।

श्रीमद् गुरुदेव ने दशाश्रुतस्कंध के आठवें अध्ययन कल्पसूत्र की कल्पसूत्रार्थ प्रबोधिनी के नाम से संस्कृत में व्याख्या की है और गुजराती में भी कल्पसूत्र बालावबोध की रचना की है। उन्होंने गच्छाचार पयन्ना वृत्ति नामक प्रकीर्णक ग्रंथ की भी गुजराती में टीका लिखी है। ये दोनों ग्रंथ प्रकाशित हैं। श्रीमद् गुरुदेव का स्वर्गवास वि.स. १९६३ में राजगढ़ (धार) में हुआ।

आजकल हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती आदि भाषाओं में विशिष्ट प्रस्तावनाओं के साथ अनेक आगमों के अनुवाद व सार प्रकाशित हुए हैं। मुनिश्री घासीलाल जी द्वारा स्थानकवासी संप्रदाय मान्य समस्त आगम ग्रंथ विशेष व्याख्याओं सहित प्रकाशित हो चुके हैं। इसी प्रकार स्व. युवाचार्य श्री मधुकर मुनिजी म.सा. के मार्गदर्शन एवं प्रधान सम्पादकत्व में आगम प्रकाशन समिति ब्यावर (राजस्थान) द्वारा भी स्थानकवासी जैन परम्परा द्वारा मान्य सभी आगम ग्रंथ हिन्दी अनुवाद व विवेचन सहित प्रकाशित हो चुके हैं।

♣ व्याख्या ग्रंथों का परिचय

इस प्रकार व्याख्या प्रकारों एवं कतिपय प्रमुख व्याख्याकार आचार्यों की संक्षेप में जानकारी देने के अनन्तर अब आगमिक व्याख्या ग्रंथों का परिचय प्रस्तुत करते हैं।

आचारांग– सबसे पहला आगम आचारांग है। इसकी आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय), जिनदास गणि महत्तर, आचार्य शीलांक और मुनि धर्मसिंह ने क्रमशः निर्युक्ति, चूर्णि, संस्कृत टीका और लोकभाषा टीका (बालावबोध टब्बा) लिखी है।

आचारांग निर्युक्ति आचारांग के दोनों श्रुतस्कंधों पर लिखी गई है। निर्युक्ति विधा के अनुसार इसमें प्रत्येक विशिष्ट एवं पारिभाषिक शब्द का निक्षेप पद्धति से विचार किया गया है। इसमें तीन सौ सैंतालीस गाथाएँ हैं।

प्रथम श्रुतस्कंध के प्रारंभ में मंगल गाथा है। उसमें सब सिद्धों को नमस्कार करके आचारांग की निर्युक्ति करने की प्रतिज्ञा की गई है। इसके बाद आचार, श्रुत, अंग, ब्रह्म, चरण, शस्त्र, परिज्ञा, संज्ञा, चद, धूत, विमोक्ष, उपधान, अग्र आदि शब्दों का व्याख्यान किया गया है। सामान्य शब्दों की निर्युक्ति करने के बाद निर्युक्तिकार ने सूत्रस्पर्शी निर्युक्ति प्रारंभ की है। उसमें सूत्रगत प्रत्येक शब्द का निक्षेप पद्धति से विचार किया गया है कि कौन-सा शब्द कितने प्रकार का है और किस शब्द में कितने निक्षेप संभव है। आचारांग को प्रथम अंग मानने के कारण को बताते हुए कहा है कि आचारांग द्वादशांगों में प्रथम हैं, क्योंकि इसमें मोक्ष के उपाय का प्रतिपादन किया गया है। वह सम्पूर्ण प्रवचन का सार है तथा आचारांग के अध्ययन से श्रमण धर्म का परिज्ञान होता है, इसलिए इसका प्रधान अर्थात् आधगणि स्थान है। जिन शब्दों या पदों के अवान्तर भेद हो सकते हैं, उन भेदों की संख्या व नाम भी बताए हैं तथा प्रत्येक अध्ययन के अंत में उसका सारांश एवं आशय भी स्पष्ट किया गया है।

आचारांग निर्युक्ति के आधार से जिनदास गणि महत्तर ने आचारंग चूर्णि लिखी है। निर्युक्ति की गाथाओं के आधार [विशेष जानकारी के लिए वा.मो. शाह लिखित 'ऐतिहासिक नोंध' पढ़िए] पर ही चूर्णि लिखी गई है, अतः ऐसा होना स्वाभाविक भी है। चूर्णिकार ने भी निर्युक्तिवत् निक्षेप पद्धति का आधार लिया है। इसकी भाषा मुख्यतया प्राकृत प्रधान है, लेकिन विवेचन की स्पष्टता के लिए यत्र तत्र संस्कृत श्लोक भी उद्धृत किए हैं।

प्रथम श्रुतस्कंध की चूर्णि में मुख्य रूप से अनुयोग, अंग, आचार, ब्रह्म, वर्ण, आचरण, शस्त्र परिज्ञा, संज्ञा, दिक्, सम्यक्त्व, योनि, कर्म, पृथ्वी आदि षट्काय,

लोकविजय, गुणस्थान, परिताप, विहार, रति, अरति, लोभ, जुगुप्सा, गोत्र, जाति, जातिस्मरण, एषणा, देशना, बंध मोक्ष, शीतोष्ण परीषह, तत्वार्थ, श्रद्धा, जीव रक्षा, अचेलत्व, मरण संलेखना, समनोज्ञत्व, या मंत्रय, त्रिवस्त्रताह, वीर दीक्षा, देवदूष्य और स्वतंत्रता आदि का व्याख्यान किया है। द्वितीय श्रुतस्कंध का व्याख्यान करते हुए मुख्यतया निम्न विषयों का विवेचन किया गया है—अग्र, प्राण, संसक्त, पिण्डैषणा, शैय्या, ईर्या, भाषा, वस्त्र, पात्र, अवग्रह, सप्तक, सप्त सप्तक, भावना और विमुक्ति। इनका विवेचन करने का कारण यह है कि आचारांग सूत्र का प्रयोजन श्रमणों के आचार-विचार धर्म की प्रतिष्ठा करना है। अतः प्रत्येक विषय का प्रतिपादन इसी प्रयोजन को ध्यान में रखते हुए किया गया है।

आचार्य शीलांक ने आचारांग विवरण के नाम से अपनी टीका मूल सूत्र और निर्युक्ति के आधार से लिखी है। उसमें शब्दार्थ के साथ-साथ प्रत्येक विषय का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है तथा स्वकथन की पुष्टि के लिए यत्र तत्र बीच-बीच में अनेक संस्कृत प्राकृत उद्धरण भी दिए हैं, लेकिन तत्संबद्ध ग्रंथ या रचियता का नामोल्लेख नहीं किया है। भाषा शैली, सामग्री आदि सभी दृष्टियों से टीका सुबोध है।

प्रथम श्रुतस्कंध का प्रारंभ करते हुए सर्वप्रथम विवरण कार ने जिन तीर्थ की महिमा बताई है और उसके लिए जयघोष किया है तथा गंधहस्ती कृत शस्त्र परिज्ञा विवरण को अति कठिन बताते हुए आचारांग पर सरल, सुबोध, विवरण लिखने का संकल्प किया है। इसी प्रकार द्वितीय श्रुतस्कंध के प्रारंभ में पुनः मध्यमंगल करते हुए तीन श्लोक लिखे हैं तथा चतुर्चूडात्मक द्वितीय श्रुतस्कंध की व्याख्या करने की प्रतिज्ञा की है। दोनों श्रुतस्कंधों के विवरण के अंत में समाप्ति सूचक श्लोक हैं और अंत में आचारांग की टीका लिखने से प्राप्त स्वपुण्य को लोक की आचार शुद्धि के लिए प्रदान करने की भावना व्यक्त की है।

सम्पूर्ण टीकाग्रंथ बारह हजार श्लोक प्रमाण है।

आचार्य शीलांक कृत आचारांग विवरण के आधार पर चंद्रगच्छीय महेश्वर सूरि के शिष्य अजितदेव सूरि ने आचारांग दीपिका लिखी है। इसका रचना समय वि.स. १६२९ के आसपास है। टीका सरल, संक्षिप्त एवं सुबोध है। अभी इसका पूर्वार्द्ध प्रकाशित है। इस दीपिका को समझ लेने पर विवरण का अध्ययन सरलता से किया जा सकता है।

मुनि धर्मसिंह द्वारा लोक भाषा (प्राचीन गुजराती) में लिखित बालावबोध (टब्बा) अप्रकाशित है।

सूत्रकृतांग– आचारांग की तरह इस दूसरे सूत्र पर भी निर्युक्ति, चूर्णि, संस्कृत टीका और बालावबोध (लोकभाषा टीका) लिखे गए हैं। इसके निर्युक्तिकार आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय), चूर्णिकार जिनदास गणि (यह ग्रंथ अनुपलब्ध है। इसके रचयिता तत्वार्थ भाष्य पर वृहद्वृत्ति लिखने वाले आचार्य सिद्धसेन हैं, ऐसा संशोधन करने वाले विद्वानों का अभिमत है।) महत्तर संस्कृत टीकाकार शीलांकाचार्य और बालावबोधकार मुनि धर्मसिंह हैं।

निर्युक्ति में २०५ गाथाएँ हैं। रचना पद्धति के अनुसार प्रस्तुत निर्युक्ति में अनेक पदों का निक्षेप पद्धति से निक्षेप किया गया है। जैसे कि गाथा, षोडश, श्रुत स्कंध, पुरुष, विभक्ति, समाधि, मार्ग, आदान, ग्रहण, अध्ययन, पुण्डरीक, आहार, प्रत्याख्यान, सूत्र, आर्द्र आदि। इस निर्युक्ति में पर्यायवाची शब्दों की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। गाथा १८ और २० में सूत्रकृतांग शब्द का उल्लेख है। १८० क्रियावादी, ८४ अक्रियावादी, ६७ अज्ञानवादी और ३२ वैयनिक इन ३६३ वादीओं का उल्लेख इसमें है। गाथा १२७ से १३१ में गुरु शिष्य के भेद-प्रभेदों का निर्देश हैं।

गाथा ६६-६७ में पंद्रह प्रकार के परम अधार्मिक देवों के नाम गिनाए हैं तथा आगे की कुछ गाथाओं में बताया है कि ये परमाधामी नरकवासियों को किस प्रकार सताते हैं और कैसी-कैसी यातनाएँ देते हैं।

सूत्रकृतांग चूर्णि की विवेचन शैली आचारांग चूर्णि जैसी है। इसमें प्राकृत की अपेक्षा संस्कृत भाषा प्रयोग की बहुलता है और निम्नलिखित विषयों पर प्रकाश डाला गया है—मंगलाचरण, तीर्थसिद्ध संघात, विस्रसाकरण, बंधनादि परिणाम, भेदादि परिणाम, क्षेत्रादि करण, आलोचना, परिग्रह, ममता, एकात्मवाद, तज्जीवतच्छरीरवाद, अकारात्मवाद, स्कंधवाद, नियतिवाद, अज्ञानवाद, कर्तावाद, निराशावाद, वैनयिकवाद, नास्तिक मत चर्चा, सांख्यमत चर्चा, ईश्वर कर्तव्य चर्चा, स्याद्वाद, आजीवक मत निरास, गोशालक मत निरास, बौद्धमत निरास, जातिवाद निरास आदि। विभिन्न दर्शनों की चर्चा होने से इस चूर्णि को सिद्धांत की अपेक्षा चर्चा का ग्रंथ कह सकते हैं।

आचार्य शीलांक की सूत्रकृतांग टीका मूल और निर्युक्ति पर है। प्रारंभ में जिन भगवन्तों को नमस्कार करके प्रस्तुत विवरण को लिखने की प्रतिज्ञा की है। आचार्य ने टीका को सब दृष्टियों से सफल बनाने का प्रयत्न किया है और दार्शनिक विचारों को स्पष्ट करने लिए स्वतंत्र परंपरा की मान्यताओं का असंदिग्ध निरूपण किया है। लेकिन यहाँ एक बात विशेष ध्यान देने योग्य हैं, वह यह कि यत्र तत्र अनेक उद्धरण तो अवश्य दिए हैं, लेकिन उनके लेखक या ग्रंथ का नामोल्लेख नहीं किया है।

अंत में टीका का ग्रंथमान १२८५० श्लोक प्रमाण बताकर संकेत दिया है कि

यह टीका बाहरी ग्रंथ की सहायता से शीलांकाचार्य ने पूरी की एवं अपने प्रयास के पुण्य को भव्यजनों को अज्ञानान्धकार दूर करने के लिए प्रदान की है।

मुनि धर्मसिंह कृत बालावबोध अप्रकाशित है। लेकिन अनुमानतः यह कहा जा सकता है कि सूत्र एवं संस्कृत टीका में वर्णित विषय को सरल लोकभाषा में प्रस्तुत किया होगा।

स्थानांग– इस पर संस्कृत और लोकभाषा में टीकाएं लिखी गई हैं। उनके रचयिता क्रमशः श्री अभयदेवसूरि एवं मुनि धर्मसिंह हैं।

अभयदेव सूरि रचित संस्कृत टीका स्थानांग के मूल सूत्रों पर है, लेकिन शब्दार्थ तक सीमित न रहकर टीकाकार ने सूत्र संबद्ध प्रत्येक विषय का आवश्यक विवेचन किया है। वर्णन में दार्शनिक विचारों एवं सैद्धांतिक दृष्टियों का स्पष्टीकरण किया गया है, जिसमें टीकाकार की शास्त्र मर्मज्ञता, पांडित्य आदि स्पष्ट झलकते हैं। प्रारंभ में टीकाकार ने भगवान महावीर को नमस्कार करके स्थानांग का विवेचन करने की प्रतिज्ञा की है।

आचार्यश्री ने सूत्रस्पर्शी टीका में निक्षेप पद्धति का भी उपयोग किया है। उसमें निर्युक्तियों और भाष्यों की शैली स्पष्ट झलकती है। उन्होंने अपने कथन को स्पष्ट करने के लिए यत्र तत्र दृष्टांत रूप में संक्षिप्त कथानक भी दिए हैं, लेकिन जहाँ कहीं भी दार्शनिक विवेचन का प्रसंग प्राप्त हुआ, वहाँ उस पर पूर्णरूपेण विवेचन किया है। जैसे 'एगे आया' का व्याख्यान करते हुए अनेक दृष्टियों से आत्मा की एकता-अनेकता सिद्ध की है। आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व की सिद्धि करते हुए विशेषावश्यक भाष्य की एतद् विषयक गाथाएँ उद्धृत की है एवं अन्यान्य ग्रंथों के प्रमाण प्रस्तुत किए हैं। उद्धरणों में ग्रंथों या ग्रंथकारों के नामों का उल्लेख न करके जगह-जगह तथाहि, यदुक्त तथा उक्तं च आदि शब्दों का प्रयोग करके ग्रंथावतरणओं का उल्लेख किया है।

वृत्ति के अंत में आचार्य ने अपना सानुप्रासिक परिचय देते हुए बताया है कि मैंने यह टीका यशोदेव गणि की सहायता से पूर्ण की है। यह टीका वि.स. ११२० में लिखी गई। टीका का ग्रंथमान १४२५० श्लोक प्रमाण है।

लोकभाषा टीका अप्रकाशित है–

समवायांग– इसकी भी संस्कृत टीका अभयदेवसूरि द्वारा लिखी गई है। मुनि धर्मसिंह ने भी लोकभाषा टीका लिखी है, जो अप्रकाशित है।

टीका के प्रारंभ में आचार्य अभयदेवसूरि ने वर्धमान महावीर को नमस्कार किया है। प्रारंभ में समवाय का अर्थ बताया है कि समवाय में तीन पद हैं– सम् +

अव + अय। सम् का अर्थ है– सम्यक्, अव का अर्थ है–आधिक्य और अय का अर्थ है–परिच्छेद। अर्थात् जिसमें जीवाजीवादि विविध पदार्थों का सविस्तार सम्यक विवेचन है अथवा जिसमें आत्मादि नाना प्रकार के भावों का अभिधेय रूप से समवाय समवतार सम्मिलित है, वह समवाय है और वह प्रवचन पुरुष का अंगरूप होने से समवायांग है। इसमें यत्र तत्र पाठान्तर भी उपस्थित किए गए हैं और अनेक स्थानों पर प्रज्ञापना सूत्र का एवं स्थान-स्थान पर गंधहस्ती महाभाष्य का भी उल्लेख है। टीका न तो अति विस्तृत है और न अति संक्षिप्त। यह वि.स. ११२० में पाटन में लिखी गई है। इसका ग्रंथमान ३५०५ श्लोक प्रमाण है।

व्याख्या प्रज्ञप्ति– इस पर निर्युक्ति आदि टीका ग्रंथ लिखे नहीं गए हैं। कहा जाता है कि आचार्य शीलांक ने इस पर संस्कृत टीका लिखी थी, लेकिन वर्तमान में वह उपलब्ध नहीं है। आचार्य अभयदेव सूरि विरचित टीका उपलब्ध है। यह टीका मूलसूत्रों पर है एवं संक्षिप्त शब्दार्थ प्रधान है। इसमें यत्र तत्र अनेक उद्धरण अवश्य है, जिनसे अर्थ समझने में विशेष सहायता मिलती है। अनेक पदान्तर एवं व्याख्या भेद भी दिए हैं, जो विशेष महत्व के हैं।

प्रारंभ में सामान्य रूप में जिन भगवान को नमस्कार करने के अनन्तर वर्धमान, सुधर्मा, अनुयोग वृद्ध जन एवं सर्वज्ञ प्रवचन को नमस्कार किया है। उसके बाद प्राचीन चूर्णि [१] टीका एवं जीवाभिगम आदि वृत्तियों की सहायता से पंचम अंग व्याख्या प्रज्ञप्ति का विवेचन करने का संकल्प किया है। व्याख्या प्रज्ञप्ति के विविध रूपों का शब्दार्थ भी बताया है, जिनका पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है। प्रत्येक शतक की टीका के अंत में टीकाकार ने एक सुन्दर आत्मस्पर्शी श्लोक दिया है।

टीका का ग्रंथमान १८६१६ श्लोक प्रमाण है। अंत में गुरु परंपरा का परिचय दिया है और बताया है कि टीका का लेखन वि.सं. ११२८ में अणहिल पाटन नगर में समाप्त हुआ।

जिन माणिक्य गणि के शिष्य अनन्त हंस गणि के शिष्य दानशेखर ने भगवती विशेष पद व्याख्या नामक संस्कृत टीका लिखी है। उसे लघुवृत्ति अथवा विशेष वृत्ति भी कहते हैं। वृत्तिकार ने प्राचीन भगवती वृत्ति के आधार पर भगवती सूत्र (व्याख्या प्रज्ञप्ति) के कठिन पदों का व्याख्यान किया है। व्याख्यान में शब्दार्थ के साथ-साथ तत्संबद्ध विषय का विस्तृत विवेचन भी किया है।

---

१. व्याख्या प्रज्ञप्ति चूर्णि के रचियता जिनदास गणिमहत्तर है, लेकिन निश्चयात्मक रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। क्योंकि परंपरा से महत्तर रचित निम्नांकित आगमों की चूर्णियाँ मानी जाती है, निशीथ, नंदी, अनुयोग द्वार, आवश्यक, दशवैकालिक और उत्तराध्ययन।

आचार्य मलयगिरि ने इसके द्वितीय शतक पर वृत्ति लिखी है, जिसका ग्रंथमान ३७५० श्लोक प्रमाण है।

ज्ञाता धर्मकथा– इसकी संस्कृत टीका अभयदेव सूरि कृत है। प्रारंभ में भगवान महावीर को नमस्कार करके टीका लिखने का संकल्प किया गया है। प्रथम सूत्र के व्याख्यान में चम्पा नगरी का, दूसरे सूत्र की व्याख्या में पूर्णभद्र चैत्य का, तीसरे सूत्र के व्याख्यान में कोणिक राजा का और चौथे में सुधर्मा का परिचय देने के पश्चात पाँचवें सूत्र में ग्रंथ के दोनों श्रुतस्कंधों का परिचय देते हुए बताया है कि प्रथम श्रुतस्कंधों का नाम ज्ञात है और ज्ञात का अर्थ होता है उदाहरण। अर्थात् इस स्कंध में आचार आदि की शिक्षा देने के उद्देश्य से कथाओं के रूप में विविध उदाहरणों का संग्रह है। द्वितीय श्रुतस्कंध का नाम धर्म कथा है, जिसमें धर्मप्रधान कथाओं का समावेश किया गया है। अनन्तर प्रथम श्रुतस्कंध के अंतर्गत आगत उन्नीस उदाहरण कथाओं के अध्ययनों की अर्थ सहित नामावली दी गई है। इसके बाद प्रत्येक अध्ययन गत कथा की व्याख्या करके अंत में कठिन शब्दों के अर्थ और उसका फलितार्थ स्पष्ट किया है तथा उसकी पुष्टि के लिए तदर्थ गर्भित गाथाएँ उद्धृत की है।

द्वितीय श्रुतस्कंध में उदाहरणों के माध्यम से नहीं, किन्तु साक्षात् धर्मकथाओं के द्वारा ही धर्मार्थ का वर्णन किया गया है। इस द्वितीय श्रुतस्कंध में धर्म कथाओं के दस वर्ग हैं और प्रत्येक वर्ग में विविध अध्ययन है, जिनका व्याख्यान 'सर्वसुगम: शेष सूत्र सिद्धम' ऐसा लिखते हुए सिर्फ चार पंक्तियों में समाप्त कर दिया गया है।

टीका का ग्रंथमान ३८०० श्लोक प्रमाण है तथा ग्रंथ समाप्ति की तिथि वि.स. ११२० विजया दशमी है। इसकी लेखन समाप्ति भी अणहिल पाटन नगर में हुई।

उपासकदशांग– इस अंग आगम के संस्कृत टीकाकार अभयदेव सूरि हैं। लोकभाषा टीकाकार मुनि धर्मसिंह है। संस्कृत टीका सूत्रस्पर्शी है। ज्ञाता धर्म कथा की तरह इसमें भी सूत्रगत विशेष शब्दों के अर्थ को स्पष्ट किया गया है, जिससे इसका भी विस्तार अधिक नहीं है।

प्रारंभ में वर्धमान स्वामी को नमस्कार करने के बाद उपासक दशा की टीका लिखने की प्रतिज्ञा की है। उपासक दशा का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है—उपासक अर्थात् श्रमणोपासक और दशा अर्थात् दस। अर्थात् श्रमणोपासक संबंधी अनुष्ठान का प्रतिपादन करने वाले दस अध्ययन रूप सूत्र को उपासक दशा कहते हैं। इन कथाओं में आनन्द, कामदेव आदि भगवान महावीर के दस प्रमुख श्रावकों, उपासकों के चरित्र वर्णन द्वारा श्रावक धर्म का प्रतिपादन किया गया है। टीका में कहीं कहीं *व्याख्यानान्तर का भी निर्देश किया गया है। अनेक स्थानों पर अर्थ समझने के लिए* ज्ञाता धर्म कथा की व्याख्या से अर्थ समझ लेने का संकेत किया है।

श्रीमत् विजय राजेन्द्रसूरिजी (अभिधान कोशकार) महाराज ने भी उपासक दशांग सूत्र भाषान्तर बालावबोध की रचना की है, पर वह अमुद्रित है।

अन्तकृद्दशा– इसकी संस्कृत व लोकभाषा टीका क्रमशः अभयदेवसूरि और मुनि धर्मसिंह ने लिखी है। संस्कृत टीका सूत्र स्पर्शी एवं शब्दार्थ प्रधान है तथा जिन शब्दों या पदों की व्याख्या नहीं हुई है, उनकी जानकारी के लिए ज्ञाता धर्म कथा के विवरण पढ़ने का निर्देश किया है। प्रारंभ में अन्तकृत शब्द का अर्थ बताया है—अन्त अर्थात् भवान्त और कृत्त याने किए हुए अर्थात् जिन्होंने भव का अन्त किया है, उन्हें अन्तकृत कहते हैं। यह आगम दस अध्ययन युक्त नहीं है, लेकिन कुछ वर्गों में है। अतः उस पद्धति का अनुसरण करके इसका नामकरण अन्तकृद्दशा किया गया है।

अनुत्तरोपपातिक दशा– इसकी भी संस्कृत टीका सूत्रस्पर्शी एवं शब्दार्थ ग्राही है। प्रारंभ में टीकाकार अभयदेव सूरि ने अनुत्तरोपपातिक दशा का अर्थ बताया है कि अनुत्तर विमान में उत्पन्न होने वाला अनुत्तरोपपातिक कहलाता है। इसके प्रथम वर्ग में दस अध्याय हैं। इस कारण इस ग्रंथ का पूरा नाम अनुपत्तरोपपातिक है। अन्त में अपनी लघुता प्रकट करते हुए टीकाकार ने कहा है कि जिन शब्दों का अर्थतः और पर्यायतः ज्ञान न होने से कुछ त्रुटि रह गयी हो, तो सुधीजन उनका संशोधन कर लें।

प्रश्नव्याकरण– इस दसवें अंग आगम की अभय देव सूरि कृत संस्कृत टीका का ग्रंथमान ४६३० श्लोक प्रमाण है। टीका शब्दार्थ प्रधान है। द्रोणाचार्य ने इसे शुद्ध किया है। टीका के प्रारंभ में ग्रंथ की दुरुहता का संकेत किया है और अन्य आगमों के नामार्थों की तरह प्रश्नव्याकरण का भी अर्थ बताया है कि प्रश्न अर्थात् अंगुष्ठादि विधाओं का जिसमें व्याकरण अभिधान किया जाता है, उसे प्रश्न व्याकरण कहते हैं। प्रश्न व्याकरण का दूसरा नाम प्रश्न व्याकरण दशा भी है। उसके अर्थ का स्पष्टीकरण किया गया है कि प्रश्न + व्याकरण + दशा याने जिसमें प्रश्नों अर्थात् विद्या विशेषों का व्याकरण प्रतिपादन करने वाले दशा अर्थात् दस अध्ययन हैं, उसे प्रश्न व्याकरण दशा कहते हैं। वार्तमानिक प्रश्न व्याकरण सूत्र में आस्रव पंचक और संवर पंचक का प्रतिपादन उपलब्ध है। इसके कारण की ओर संकेत करते हुए टीकाकार ने बताया है कि महाज्ञानी पूर्वाचार्यों ने इस युग के पुरुषों के स्वभाव को दृष्टि में रखते हुए ही उन विद्याओं के बदले पंचास्रवों और पाँच संवरों का वर्णन किया प्रतीत होता है।

तपागच्छीय ज्ञानविमल सूरि ने भी प्रश्न व्याकरण सूत्र की टीका लिखी है। उसका नाम प्रश्न व्याकरण सुखबोधिका वृत्ति है। यह अभयदेव सूरि कृत टीका से बड़ी है। जिन पदों की व्याख्या अभयदेव सूरि ने सरल समझकर छोड़ दिया था,

उनका भी इस वृत्ति में विवेचन-किया गया है। कहीं कहीं दोनों टीकाओं के वर्णन में समान दृष्टिकोण देखने को मिलता है। यह वृत्ति वि.सं. १७९३ के कुछ ही समय पूर्व संभवतः वि.सं. १७७३ के आस-पास लिखी गयी है। ग्रंथमान ७५०० श्लोक प्रमाण है।

विपाक सूत्र– वर्धमान स्वामी को नमस्कार करने के पश्चात् संस्कृत टीकाकार अभयदेव सूरि ने विपाक वृत्ति लिखने की प्रतिज्ञा करके अपनी पूर्वकृत टीकाओं का अनुसरण करते हुए सर्वप्रथम विपाकसूत्र का अर्थ बतलाया है कि विपाक याने पुण्यपाप रूप कर्म फल और उसका प्रतिपादन करने वाला सूत्र विपाकसूत्र कहलाता है। यह श्रुत द्वादशांग रूप प्रवचन पुरुष का ग्यारहवां अंग है। टीका में यथा स्थान पारिभाषिक एवं तत्कालीन लोक प्रचलित शब्दों का संक्षिप्त एवं संतुलित अर्थ स्पष्ट किया है और अन्त में त्रुटियों को संशोधित करने के लिए विद्वज्जनों से निवेदन किया है।

इस प्रकार उपलब्ध अंग आगमों के व्याख्या ग्रंथों का परिचय देने के बाद अंगबाह्य आगामिक व्याख्या ग्रंथों का परिचय प्रस्तुत करते हैं।

औपपातिक सूत्र– जैसे अंग प्रविष्ट आगमों में आचारांग पहला आगम है, वैसे ही अंगबाह्य आगमों में औपपातिक सूत्र पहला आगम है। इसकी संस्कृत टीका आचार्य अभयदेव सूरि ने व लोक भाषा टीका मुनि धर्मसिंह ने लिखी है।

संस्कृत टीका शब्दार्थ प्रधान है और प्रारंभ में वर्धमान स्वामी को नमस्कार करके इसकी व्याख्या लिखने की प्रतिज्ञा की है एवं औपपातिक का अर्थ करते हुए कहा है कि देवों और नारकों के जन्म एवं सिद्धिगमन को उपपात कहते हैं। उपपात संबंधी वर्णन के कारण इस सूत्र का नाम औपपातिक है। यह सूत्र आचारांग का उपांग क्यों है? इस प्रश्न का सयुक्तिक कारण निर्देश करते हुए बताया है कि आचारांग के प्रथम अध्ययन शस्त्रपरिज्ञा के आद्य उद्देशक के प्रथम सूत्र 'एवमेगेसिंग नो नायं भवइ अत्थि वा में आया उववाइए...' में आत्मा का औपपातिकत्व निर्दिष्ट है और औपपातिक सूत्र में भी उपपात का विशेष वर्णन किया गया है। इस कारण यह आचारांग का उपांग कहलाता है।

टीकाकार ने यथास्थान अनेक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक, सामाजिक, प्रशासनिक एवं शास्त्रीय व लोक जीवन से संबंधित शब्दों का अर्थ स्पष्ट किया है। जैसे– जल्ल, मल्ल, मौष्टिक, विडंबक, प्लवक, लासक, नूणइल्ल, तुंबवीणिक, लंख, मंख, तालाचर, चरिक, इन्द्र, कील, स्पंदमानिक, युग्म, व्यालक, आजिनक, सूत, बूर, पीठमर्द नागर आदि। यत्र तत्र पाठान्तरों एरं मतांतरों का भी निर्देश किया गया है। अन्त में टीकाकार ने अपने नाम के साथ अपने कुल और गुरु का नाम दिया है तथा बताया है कि प्रस्तुत

वृत्ति का संशोधन द्रोणाचार्य ने अणहिल पाटण नगर में किया। टीका का मान ३१२५ श्लोक प्रमाण है।

राजप्रश्नीय– इस दूसरे उपांग की निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि व्याख्या नहीं हुई है। संस्कृत टीकाकार आचार्य मलयगिरि एवं लोकभाषा टीकाकार मुनि धर्म सिंह है।

संस्कृत टीकाकार ने प्रारंभ में वीर जिनेश्वर को नमस्कार करके बताया है कि राजा के प्रश्नों से संबंधित होने के कारण यह राजप्रश्नीय कहलाता है। प्रदेशी राजा और केशी कुमार श्रमण के बीच हुए जीवविषयक प्रश्नोत्तर आदि का वर्णन इस ग्रंथ में किये जाने से यह सार्थक नाम वाला है। यत्र तत्र जीवाभिगम मूल और टीका का उल्लेख करके उसके उदाहरण दिये हैं और सूत्रों के पाठ भेदों का भी निर्देश किया है। टीका का ग्रंथमान ३७०० श्लोक प्रमाण है।

जीवाभिगम सूत्र– इस उपांग पर चूर्णि और संस्कृत टीका लिखी गई है। चूर्णि अनुपलब्ध है। आचार्य मलयगिरि ने अपनी संस्कृत टीका में मूल सूत्र के प्रत्येक पद का व्याख्यान किया है। यत्र तत्र अनेक प्राचीन ग्रंथों व ग्रंथकारों के नामों व उनके उद्धरणों का उल्लेख किया है, जिससे ऐसे अनेक ग्रंथों व उनके रचयिताओं का ज्ञान होता है, जो वर्तमान में अज्ञात है अथवा ग्रंथ उपलब्ध नहीं है।

श्री पद्मसागर गणि ने (संवत १७००) भी जीवभिगम सूत्र पर एक सरल, सुबोध टीका ग्रंथ लिखा है।

प्रज्ञापना सूत्र– आचार्य मलयगिरि ने प्रज्ञापना वृत्ति नामक एक संस्कृत टीका ग्रंथ लिखा है। प्रारंभ में मंगलाचरणात्मक चार श्लोकों में क्रमशः भगवान महावीर, जिन, प्रवचन और गुरु को नमस्कार करके टीका लिखने की प्रतिज्ञा की है। प्रज्ञापना का शब्दार्थ बताते हुए कहा है कि जिसके द्वारा जीवादि पदार्थों का भली प्रकार से ज्ञान किया जा सकता है, उसे प्रज्ञापना कहते हैं। उसे समवायांग में प्रतिपादित करते हुए अपने पूर्ववर्ती टीकाकार आचार्य हरिभद्र को नमस्कार किया है और कहा है कि मैं उनके द्वारा कृत प्रज्ञापना सूत्र के विषय पदों का आधार लेकर यह टीका लिखने में समर्थ हो सका हूँ और एक छोटा मोटा टीकाकार बन गया हूँ। वृत्ति का ग्रंथमान १६००० श्लोक प्रमाण हैं।

आचार्य हरिभद्र सूरि ने प्रज्ञापना प्रदेश व्याख्या नामक टीका लिखी है, जिसके प्रथम पद में जीव प्रज्ञापना और अजीव प्रज्ञापना का वर्णन करते हुए एकेंद्रिय आदि जीवों का विस्तार से वर्णन है। द्वितीय पद की व्याख्या में पृथ्वीकाय आदि और द्वीन्द्रियादि के स्थानों का, तृतीय पद की व्याख्या में काय, अल्पबहुत्व, वेद, लेश्या, इन्द्रिय आदि दृष्टियों से जीव विचार, लोकसंबंधी अल्पबहुत्व, आयुर्बंध का

अल्पबहुत्व, पुद्गल का अल्प बहुत्व आदि विषयों का विवेचन किया है। चतुर्थ पद में नारकों की स्थिति का, पंचम पद में नारक पर्याय का अवगाह, कर्मस्थिति, जीव पर्याय आदि का विश्लेषण है। छठे और सातवें पद की व्याख्या में संज्ञा के स्वरूप का, नवम पद की व्याख्या में विविध योनियों का दशम पद की व्याख्या में नरकभूमियों की चरम और अचरम दृष्टि का, ग्यारहवें पद की व्याख्या में भाषा के स्वरूप का और बारहवें पद की व्याख्या में औदारिकादि शरीरों के स्वरूप का व्याख्यान किया गया है। इसी प्रकार तेरहवे से लेकर तीसवें पद तक की व्याख्या में जीव और अजीव के विविध परिणामों का, कषाय, इन्द्रिय, प्रयोग, लेश्या, कायस्थिति, अंतक्रिया, अवगाहना- संस्थान आदि क्रिया, कर्मप्रकृति, कर्म बंध, आज्ञा परिणाम, उपयोग, पश्यता, संज्ञा, संयम, अवधि, प्रवीचार, वंदना और समुद्घात का विवेचन किया है। उपयोग और पश्यता में भेद रेखा खींचते हुए बताया है कि पश्यता में त्रैकालिक अवबोध होता है, जबकि उपयोग में वर्तमान और त्रिकाल दोनों का अवबोध समाविष्ट है। यही कारण है कि साकार उपयोग आठ प्रकार है, जबकि साक्षात पश्यता छह प्रकार की है। साकार पश्यता में सांप्रतकाल विषय का मतिज्ञान और मतिअज्ञान रूप साकार उपयोग के दो भेदों का समावेश नहीं होता।

अभयदेव सूरि ने प्रज्ञापना सूत्र के तृतीय पद पर संग्रहणी लिखी हैं, जो शब्दार्थ प्रधान होने के साथ-साथ संक्षिप्त सारांश की जानकारी कराने के लिए उपयोगी हैं।

मुनि धर्मसिंह ने लोकभाषा में प्रज्ञापना का यंत्र ग्रंथ लिखा है, जो अप्रकाशित है।

अभिधान कोशकार श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी महाराज ने भी प्रज्ञापनोपांग सूत्र सटीक (त्रिपाठ) की रचना की है, जो अप्रकाशित है।

सूर्य प्रज्ञप्ति– आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय) ने इस पर निर्युक्ति लिखी थी, लेकिन वह अनुपलब्ध है। आचार्य मलयगिरि ने सूर्य प्रज्ञप्ति विवरण नामक संस्कृत टीका लिखी है। ग्रंथमान लगभग ९५०० श्लोक प्रमाण है।

टीका प्रारंभ करते हुए वीर जिनेश्वर को नमस्कार करके यह उल्लेख किया है कि भद्रबाहु सूरि कृत निर्युक्ति के नष्ट हो जाने के कारण मैं केवल मूलसूत्र का ही व्याख्यान करूँगा। पश्चात् प्रथम सूत्र की उत्थानिका में सूत्रस्पर्शी व्याख्यान करते हुए मिथिला नगरी, मणिभद्र चैत्य, जितशत्रु राजा, धारिणी देवी और महावीर जिन का धाराप्रवाह लालित्य पूर्ण वर्णन किया है। द्वितीय सूत्र की व्याख्या में इन्द्रभूति गौतम का, तृतीय सूत्र की वृत्ति में सूर्य प्रज्ञप्ति के मूल विषय को बीस प्राभृतों में विवेचित किया है। उनमें सूर्य और चन्द्र के परिक्रमण, सूर्य का प्रकाश, संस्थान, संवत्सर आदि,

सूर्य के प्रकाश क्षेत्र का परिमाण, चन्द्रादि का शीघ्र गति विषयक निर्णय, ज्योत्स्ना लक्ष्य आदि का वर्णन है। इनमें से पहले प्राभृत में आठ व दूसरे और दसवे में बाईस उप प्राभृत हैं। आगे की वृत्ति में इन्हीं सब प्राभृतों एवं उपप्राभृतों का विशद वर्णन है, जो खगोल शास्त्रियों के लिए विशेष उपयोगी एवं उपादेय है।

जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति– इसकी चूर्णि तथा संस्कृत और लोकभाषा में टीकाएँ लिखी गई है। चूर्णि एवं मलयगिरि कृत संस्कृत टीका अनुपलब्ध है तथा लोक भाषा टीका अप्रकाशित है। इनके अतिरिक्त हीरविजय सूरि ने संवत १६३९ में, पुण्य सागर ने संवत १६४५ में और शांति चन्द्र गणि ने संवत १६६० में टीकाएँ लिखी हैं। लेकिन वे अभी तक देखने में नहीं आयी है। श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरिजी महाराज ने जंबूद्वीप बीजक (सूची) तैयार किया है, पर वह अभी तक अमुद्रित है।

चन्द्र प्रज्ञप्ति– इस पर आचार्य मलयगिरि ने संस्कृत टीका लिखी है, जिसका ग्रंथमान ९५०० श्लोक प्रमाण है। वह अभी तक अप्रकाशित होने से यहाँ वर्ण्य विषय का संकेत नहीं किया है।

निरयावलिका, कल्पावतंसिका, पुष्पिका, पुष्पचूला और **वृष्णिदशा** इन पाँच उपांगों पर श्री चन्द्रसूरि ने संस्कृत टीका लिखी है। इस टीका के अतिरिक्त इन सूत्रों की और कोई टीका नहीं है। टीका संक्षिप्त एवं शब्दार्थ प्रधान है। प्रारंभ में आचार्य ने भगवान पार्श्वनाथ को प्रणाम किया है। टीका के अन्त में रचयिता के नाम, गुरु, लेखन समय, स्थान आदि का उल्लेख नहीं है। मुद्रित प्रति के अन्त में श्री चन्द्र सूरि के नाम का उल्लेख है। टीका का ग्रंथमान ६०० श्लोक प्रमाण है।

श्री चन्द्रसूरि का दूसरा नाम पार्श्वदेव गणि है। ये शीलभद्र सूरि के शिष्य थे। इन्होंने विक्रम संवत ११७४ में निशीथ सूत्र की विशेष चूर्णि के बीसवें उद्देश्य की व्याख्या की है। इसके अतिरिक्त निम्न ग्रंथों पर भी इनकी टीकाएँ है- श्रमणोपासक, प्रतिक्रमण (आवश्यक), नंदी, जीतकल्प बृहच्चूर्णि, निरयावलिका और अंतिम पाँच उपांग।

मुनिधर्म सिंह ने इन पाँचों उपांगों की लोकभाषा टीका लिखी है, लेकिन अप्रकाशित है।

व्यवहार सूत्र– इस सूत्र में साध्वाचार के नियमों का वर्णन है। अतः श्रमणाचार का सरल, सुबोध शैली में विवेचन करने एवं ग्रंथगत आशय को स्पष्ट करने के लिए अनेक आचार्यों ने युगानुकूल अपनी-अपनी रचना पद्धतियों में व्याख्या ग्रंथ लिखे हैं।

सर्व प्रथम आचार्य भद्रबाहु द्वितीय ने सूत्र के आशय को स्पष्ट करने के लिए

व्यवहार निर्युक्ति लिखी है। व्यवहार और बृहत्कल्प ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। बृहत्कल्प सूत्र में श्रमणजीवन की साधना के आवश्यक विधिविधान, दोष, अपवाद आदि का निर्देश है, वैसे ही आवश्यक सूत्र में भी इन्हीं विषयों से संबंधित उल्लेख है। यही कारण है कि मुनि आचार का वर्णन व्यवहार निर्युक्ति में उपलब्ध है। अत: इसके वर्ण्य विषय का संक्षिप्त परिचय बृहत्कल्प निर्युक्ति के परिचय में दिया जा रहा है। ये दोनों निर्युक्तियाँ परस्पर पूरक है।

व्यवहार निर्युक्ति स्वतंत्र रूप से नहीं, किन्तु भाष्य मिश्रित स्थिति में मिलती है। निर्युक्ति का आधार लेकर उत्तरवर्ती काल में व्यवहार भाष्य की रचना हुई। इसके प्रणेता कौन है ? इस प्रश्न की जानकारी उपलब्ध नहीं है। भाष्य में दस उद्देशक हैं। भाष्य प्रारंभ करने की पूर्व पीठिका में भाष्यकार ने व्यवहार, व्यवहारी और व्यवहर्तव्य का निक्षेप पद्धति से स्वरूप वर्णन किया है और कहा है कि जो स्वयं व्यवहार का ज्ञाता है, यह गीतार्थ है तथा जिसे व्यवहार का ज्ञान नहीं वह अगीतार्थ है।

अगीतार्थ के साथ कोई व्यवहार नहीं करना चाहिये, क्योंकि उचित व्यवहार करने पर भी वह यही समझेगा कि मेरे साथ उचित व्यवहार नहीं किया गया। अत: गीतार्थ के साथ व्यवहार करना चाहिये। व्यवहार में दोषों की संभावना रहती है, अत: उनके परिमार्जन के लिए प्रायश्चित की आवश्यकता को ध्यान में रख कर भाष्यकार ने प्रायश्चित के अर्थ, भेद, निमित्त, अध्ययन विशेष आदि का विवेचन किया है। यहाँ प्रायश्चित का वही अर्थ किया गया है, जो जीतकल्प में उपलब्ध है। प्रतिसेवना आदि चारों प्रकार के दोषों का स्वरूप एवं उनसे संबंधित प्रायश्चितों का अनेक प्रकार के भेद-प्रभेदों के साथ विचार किया गया है। अनेक बातों को स्पष्ट करने के लिए यथा योग्य दृष्टान्त भी दिये हैं।

पीठिका की समाप्ति के पश्चात् प्रथम उद्देश्य में प्रत्येक सूत्र के विशिष्ट शब्दों का निक्षेप पद्धति से अर्थ दिया गया है और कहा है कि अपने दोष गुरु के समक्ष प्रकट कर देने चाहिये। इससे आर्जव, विनय, निर्मलता आदि अनेक गुणों की वृद्धि होती है।

प्रायश्चित के विविध विधानों की ओर संकेत करते हुए यह कहा है कि कपट पूर्वक आलोचना करने वाले के लिए कठोर प्रायश्चित विधेय है। अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार और अनाचार इन चार प्रकार के आधाकर्मादि विषयक अतिचारों के लिए भिन्न-भिन्न प्रायश्चितों का विधान किया गया है। इसी प्रकार के और दूसरे आचार संबंधी विधानों का विचार प्रथम उद्देश्य में है।

द्वितीय उद्देश्य के प्रथम सूत्र की सूत्रस्पर्शी व्याख्या में भाष्यकार ने 'द्वि',

'साधर्मिक' और 'विहार' शब्द का निक्षेप पद्धति से विवेचन किया है। इनमें से किसके लिए कितने निक्षेप हो सकते हैं, उनकी जानकारी दी है। तृतीय उद्देश में गण धारण की इच्छा करने वाले भिक्षु की योग्यता अयोग्यता का निरूपण किया है। वर्णन की पद्धति निक्षेप प्रधान है। प्रवर्तिनी के गुणों का वर्णन करते हुए साध्वियों की दुर्बलताओं का भी चित्रण किया है। चतुर्थ उद्देश में मुख्य रूप से साधुओं के विहार विषयक विधि-विधान का वर्णन है। पंचम उद्देश में साध्वियों के विहार के नियमों पर प्रकाश डाला गया है। प्रवर्तिनी आदि विभिन्न पदों को दृष्टि में रखते हुए विविध विधानों का निरूपण किया गया है। षष्ठ उद्देश में आहार शुद्धि के कल्प्य, अकल्प्य संबंधी विचारों, अगीतार्थ साधुओं के साथ संयोग संबंधों व दुष्कर्म विषयक प्रायश्चितों का संकेत किया है। आहार शुद्धि के कल्प्य-अकल्प्य के बारे में बताया है कि साधु को अपने संबंधी के यहाँ से आहार आदि ग्रहण करने की इच्छा होने पर अपने से वृद्ध-स्थविर आदि की आज्ञा लिए बिना वैसा करना अकल्प्य है। सप्तम उद्देश में साध्वियों के आचार विषयक नियमोंपनियमों का विचार किया गया है। अष्टम उद्देश में शयनासन व आहार करने के बारे में संकेत किया है। नवम उद्देश में मुख्य रूप से साधुओं की विविध पडिमाओं का विवेचन है। दशक उद्देश में यवमध्य प्रतिमा और वज्रमध्य प्रतिमा की विधि पर विशेष रूप से विचार किया गया है। पाँच प्रकार के व्यवहार[१] का विस्तृत विवेचन करते हुए बाल दीक्षा की विधि तथा दस प्रकार की सेवा का और उससे होने वाली महानिर्जरा का भी निरूपण है। अन्त में तीन प्रकार की स्थविर भूमि, तीन प्रकार की शैक्षक भूमि, आठ वर्ष से कम आयु वाले की दीक्षा का निषेध, आचार प्रकल्प (निशीथ) तथा सूत्रकृत आदि अन्य सूत्रों के अध्ययन की योग्यता आदि का विचार किया गया है।

आचार्य मलयगिरि ने मूल सूत्र, निर्युक्ति एवं भाष्य के आधार से व्यवहार विवरण नाम से बृहत टीका संस्कृत में लिखी है। टीका में उन्हीं बातों का विस्तार से वर्णन है, जिनका भाष्य में निरूपण किया गया है। प्रारंभ में नेमिनाथ भगवान, अपने गुरु और चूर्णिकार को नमस्कार करके विवरण लिखने की प्रतिज्ञा की है। विवरण का ग्रंथमान ३४६२५ श्लोक प्रमाण है। लोकभाषा टीका मुनि धर्मसिंह ने लिखी है, पर वह अप्रकाशित है।

बृहत्कल्प– आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय) ने इसकी निर्युक्त लिखी है। यह निर्युक्ति स्वतंत्र रूप में नहीं, अपितु भाष्य मिश्रित अवस्था में प्राप्त होती है। इसमें सर्व प्रथम तीर्थंकर भगवंतों को नमस्कार किया गया है। उसके बाद ज्ञान के विविध भेदों का

---

१. आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत ये व्यवहार के पाँच भेद हैं।

निर्देश है और कहा है कि ज्ञान और मंगल में कथंचित भेदाभेद है। मंगल के नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव ये चार प्रकार है। इस प्रकार मंगल का निक्षेप पद्धति से व्याख्यान करने के साथ ज्ञान के भेदों की चर्चा की गयी है। इसी प्रकार निर्युक्ति विधा के अनुसार अन्यान्य विशेष शब्दों का निक्षेप पद्धति से विचार किया गया है। जैसे– ताल, प्रलंब, ग्राम, नगर, खेट, कर्वरक, यडम्ब, पत्तन, निवेश, संबाध, उपाधि, चर्मकल्प, कंटक आदि।

बृहत्कल्प पर लघु और बृहत् ये दो भाष्य लिखे गये हैं। लेकिन बृहद्भाष्य अपूर्ण उपलब्ध है, जिसमें पीठिका और प्रारंभ में दो उद्देश्य पूर्ण है और तीसरा अपूर्ण।

बृहत्कल्प लघुभाष्य के प्रणेता संघदास गणि क्षमा श्रमण है। उसमें सूत्र के पदों का सुविस्तृत विवेचन किया गया है और उसे छह उद्देशों में विभक्त किया है. प्रारंभ में ८०५ गाथाओं की एक सुविस्तृत पीठिका है। नामतः लघु भाष्य होते हुए भी इसमें ६४९० गाथाएँ हैं। इस भाष्य में प्राचीन भारत की कुछ महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक सामग्री भी सुरक्षित है। उसका अर्वाचीन लेखक अपने लेखन कार्य में उपयोग करते हैं। जैसा कि डॉ. मोतीचंद ने अपनी पुस्तक 'सार्थवाह' (प्राचीन भारत की पथ प्रद्धति) में सार्थवाह का परिचय देने की दृष्टि से इस भाष्य का उपयोग किया है।

पीठिका में विशेषावश्यक भाष्य की भाँति प्रारंभिक गाथाओं में मंगलाचरण की चर्चा की है। 'मंगल' पद के निक्षेप, मंगलाचरण का प्रयोजन, आदि मध्य और अंत में 'मंगल' करने की विधि आदि विषयों की चर्चा करने के बाद नंदी-ज्ञानपंचक का विवेचन किया है। प्रत्येक उद्देश में विवेचनीय विषयानुसार सूत्रों का वर्गीकरण करके उसके अनुसार विषय का प्रतिपादन किया है। संक्षेप में बृहत्कल्प लघुभाष्य के परिचय में इतना ही कहा जा सकता है कि इसमें जैन साधु-साध्वियों, श्रमण-श्रमणियों के आचार-विचार का अत्यंत सूक्ष्म और सतर्क विवेचन किया गया है। कुछ ऐसे भी स्थल हैं, जो मनोवैज्ञानिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। साथ ही इसमें तत्कालीन भारत की सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनीतिक आदि परिस्थितियों पर प्रकाश डालने वाली सामग्री भी प्रचुरता से उपलब्ध होती है, जो इतिहासवेत्ताओं एवं सांस्कृतिक अध्ययन करने वालों को मार्गदर्शन का काम करती है।

बृहत्कल्प चूर्णि मूलसूत्र और लघुभाष्य के आधार पर लिखी गई है। उसकी भाषा संस्कृत मिश्रित प्राकृत है। चूर्णि में भी भाष्य की तरह पीठिका और छह उद्देश एवं भाष्य के भावों का विस्तार करने के साथ-साथ कहीं-कहीं तात्विक विषयों की भी चर्चा की गई है। ग्रंथ में प्रणेता का नाम नहीं होने से लेखक के नाम का निर्धारण करना शक्य नहीं है। ग्रंथमान ५३००० श्लोक प्रमाण है।

बृहत्कल्प की संस्कृत टीका भद्रबाहुकृत निर्युक्ति और लघु भाष्य पर आधारित है। वृत्तिकार मलयगिरि भाष्य गाथा ६०६ तक अपनी टीका लिख सके और शेष ग्रंथ की टीका आचार्य क्षेमकीर्ति ने पूर्ण की। टीका में प्राकृत गाथाओं के साथ-साथ प्राकृत कथानक भी उद्धृत किए गए हैं। वृत्ति के अंत में प्रशस्ति है। उसके अनुसार आचार्य क्षेमकीर्ति के गुरु का नाम विजयचंद्र सूरि था। विजयचंद्रसूरि आचार्य जगच्चन्दसूरि के शिष्य थे। आचार्य क्षेम कीर्ति के वज्रसेन और पद्मचन्द्र ये दो गुरु भाई थे। वृत्ति की समाप्ति संवत् १३३२ ज्येष्ठ शुक्ला दशमी को हुई थी। इस विशाल वृत्ति का ४२६०० श्लोक प्रमाण ग्रंथमान है।

श्री सौभाग्य सागर ने भी बृहत्कल्प पर एक टीका ग्रंथ लिखा है।

बृहत्कल्प और व्यवहार इन दोनों सूत्रों का वर्णन एक दूसरे का पूरक है। जो वर्णन एक में नहीं आया या हो सका, उसका विवेचन दूसरे में किया गया है। अतः साध्वाचार की पूरी जानकारी के लिए एवं उनका अनुसंधान मिलाने के लिए मूल ग्रंथों के साथ-साथ आवश्यक निर्देशों व स्पष्टीकरण के लिए दोनों के टीकाग्रंथ देखने चाहिए।

मुनि धर्मसिंह ने इसकी लोकभाषा टीका लिखी है।

दशाश्रुतस्कंध– इस सूत्र की निर्युक्ति, चूर्णि और लोकभाषा टीका लिखी गई है। निर्युक्ति के रचयिता भद्रबाहु (द्वितीय) हैं। प्रारंभ में निर्युक्तिकार ने दशाकल्प और व्यवहार सूत्र के कर्ता चरम सकल श्रुतज्ञानी प्राचीन प्रोत्रीय भद्रबाहु को नमस्कार किया है। इसके बाद एक और दश का निक्षेप पद्धति से व्याख्यान करके दशा श्रुत स्कंध के दस अध्ययनों के अधिकारों का निर्देश किया है। प्रथम अध्ययन असमाधि स्थान की निर्युक्ति में द्रव्य व भाव समाधि का स्वरूप बताया है एवं स्थान के नाम, स्थापना आदि पंद्रह निक्षेपों का उल्लेख किया है। द्वितीय अध्ययन शवल की निर्युक्ति में शवल का नामादि चार निक्षेपों से व्याख्यान किया है। तृतीय अध्ययन की निर्युक्ति में आशातना की निक्षेप पद्धति से व्याख्या की है। चतुर्थ अध्ययन गणि संपदा में गणि और संपदा पदों का निक्षेपपूर्वक विचार किया है। इसी प्रकार पंचम आदि दस अध्ययन पर्यन्त प्रत्येक विषय का अर्थ व उसके भेद-प्रभेद बताते हुए निक्षेप पद्धति से व्याख्यान किया है।

दशाश्रुतस्कंध चूर्णि मुख्यतया प्राकृत भाषा में है। यत्र तत्र संस्कृत शब्दों का अथवा वाक्यों का भी प्रयोग हुआ है। चूर्णि का आधार मूलसूत्र एवं निर्युक्ति है। प्रारंभ में परंपरागत मंगल की उपयोगिता पर विचार करने के अनन्तर निर्युक्ति गाथा का व्याख्यान किया है। व्याख्यान शैली सरल है। कहीं-कहीं मूलसूत्र पाठ एवं चूर्णि संमत पाठ में अन्तर दिखाई देता है।

अभिधान राजेन्द्र कोशकार विजय राजेन्द्र सूरिजी महाराज ने भी एक दशाश्रुत स्कंध चूर्णि लिखी है, जो अप्रकाशित है।

मुनि धर्मसिंह कृत लोकभाषा टीका अप्रकाशित है। उपाध्याय श्री आत्मारामजी ने 'दशाश्रुत स्कंध' गणपति गुण प्रकाशिका नाम से हिन्दी में व्याख्या लिखी है, जो जैन शास्त्रमाला कार्यालय लाहौर से सन् १९३६ में प्रकाशित हुई थी।

इसी दशाश्रुत स्कंध के आठवें अध्ययन का नाम 'कल्पसूत्र' भी है। यह अध्ययन एक स्वतंत्र ग्रंथ बन गया है। इस पर जितने व्याख्या ग्रंथ लिखे गए हैं, उतने संभवतः अन्य किसी ग्रंथ पर नहीं लिखे गए हैं। इसके निर्युक्ति, चूर्णि, संस्कृत टीका और लोकभाषा अनुवाद प्रकाशित हुए हैं और प्रकाशित हो रहे हैं।

निर्युक्ति और चूर्णि का तो मूल ग्रंथ के प्रसंग में उल्लेख किया जा चुका है और संस्कृत टीकाओं में से कल्पसूत्र कल्प प्रदीपिका टीका विजय सेन सूरि के शिष्य संघ विजय गणि ने वि.स. १६७४ में लिखी और विक्रम संवत् १६८१ में कल्याण विजय सूरि और धन विजय गणि ने इसका संशधन किया। वृत्ति का ग्रंथमान ३२५० श्लोक प्रमाण है।

कल्पसूत्र सुबोधिका टीका वृत्ति रामविजय के शिष्य श्री विजय के अनुरोध पर तपागच्छीय कीर्ति विजय गणि के शिष्य जिन विजय उपाध्याय ने वि.स. १६९६ में लिखी है एवं भाव विजय ने संशोधन करके उसे शुद्ध किया है। टीका सरल एवं सुबोध है। ग्रंथमान ५४०० श्लोक प्रमाण है।

कल्पसूत्र कल्पकौमुदी वृत्ति तपागच्छीय मुनि धर्मसागर गणि के प्रशिष्य एवं श्रुतसागर गणि के शिष्य शांतिसागर गणि ने वि.स. १७०७ में लिखी है। यह शब्दार्थ प्रधान है एवं इसका ग्रंथमान ३७०० श्लोक प्रमाण है। प्रारंभ में वर्धमान जिनेश्वर को नमस्कार किया गया है और अंत में वृत्ति रचना के समय, स्थान आदि का निर्देश किया गया है। प्रशस्ति में तपागच्छ प्रवर्तक जगच्चंद्र सूरि से लगाकर शांतिसागर तक की परंपरा के गुरु शिष्यों की गणना दी है।

कल्पसूत्र टिप्पणक आचार्य पृथ्वीचंद्र सूरि ने तैयार किया है। ये देवसेन गणि के शिष्य थे। देवसेन गणि के गुरु यशोभद्र सूरि थे।

अभिधान राजेन्द्र कोशकार श्री राजेन्द्र सूरिजी ने कल्पसूत्रार्थ प्रबोधिनी के नाम से संस्कृत भाषा में कल्पसूत्र की व्याख्या की है। कल्पसूत्र की इतनी सरल, विस्तृत और रोचक टीका दूसरी नहीं है। गद्य कवीना निकषं इस टीका में सही अर्थ में सिद्ध हुआ है।

श्री संघ के अत्याग्रह[1] से इन्होंने श्रीकल्प सूत्र की बालावबोध वार्ता लिखी। यह टीका गुजराती भाषा में और देवनागरी लिपि में सचित्र प्रकाशित है। असल में कल्पसूत्र की यह टीका एक ऐसी कृति है, जिसे उपन्यास की उत्कंठा के साथ पढ़ा जा सकता है। इसमें वे सारी विशेषताएँ हैं जो एक माता में हो सकती है। श्रीमद् का मातृत्व इसमें उभर-उभरकर अभिव्यक्त हुआ है।

टीका के प्रारंभ में श्रीमद् ने अपना आकिंचन्य प्रकट करते हुए लिखा है–हुँ मंदमति, मूर्ख, अज्ञानी, महाजड़ छतां पण श्रीसंघ नी समझ दक्ष थई ने आ कल्पसूत्रनी व्याख्या करवानु साहस करु छु, व्याख्यान करवाने, उजमाल थयो छु, ते सर्व श्री सद्गुरुगम नो प्रसाद अने चतुर्विध श्री संघनुं सांनिध्यपणुं जाणवु जेम अन्य शासन मां कहेलुं छे के श्री रामचंद्रजीनी सेना ना वांदराए म्होटा म्होटा पाषाण लई ने समुद्र मां नाख्या ते पथरा पेति पण तर्या अने लोको ने पण तार्या ते कई पाषाण नो तथा समुद्र नो तथा वांदराओ नो प्रताप जाणवो नहीं, परंतु ते प्रताप श्रीरामचंद्रजी नो जाणवो केम के पत्थर नो तो एवो स्वभाव छे के जे पोते पण बूड़े अने आश्रय लेनार ने पण बूड़ाडे तेम हुं पण पत्थर सदृश छतां श्री कल्पसूत्र नी व्याख्या करुं छु, तेमां माहरो काई पण गुण जाणवो नहीं।

मुनि धर्मसिंह ने भी कल्पसूत्र की लोकभाषा टीका लिखी है–

निशीथ सूत्र– इसकी निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और लोकभाषा टीका इन चार प्रकार के व्याख्या ग्रंथों के प्रमाण उपलब्ध हैं। इसकी निर्युक्ति तो आचारांग निर्युक्ति की अंगरूप है, लेकिन वर्तमान में निशीथ भाष्य में समाविष्ट रूप में उपलब्ध है। भाष्य में लगभग ६५०० गाथाएँ हैं।

---

१. जब श्रीमद् विजय राजेन्द्रसूरि से 'कल्पसूत्र' की बालावबोध टीका करने का निवेदन किया गया, तब उन्होंने यही कहा था कि पण्डित ज्ञान विमल सूरि की आठ ढाल वाली टीका है, अतः अब इसे और सुगम करने की आवश्यकता नहीं है। इस पर श्री संघ की ओर से आए हुए लोगों ने कहा–"श्री पूज्य ! इस ग्रंथ में थविरावली तथा साधुसमाचारी नहीं है। अतः एक व्याख्यान कम है तथा अन्य बातें भी संक्षेप में कही गई है। अतः यह ग्रंथ अधूरा है। कहा भी है कि जो ज्ञान अधूरा है, वह ज्ञान नहीं है, जो आधा पढ़ा है, वह पढ़ा हुआ नहीं है, अधूरी रसोई रसोई नहीं है, अधूरा वृक्ष फलता नहीं है, अधूरे वृक्ष में पके फल की भाँति स्वाद नहीं होता, इसलिए सम्पूर्णता चाहिए। आप महापुरुष हैं, परम उपकारी हैं। अतः श्रीसंघ पर कृपा दृष्टि करके हम लोगों की अर्जी कबूल कीजिए। (प्र.पृ. ६)। इसे सुनकर श्रीमद् ने श्रावकों के माध्यम से ४-५ ग्रंथगारों से काफी प्राचीन लिखित चूर्णि, निर्युक्ति, टीकादि की दो चार शुद्ध प्रतियाँ प्राप्त की और कल्पसूत्र की बालावबोध टीका का सूत्रपात किया।
–श्री कल्पसूत्रस्य बालावबोधिनी वार्ता : एक अध्ययन डॉ. नेमीचंद जैन

इसकी चूर्णि का नाम निशीथ विशेष चूर्णि है। उसके कर्ता श्री जिनदास गणि हैं। चूर्णि में मूलसूत्र निर्युक्ति एवं भाष्य गाथाओं का विवेचन किया गया है। सर्वप्रथम अरिहंतादि को नमस्कार किया है तथा निशीथ का दूसरा नाम प्रकल्प भी बताया है।

पीठिका के प्रारंभ में चूलाओं का विवेचन करते हुए बताया है कि वें छह प्रकार की होती हैं। इसके बाद आचार का स्वरूप बतलाते हुए आचार, अग्र, प्रकल्प, चूलिका और निशीथ इन पाँच वस्तुओं का निर्देश करके निक्षेप पद्धति से विचार करते हुए निशीथ का अर्थ बताया है।

निशीथ का अर्थ है अप्रकाश अर्थात् अंधकार। लोक में भी निशीथ का प्रयोग रात्रि, अंधकार के लिए होता है। इसी प्रकार निशीथ के कर्मपंक निषूदन आदि दूसरे भी अनेक अर्थ हैं। भावपंक का निषूदन तीन प्रकार का होता है—क्षय, अपक्षय और क्षयोपक्षय जिसके द्वारा अष्टविध कर्मपंक शांत-नष्ट किया जाए, वह निशीथ है। अप्रकाशित वचनों के निर्णय के लिए यह निशीथ सूत्र हैं।

पीठिका की समाप्ति में इस बात का विचार किया गया है कि इस पीठिका का सूत्रार्थ किसे देना चाहिए और किसे नहीं। अबहुश्रुत आदि निषिद्ध पुरुषों को देने से प्रवचन घात होता है। अतः बहुश्रुत आदि सुयोग्य पुरुषों को ही इसका सूत्रार्थ देना चाहिए। इसके बाद सूत्र के बीस उद्देशों का विवेचन प्रारंभ होता है।

ग्रंथ के बीस उद्देशों के वर्ण्य विषय का उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है। तदनुसार चूर्णिकार ने उन-उन विषयों की व्याख्या की है। विवेचन को स्पष्ट करने के लिए निर्युक्ति, भाष्य गाथाओं एवं उनकी शैली का भी अनुकरण किया है। अंत में चूर्णिकार ने सांकेतिक अक्षरों के माध्यम से अपने नाम का उल्लेख किया है।

निशीथ चूर्णि के बीसवें उद्देश पर श्री चंद्रसूरि ने 'निशीथ दुर्ग पद व्याख्या' नामक संस्कृत टीका लिखी है, जो चूर्णि के कठिन अंशों को सरल सुबोध बनाने के लिए लिखी गई है। इस व्याख्या का अधिक अंश विविध प्रकार के मासों के अंग, दिनों की गिनती, आदि से संबंधित होने के कारण नीरस है। अंत में व्याख्याकार ने अपना परिचय एवं रचना समय का निर्देश किया है।

दशवैकालिक सूत्र– यह सूत्र श्रमण आचार की सारगर्भित जानकारी कराने वाला होने से इस पर अनेक व्याख्याकारों ने अपने व्याख्या ग्रंथ लिखे हैं। आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय) कृत दशवैकालिक निर्युक्ति पहला व्याख्या ग्रंथ है।

ग्रंथ के प्रारंभ में सर्वप्रथम निर्युक्तिकार ने सर्व सिद्धों को नमस्कार करके दशवैकालिक निर्युक्ति रचने की प्रतिज्ञा की है। अनन्तर मंगल पद के विषय में बताया है कि ग्रंथ के आदि, मध्य और अंत में विधिपूर्वक मंगल करना चाहिए। इसके अलावा मंगल के अर्थ, भेद, उपयोगिता आदि का विश्लेषण किया है।

दशवैकालिक शब्द का व्याख्यान करने के प्रसंग में विकाल और काल का निक्षेप पद्धति से विचार किया है। इसी तरह ग्रंथ के दस अध्ययनों में एवं चूलिकाओं में आगत प्रत्येक विशिष्ट शब्द, पद की निक्षेप करके व्याख्या की है। कतिपय विशेष पदों व शब्दों के नाम इस प्रकार हैं— ओघ, द्रुम, पुष्प, धर्म, अहिंसा, संयम, तप, हेतु, उदाहरण, पिण्ड, एषणा, धान्य, स्थावर, वाक्य शुद्धि, प्रणधि, भिक्षु, रति आदि।

निर्युक्ति का अनुसरण करके जिनदास गणि महत्तर ने दशवैकालिक चूर्णि लिखी है। वह द्रुमपुष्पिका आदि दस अध्ययन एवं दो चूलिका इस प्रकार बारह अध्ययनों में विभक्त है। भाषा मुख्यतया प्राकृत है। प्रथम अध्ययन में निक्षेप पद्धति से मुख्य-मुख्य शब्दों का विचार करके धर्म की प्रशंसा का वर्णन किया गया है। द्वितीय अध्ययन में प्रतिपाद्य विषय धर्मस्थित व्यक्ति को धृति कराना है। अतः इसमें श्रमण के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए पूर्व, काम, पद, शीलांग, सहस्र आदि पदों का विवेचन किया है। तृतीय अध्ययन में दृढ़ धृति वाले का, चतुर्थ अध्ययन में जीव, अजीव, चारित्र, धर्म, यातना, उपदेश, धर्मफल आदि का, पंचम अध्ययन में साधु के उत्तर, गुणों के विचार के प्रसंग में पिंड स्वरूप, भक्त पानैषणा, गमनविधि, गोचर विधि, पानक विधि, परिष्ठापन विधि, भोजन विधि, आलोचना विधि आदि विषयों का विचार किया है। षष्ठ अध्ययन में धर्म, अर्थ, काम व्रत षट्क, कायषट्क आदि का प्रतिपादन किया है। सप्तम अध्ययन की चूर्णि में भाषा संबंधी शुद्धि, अशुद्धि, सत्य, मृषा, सत्यमृषा, असत्यमृषा आदि विचार है। अष्टम अध्ययन में इंद्रियादि प्राणधियों का वर्णन है, विवेचन है। नवम अध्ययन में विनय के विविध रूपों का और दशम अध्ययन में भिक्षु संबंधी गुणों पर प्रकाश डाला है। चूलिकाओं की चूर्णि में उनके प्रति या अविषय संबंधित विवेचन है। यथास्थान अन्यान्य ग्रंथों के नामों का भी उल्लेख है।

हरिभद्रसूरि ने निर्युक्ति के आधार पर संस्कृत में शिष्यबोधिनी नामक वृत्ति लिखी है। उसमें चूर्णि में आगत विषयों के साथ प्रसंगानुसार अन्य बातों का भी विशेष विवेचन किया है। वृत्ति के अन्त में अपना परिचय भी दिया है।

उक्त व्याख्या ग्रंथों के अतिरिक्त सुमतिसूरि समयसुन्दर (संवत् १६८१) शांति देव सूरि, सोमविमल सूरि, राजचंद्र (संवत् १६६७), पार्श्वनाथ, मेरूसुन्दर, माणिक्यशेखर, ज्ञानसागर आदि ने दशवैकालिक पर व्याख्या ग्रंथ लिखे हैं।

लोकभाषा टीका के लेखक मुनि धर्मसिंह हैं। हिन्दी टीकाओं में मुनि हस्तिमल कृत दशवैकालिक, सौभाग्य चंद्रिका और उपाध्याय श्री आत्माराम कृत दशवैकालिक आत्मज्ञान प्रकाशिका के नाम उल्लेखनीय है तथा शब्दार्थ के साथ तो इसके अनेक संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।

उत्तराध्ययन सूत्र– जैन आचार-विचार तत्वज्ञान और सिद्धांतों का परिचय प्राप्त करने की दृष्टि से उत्तराध्ययन सूत्र का विशेष महत्व है। इसीलिए अतीत में अनेक आचार्यों ने इस पद पर व्याख्या ग्रंथ लिखे हैं और वर्तमान में भी अनेक विद्वानों द्वारा लिखे जा रहे हैं।

उत्तराध्ययन सूत्र पर लिखित व्याख्या ग्रंथों में आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय) कृत उत्तराध्ययन निर्युक्ति पहला ग्रंथ है। इसमें छह सौ सात गाथाएँ हैं। अन्य निर्युक्तियों की तरह इसमें भी अनेक पारिभाषिक शब्दों का निक्षेप पद्धति से व्याख्यान किया गया है एवं अनेक शब्दों के विविध पर्यायवाची भी दिए गए हैं। सर्वप्रथम उत्तराध्ययन शब्द की व्याख्या में उत्तर पद का व्याख्यान पंद्रह प्रकार के निक्षेपों से किया है। इसी प्रकार प्रत्येक अध्ययन में आगत विशेष पदों का निक्षेप पद्धति से विवेचन किया है एवं यथाप्रसंग अपने कथन को सरल बनाने के लिए शिक्षाप्रद कथानक भी दिए हैं।

उत्तराध्ययन सूत्र पर भी भाष्य लिखा गया है, लेकिन वह इतना कृशकाय है कि उसमें कुल ४५ गाथाएँ हैं।

चूर्णिकार जिनदास गणि महत्तर ने उत्तराध्ययन चूर्णि लिखी है, जिसकी भाषा संस्कृत मिश्रित प्राकृत है एवं निर्युक्ति पर आधारित है। इसमें संयोग, पुद्गलबंध, संस्थान, विनय, क्रोधवारण, अनुशासन, परीषह, धर्मविज्ञान, मरण, निर्ग्रंथपंचक, भयसप्तक, ज्ञान, क्रिया, एकान्त आदि विषयों पर सोदाहरण प्रकाश डाला है। स्त्रीपरीषह के विवेचन के प्रसंग में नारी स्वभाव की कटु आलोचना की है। चूर्णिकार ने अंत में अपना परिचय दिया है।

वादीवेताल शांतिसूर ने 'शिष्यहितावृत्ति' नाम से उत्तराध्ययन सूत्र पर संस्कृत टीका लिखी है। भाषाशैली, विषय, प्रस्तुतिकरण आदि सभी दृष्टियों से टीका महत्वपूर्ण है। इसमें मूल एवं निर्युक्ति दोनों का व्याख्यान है। बीच-बीच में विशेषावश्यक आदि भाष्य की गाथाएँ भी उद्धृत की हैं तथा नए विवेचन के प्रसंग में सिद्धसेन की गाथाओं का भी आश्रय लिया है एवं उन्हें उद्धृत किया है। प्रसंगानुसार अन्यान्य ग्रंथों के अवतरण भी लिए हैं। वृत्ति में प्राकृत कथानकों एवं उद्धरणों की बहुलता होने से इसका पाइय टीका नाम भी प्रसिद्ध है। इस वृति का ग्रंथमान १८००० श्लोक प्रमाण है।

नेमिचंद्रसूरि ने भी वि.स. ११२९ में 'उत्तराध्ययन सुखबोधावृत्ति' नामक संस्कृत टीका ग्रंथ लिखा है। यह टीका शांतिसूरि रचित टीका के आधार से बनाई गई है, लेकिन सरल व सुबोध होने से उल्लेखनीय है। यथास्थान अनेक प्राकृत आख्यान उद्धृत किए हैं। प्रारंभ में तीर्थंकरों, सिद्धों, साधुओं एवं श्रुत देवता को

नमस्कार किया है और शांतिसूरि कृत टीका के आधार पर अपनी वृत्ति रचने की प्रतिज्ञा की है।

वृत्ति की अंतिम प्रशस्ति में अपने गच्छ गुरु, गुरु भ्राता, रचना स्थान व समय आदि का उल्लेख किया है। वृत्ति का ग्रंथमान १२००० श्लोक प्रमाण है।

खरतरगच्छीय लक्ष्मीवल्लभ गणि ने उत्तराध्ययन दीपिका नामक टीका लिखी है। इसकी विशेषता यह है कि उत्तराध्ययन सूत्र के प्रत्येक पद की शंका समाधानपूर्वक व्याख्या की गई है। व्याख्यान को स्पष्ट करने के लिए प्रसंगवश कथानकों का भी उपयोग किया गया है। ये कथानक संस्कृत में है और काफी बड़ी संख्या में है। टीका में उद्धरण नाम मात्र के हैं।

उत्तराध्ययन सूत्र पर अन्य आचार्यों द्वारा भी व्याख्याग्रंथ लिखे गए हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं—विनय हंस, कीर्तिवल्लभ (संवत् १५५२), कमलसंयम उपाध्याय (संवत् १५५४), तपोरत्नवाचक (संवत् १५५०), गुणशेखर, लक्ष्मीवल्लभ, भावविजय (संवत् १६८९), हर्षनन्दन गणि, धर्म मंदिर उपाध्याय (संवत् १७५०), उदयसागर (संवत् १५४६), मुनिचंद्रसूरि, ज्ञानशील गणि, अजितचंद्र सूरि, राजशील, उदयविजय, मेघराजवाचक, नगर्षि गणि, अजितदेव सूरि, माणिक्य शेखर, ज्ञानसागर आदि।

लोकभाषा टीकाकारों में मुनि धर्मसिंह और उपाध्याय आत्मारामजी के नाम उल्लेखनीय हैं।

आवश्यक सूत्र– इस सूत्र की टीकाओं में आचार्य भद्रबाहु (द्वितीय) कृत निर्युक्ति का प्रथम स्थान है, जो सामग्री, शैली आदि की दृष्टि से भद्रबाहु कृत अन्य निर्युक्तियों की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है। इसके प्रारंभ में जो उपोद्घात है, वह प्रस्तुत निर्युक्ति का तो महत्वपूर्ण अंग है ही, साथ में दूसरी निर्युक्तियों के लिए भूमिका रूप भी है। भूमिका रूप होते हुए भी इसमें ८८० गाथाएँ हैं। इसमें ज्ञानपंचक, सामायिक, ऋषभदेव चरित्र, महावीर चरित्र, गणधरवाद, आर्य रक्षित चरित्र, निह्नव मत आदि का संक्षेप में विवेचन किया गया है। उपोद्घात के बाद सामायिक उद्देशक का विवेचन प्रारंभ होता है। सामायिक के प्रारंभ में नमस्कार मंत्र आता है। अतः नमस्कार की निर्युक्ति के रूप में आचार्य ने उत्पत्ति, निक्षेप, पद, पदार्थ आदि ग्यारह द्वारों से नमस्कार की चर्चा की गई है। इसी संदर्भ में अन्य बातों का भी प्रसंगानुसार वर्णन है। इसके बाद चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग, प्रायश्चित, ध्यान, प्रत्याख्यान आदि का निक्षेप पद्धति से विवेचन किया गया है। प्रतिक्रमण प्रकरण में अनेक ऐतिहासिक पुरुषों के उदाहरण भी दिए हैं।

आचार्य ने इसके बाद जो निर्युक्तियाँ लिखी हैं, उनमें पुनः-पुनः विषयों के आने

पर संक्षिप्त व्याख्या करके विशेष जानकारी के लिए आवश्यक निर्युक्ति की ओर संकेत कर दिया है। इस दृष्टि से अन्य निर्युक्तियों का आशय ठीक से समझने के लिए इस निर्युक्ति का अध्ययन करना आवश्यक है। जब तक आवश्यक निर्युक्ति का ज्ञान नहीं हो जाता तब तक अन्य निर्युक्तियों का अर्थ समझने में कठिनाई होती है।

इसी निर्युक्ति को आधार बनाकर उत्तरवर्ती काल में आचार्य जिनभद्र, जिनदास गणि, हरिभद्र कोट्याचार्य, मलयगिरि, मलधारी हेमचंद्र, माणिक्य शेखर आदि आचार्यों ने आवश्यक सूत्र के सामायिक आदि छह अध्ययनों की विविध व्याख्याएँ की हैं। आचार्य जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण ने तो इसके पहले अध्ययन सामायिक पर ही विशेषावश्यक भाष्य नामक एक बृहद् भाष्य ग्रंथ लिखा है और इस भाष्य पर मलधारी हेमचंद्र ने विशेषावश्यक भाष्य बृहद् वृत्ति के नाम से एक बृहत्तम व्याख्या ग्रंथ की रचना की है।

जिनदास गणि महत्तर ने निर्युक्ति के आधार पर आवश्यक चूर्णि लिखी है। कहीं-कहीं पर भाष्य की गाथाओं का भी उपयोग किया गया है। चूर्णि की भाषा मुख्यतया प्राकृत है, किन्तु यत्र तत्र संस्कृत श्लोक, गद्यांश एवं पंक्तियाँ भी उद्धृत हैं। कथानकों की इतनी अधिकता है कि दार्शनिक चर्चा का ग्रंथ होने पर भी यह चूर्णि कथा ग्रंथों की पूर्ति करती है। इन कथाओं से ऐसे अनेक दूसरे-दूसरे तथ्यों युगीन विचारों का पता लगता है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। विषय विवेचन का विस्तार जितना इस चूर्णि में है, उतना अन्य चूर्णियों में अपेक्षाकृत न्यून है। भाषा में प्रवाह है और शैली भी ओजपूर्ण है। इसमें गोविन्द निर्युक्ति, ओघ निर्युक्ति चूर्णि, वसुदेव हिंडी आदि अनेक ग्रंथों का भी निर्देश किया गया है।

चूर्णि के उपोद्घात में प्रारंभ में मंगल चर्चा की गई है और मंगल के रूप में ज्ञान का विस्तृत विवेचन है। श्रुतज्ञान के अधिकार को दृष्टि में रखते हुए आवश्यक का निक्षेप पद्धति से विचार किया गया है। सामायिक निर्युक्ति की चूर्णि में 'करेमि' आदि पदों की पदच्छेद पूर्वक व्याख्या की गई है और छह प्रकार के करण का विस्तार से विवेचन किया है। द्वितीय अध्ययन चतुर्विंशतिस्तव में निर्युक्ति के अनुसार स्तव, लोक, उद्योत, धर्म, तीर्थंकर आदि पदों का निक्षेप पद्धति से व्याख्यान किया है। तृतीय अध्ययन वंदना का व्याख्यान करते हुए अनेक दृष्टांत दिए हैं तथा वंदना कर्म के साथ-साथ चितिकर्म, कृति कर्म, पूजा कर्म और विनय कर्म का भी सोदाहरण व्याख्यान किया है। वंद्यावंद्य का विचार करते हुए वंद्य श्रमण का स्वरूप बतलाया है कि मेधावी, संयत और सुसमाहित सुविहित श्रमण की वन्दना करनी चाहिए। प्रतिक्रमण नामक चतुर्थ अध्ययन के विवेचन में निर्युक्ति के अनुरूप प्रतिक्रमण का व्याख्यान किया है

कि प्रमाद के वश अपने स्थान से हटकर अन्यत्र जाने के बाद पुनः अपने स्थान पर लौटने के लिए जो क्रिया है, उसे ही प्रतिक्रमण कहते हैं। निर्युक्ति के अनुसार चूर्णि में भी प्रतिक्रमण तीन दृष्टियों से किया है। प्रसंगोपात्त संबद्ध अन्य शब्दों का भी व्याख्यान किया है। पंचम अध्ययन में कायोत्सर्ग की व्याख्या के प्रारंभ में व्रण चिकित्सा का प्रतिपादन किया है कि व्रण (घाव या फोड़ा) दो प्रकार का होता है—द्रव्य व्रण और भाव व्रण। द्रव्य वर्ण की चिकित्सा औषधि आदि से होती है। भाव व्रण अतिचार रूप है। उसकी चिकित्सा प्रायश्चित से होती है। फिर प्रायश्चित के आलोचना, प्रतिक्रमण आदि दस भेद बताए हैं। काय का निक्षेप नाम आदि दस प्रकार का और उत्सर्ग का निक्षेप छह प्रकार का है। कायोत्सर्ग के प्रशस्त और अप्रशस्त ये दो भेद अथवा उच्छित आदि नौ भेद हैं। इन दोनों का वर्णन करके श्रुत, सिद्ध आदि की स्तुति का वर्णन है—विवेचन है। एवं क्षामणा की विधि पर प्रकाश डाला है। छठे अध्ययन की चूर्णि में प्रत्याख्यान के भेद, श्रावक के भेद, सम्यक्त्व के अतिचार एवं पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत और उनके अतिचार, दस प्रकार के प्रत्याख्यान, छह प्रकार की विशुद्धि, प्रत्याख्यान के गुण और आगार आदि का विविध उदाहरणों के साथ व्याख्यान किया है।

हरिभद्र सूरि ने आवश्यक निर्युक्ति के आधार से आवश्यक वृत्ति नामक संस्कृत टीका लिखी है। प्रस्तुत वृत्ति में आवश्यक चूर्णि का पदानुसरण न करके स्वतंत्र रीति से निर्युक्ति गाथाओं का विवेचन किया गया है। कहीं-कहीं भाष्य की गाथाओं का भी उपयोग किया गया है। प्रतिक्रमण नामक चतुर्थ आवश्यक की व्याख्या के प्रसंग में ध्यान का विशेष विवेचन किया है। पाँच प्रकार के ज्ञानों की व्याख्या में वैविध्य एवं प्रतिभा के दर्शन होते हैं। वह व्याख्यान वैविध्य चूर्णि में दृष्टिगोचर नहीं होता। यह वृत्ति बाईस हजार श्लोक प्रमाण है।

मलधारी, हेमचंद्रसूरि ने हरिभद्रकृत आवश्यक वृत्ति पर आवश्यक वृत्ति प्रदेश व्याख्या नामक व्याख्या ग्रंथ लिखा है। इसे हरिभद्रीयाश्यक वृत्ति टिप्पणक भी कहते हैं। इस पर श्री हेमचंद्रसूरि के शिष्य श्री चंद्रसूरि ने एक और टिप्पण लिखा है। उसे प्रदेश व्याख्या टिप्पण कहते हैं।

श्री माणिक्य शेखर सूरिकृत आवश्यक निर्युक्ति दीपिका आवश्यक निर्युक्ति का अर्थ समझाने के लिए बहुत ही उपयोगी हैं। इसमें निर्युक्ति की गाथाओं का अति सरल एवं संक्षिप्त शब्दार्थ तथा भावार्थ दिया है एवं कथानकों का सार भी संक्षेप में समझा दिया है। प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि आवश्यक निर्युक्ति दीपिका के अतिरिक्त दशवैकालिक निर्युक्ति, पिण्डनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति, दीपिकाएँ एवं उत्तराध्ययन दीपिका तथा आचार दीपिका भी इन्हीं की कृतियाँ हैं।

उक्त व्याख्याकारों के अतिरिक्त जिनभट नमि साधु (संवत् ११२२), ज्ञानसागर (स. ११४०) शुभवर्धन गणि (स. १५४०), हितरुचि (संवत् १६९७), आदि ने भी टीका ग्रंथ लिखे हैं। कुछ और प्रतियाँ भी उपलब्ध होती हैं, जिनके प्रणेता अज्ञात हैं और कुछ के नाम और समय के बारे में अभी तक निश्चय नहीं हो पाया है।

नंदीसूत्र– इस सूत्र पर लिखे गए व्याख्या ग्रंथों में जिनदास गणि महत्तर लिखित नंदी चूर्णि का प्रथम स्थान है। चूर्णि में मूल सूत्रों की व्याख्या की गई है। मुख्य रूप से भाषा प्राकृत है, लेकिन यत्र तत्र संस्कृत का भी प्रयोग देखने में आता है। व्याख्यान शैली संक्षिप्त एवं सारग्राही है। सर्वप्रथम जिन और वीर की स्तुति की और उसके बाद संघ स्तुति की व्याख्या की गई है। मूल सूत्रानुसार तीर्थंकरों, गणधरों और स्थविरों की नामावली भी दी है और उसके बाद तीन प्रकार की पार्षद का संकेत करके ज्ञानचर्चा प्रारंभ की है। केवल ज्ञान और केवल दर्शन की चर्चा के प्रसंग में तीन मत उद्धृत किए हैं–१. केवल ज्ञान और केवल दर्शन की युगपत् अवस्था (योगपत्व), २. दोनों का क्रमिकत्व और ३. दोनों का अभेद। इन तीनों के समर्थन में कुछ गाथाएँ देकर अंत में केवल ज्ञान व केवल दर्शन में क्रमभावित्व का समर्थन किया है।

हरिभद्रसूरि ने नन्दीचूर्णि पर नंदीवृत्ति नामक व्याख्या ग्रंथ लिखा है, जो चूर्णि का रूपान्तर है। इसमें उन्हीं विषयों का वर्णन किया गया है, जो नंदी चूर्णि में है। प्रारंभ में मंगलाचरण करने के बाद के शब्दार्थ, निक्षेप आदि का विचार है। ग्रंथमान २६३६ श्लोक प्रमाण है।

आचार्य मलयगिरी ने भी नंदीवृत्ति नामक बृहद् टीका ग्रंथ लिखा है, जो दार्शनिक चर्चा से ओतप्रोत है। इसमें यत्र तत्र उदाहरण के रूप में संस्कृत कथानक भी दिए हैं। संस्कृत और प्राकृत उद्धरणों का भी उपयोग किया है। प्रारंभ में वर्धमान जिन एवं जिन प्रवचन का सादर स्मरण किया है। दार्शनिक विचारों की दृष्टि से इसमें जीव सत्ता सिद्धि, वचन अपौरुषेयत्व खण्डन, सर्वज्ञ सिद्धि, नैरात्म्य निराकरण, सन्तानवाद का खण्डन, सांख्य मुक्ति, निरास, धर्म-धर्मी, भेदाभेद सिद्धि आदि का समावेश किया गया है।

उक्त आचार्यों के अतिरिक्त जयदयाल, पार्श्वनाथ आदि ने भी टीका ग्रंथ लिखे हैं।

आवश्यक सूत्र अवचूरी टब्बार्थ की रचना अभिधान राजेन्द्र कोशकार श्री राजेन्द्रसूरिजी महाराज ने की है और वह अमुद्रित है। पुरानी गुजराती में मुनि धर्मसिंह ने और हिन्दी में आचार्य आत्माराम ने सरल सुबोध टीका ग्रंथ लिखे हैं।

अनुयोग द्वार सूत्र– इस सूत्र की वर्णन शैली निर्युक्ति प्रधान है। अतः जिनदास गणि महत्तर ने मूलसूत्र का अनुसरण करते हुए प्राकृत भाषा में चूर्णि लिखी है। संस्कृत का प्रयोग तो न कुछ जैसा है। प्रारंभ में मंगलाचरण के प्रसंग में भावनन्दी का स्वरूप बताते हुए पंचज्ञान का वर्णन किया है और विशेष जानकारी के लिए नंदी चूर्णि देखने का संकेत है।

अनुयोग विधि और अनुयोगार्थ पर विचार करते हुए आवश्यकाधिकार पर भी प्रकाश डाला है। आनुपूर्वी के विवेचन के प्रसंग में पूर्वांगों का भी उल्लेख है। इसी प्रकार आत्मांगुल, उत्सेधांगुल, प्रमाणांगुल, काल, प्रमाण, औदारिक आदि शरीर प्राणियों की संख्या आदि बातों की जानकारी दी है।

हरिभद्र सूरि ने अनुयोग द्वार चूर्णि की शैली पर अनुयोग द्वार टीका लिखी है और उसमें इन्हीं विषयों का वर्णन किया है, जिनका चूर्णि में व्याख्यान है। ज्ञाननय और क्रियानय का स्वरूप बताते हुए ज्ञान एवं क्रिया दोनों की संयुक्त उपयोगिता सिद्ध की है।

मलधारी हेमचंद्र सूरि ने अनुयोग द्वार के सूत्रों का सरल अर्थ प्रस्तुत करने के लिए अनुयोग द्वार वृत्ति व्याख्या ग्रंथ लिखा है। प्रारंभ में वीर जिनेश्वर, गौतम आदि सूरि वर्ग और श्रुत देवता को नमस्कार किया है। अंत में वही प्रशस्ति है, जो विशेषावश्यक भाष्य की वृत्ति के अंत में है। वृत्ति का ग्रंथमान ५९०० श्लोक प्रमाण है।

मुनिधर्मसिंह ने गुजराती टबा लिखा है।

♣ अवशिष्ट आगमों के व्याख्या ग्रंथ

सर्वमान्य आगम व्याख्या ग्रंथों का परिचय देने के अनन्तर शेष रहे आगमिक व्याख्या ग्रंथों का परिचय प्रस्तुत करते हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं–

पिंडनिर्युक्ति, महानिशीथ, जीतकल्प, चतुःशरण आतुर प्रत्याख्यान, भक्त परिज्ञा, संस्तारक गच्छाचार, तंदुल वैचारिक, चंद्रवेध्यक, देवेंद्रस्तव, गणिविद्या महाप्रत्याख्यान, वीरस्तव।

पिंडनिर्युक्ति– इसके रचयिता भद्रबाहु (द्वितीय) हैं। दशवैकालिक सूत्र के पाँचवे अध्ययन का नाम पिंडैषणा है। इस अध्ययन पर लिखी गई निर्युक्ति के विस्तृत हो जाने के कारण इसे पिंड निर्युक्ति के नाम से अलग मान लिया गया।

पिंड का अर्थ है भोजन। इसमें पिण्ड रूपन, उद्गम दोष, उत्पादन दोष, एषणा दोष और ग्रासैषणा इन दोषों का प्ररूपण किया गया है। इसमें ६७१ गाथाएँ हैं।

पिंडनिर्युक्ति में आठ अधिकार हैं—उद्गम, उत्पादन, एषणा, संयोजना, प्रमाण, अंगार, धूम और करण। इनमें अपने-अपने नाम के अनुसार विषय का वर्णन किया गया है। वर्तमान में इसकी गाथाएँ भाष्य में मिल जाने से यह मूल रूप में उपलब्ध है।

पिण्डनिर्युक्ति भाष्य में पिंड, आधाकर्म, औद्देशिक, मिश्र जात, सूक्ष्म प्राभृतिका, विशोधि, अवशोधि आदि श्रमण धर्म संबंधी विषयों का विवेचन किया गया है।

आचार्य मलयगिरि ने निर्युक्ति के आधार पर पिण्डनिर्युक्ति वृत्ति नामक संस्कृत टीका ग्रंथ लिखा है। इसमें भाष्य की भी ४६ गाथाएँ समाविष्ट है। प्रारंभ में वर्धमान जिनेश्वर को नमस्कार करके गुरुदेव को प्रणाम किया है और अपनी वृत्ति लिखने की प्रतिज्ञा की है। वृत्ति में व्याख्या को स्पष्ट करने के लिए यत्र तत्र अनेक कथानक दिए हैं, जो संस्कृत में है। वृत्ति का ग्रंथमान ६७०० श्लोक प्रमाण है। क्षमारत्न सूरि और माणिक्य शेखर आदि ने भी इस पर व्याख्या ग्रंथ लिखे हैं।

कभी-कभी पिण्डनिर्युक्ति के स्थान पर ओघ निर्युक्ति की गणना मूलसूत्रों में की जाती है। इसमें साध्वाचार संबंधी नियमों का प्रतिपादन किया गया है। बीच-बीच में अनेक कथाएँ भी दी गई हैं।

ओघनिर्युक्ति पर बृहद् और लघु दो भाष्य लिखे गए हैं। बृहद भाष्य में २५१७ गाथाएँ हैं। उनमें निर्युक्ति गाथाएँ भी सम्मिलित हैं। ग्रंथ में भाष्यकार के नाम आदि के बारे में किसी प्रकार का उल्लेख नहीं है। इसके लघु भाष्य में ओघ, पिंड, व्रत, श्रमण, धर्म, संयम, वैयावृत्य, गुप्ति, तप, समिति, भावना, प्रतिमा, इंद्रिय निरोध, प्रतिलेखना, अभिग्रह, अनुयोग, कायोत्सर्ग, औपघातिक, उपकरण आदि विषयों का संक्षिप्त व्याख्यान किया गया है।

द्रोणसूरि ने ओघनिर्युक्ति व उसके लघुभाष्य पर संस्कृत में व्याख्या ग्रंथ लिखा है। इनका समय विक्रम की ग्यारहवी-बारहवीं शताब्दी है। ये पाटण संघ के प्रमुख अधिकारी थे। इन्होंने अभयदेवसूरि कृत टीकाओं का संशोधन किया था। इस वृत्ति के अतिरिक्त इनका अन्य कोई टीका ग्रंथ नहीं है। वृत्ति की भाषा सरल और शैली सुगम है। मूल पदों के शब्दार्थ के साथ-साथ तद्-तद् विषय का शंका समाधानपूर्वक संक्षिप्त विवेचन किया है। कहीं-कहीं प्राकृत और संस्कृत उद्धरण भी दिए गए हैं। प्रारंभ में परमेष्ठी को नमस्कार किया है। वृत्ति में अनेक स्थानों पर भाष्य गाथाओं का भी व्याख्यान किया है। इसमें भाष्य की गाथाएँ ३२२ और निर्युक्ति की गाथाएँ ८११ है। इस प्रकार निर्युक्ति और भाष्य दोनों की कुल मिलाकर ११३३ गाथाओं पर वृत्ति लिखी है।

ज्ञानासागर (संवत् १४३९) और माणिक्य शेखर ने भी ओघनिर्युक्ति पर संस्कृत टीका ग्रंथ लिखे हैं।

महानिशीथ– इसका परिचय पूर्व में दिया गया है। उससे ज्ञात होता है कि भाषा और विषय की दृष्टि के संबंध से एवं यत्र तत्र आगमेतर ग्रंथों के उल्लेख मिलने से इसे प्राचीन आगम ग्रंथों की कोटि में नहीं माना जा सकता। इस पर चूर्णि, टीका लिखे जाने की जानकारी मिलती है।

जीतकल्प– इस पर भाष्य, चूर्णि, बृहच्चूर्णि और विषम पद व्याख्या ये चार टीका ग्रंथ लिखे जाने के उल्लेख मिलते हैं। जीतकल्पसूत्र के रचयिता विशेषावश्यक भाष्यकार जिनभद्रगणि क्षमा श्रमण हैं। उन्होंने स्वयं ही इस पर भाष्य लिखा है। भाष्य में २६०६ गाथाएँ हैं। उसमें बृहत्कल्प लघुभाषा, व्यवहार भाष्य, पंचकल्प भाष्य, पिण्डनिर्युक्ति आदि की अनेक गाथाएँ अक्षरशः मिलती है। इस तथ्य को ध्यान में रखने पर यह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत भाष्य ग्रंथ कल्पभाष्य आदि ग्रंथों की गाथाओं का संग्रह रूप है।

सर्वप्रथम शब्द का निरुक्त्यर्थ करते हुए प्रवचन को नमस्कार किया है। इसके बाद प्रायश्चित की व्याख्या करने का संकल्प करते हुए प्रायश्चित का निरुक्त्यर्थ दिया है। इसके बाद जीत व्यवहार का व्याख्यान करने के लिए आगमादि व्यवहार पंचक, प्रायश्चित के स्थान, प्रायश्चितदाता, प्रायश्चितदान की सापेक्षता, भक्त परिज्ञा, इंगिनीमरण, पादपोपगमन, श्रुतादि व्यवहार, जीत व्यवहार, प्रायश्चित के भेद, आलोचना, प्रतिक्रमण, मिश्र प्रायश्चित, विवेक, उत्सर्ग, तप, छेद और मूल, अनवस्थाप्य, पारांचिक, प्रायश्चितों का वर्णन किया गया है।

जीत कल्प पर जीतकल्प चूर्णि और जीतकल्प बृहच्चूर्णि ये दो चूर्णि ग्रंथ लिखे गए हैं। वर्तमान में सिद्धसेन सूरि विरचित जीतकल्प बृहच्चूर्णि उपलब्ध है। उससे ज्ञात होता है कि इससे पूर्व एक चूर्णि लिखी गई थी। उपलब्ध चूर्णि शुद्ध प्राकृत भाषा में लिखी गई है। इसमें संस्कृत का प्रयोग कहीं भी नहीं किया गया है। प्रारंभ में ग्यारह गाथाओं में भगवान महावीर, ग्यारह गणधर, अन्य विशिष्ट ज्ञानी तथा सूत्रकार जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण को नमस्कार किया गया है। ग्रंथ में यत्र तत्र यद्यपि ग्रंथान्तरों की गाथाएँ उद्धृत की गई है, लेकिन ग्रंथों के नामों का उल्लेख नहीं किया है। चूर्णि में भी उन्हीं विषयों का गद्य में वर्णन है, जिनका भाष्य में विस्तार से विवेचन किया गया है। अंत में पुनः सूत्रकार जिनभद्र गणि को नमस्कार करते हुए चूर्णि समाप्त की है।

उक्त जीतकल्प बृहच्चूर्णि के विषय पदों के व्याख्यान के रूप में श्री चंद्रसूरि ने संस्कृत में जीतकल्प बृहच्चूर्णि विषय पद व्याख्या नामक टीका लिखी है। प्रारंभ में भगवान महावीर को नमस्कार करने की प्रतिज्ञा की है। अनन्तर कठिन पदों का व्याख्यान प्रारंभ किया है। बीच-बीच में अपने वक्तव्य की पुष्टि के लिए प्राकृत गाथाएँ उद्धृत की है। अंत में व्याख्याकार ने अपने नामोल्लेखपूर्वक संवत् १२२७ महावीर जन्म कल्याणक रविवार को व्याख्या समाप्त होने का संकेत दिया है। इसका ग्रंथमान ११२० श्लोक प्रमाण है। इसके अतिरिक्त शिवप्रभसूरि के शिष्य श्री तिलकसूरि ने भी एक टीका ग्रंथ लिखा हैं।

चतुःशरण आदि वीरस्तव पर्यन्त ये ग्यारह प्रकीर्णक ग्रंथों के नाम है, जो आगम के रूप में माने जाते हैं। उनके विषयों का पूर्व में उल्लेख किया गया है। उनमें से चतुःशरण, आतुर प्रत्याख्यान और संस्तारक की टीका महेंद्रसूरि (संवत् १२९४) के शिष्य भुवनतुंग सूरि ने लिखी है। इसी प्रकार गुणरत्नसूरि (स. १४९४) ने भक्त परिज्ञा, संस्तारक, चतुःशरण और आतुरप्रत्याख्यान नामक प्रकीर्णकों पर टीकाएँ लिखी हैं। अभिधान राजेन्द्र कोशकार श्री राजेन्द्रसूरिजी महाराज ने गच्छाचार पयन्ना वृत्ति का गुजराती में भाषान्तर किया है। इस ग्रंथ के तीन अधिकार हैं—आचार्य स्वरूप, यति स्वरूप और साध्वी स्वरूप। यह ग्रंथ मुख्य रूप से श्रमण जीवन के आचार विचारों का विवेचक है। इसकी वृत्ति आनन्द विमल सूरि के शिष्य विजय विमल गणि ने लिखी है, जिसका श्रीमद् राजेन्द्रसूरिजी ने गुजराती भाषान्तर किया है। इसमें गच्छ के महत्व का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि गच्छ महान प्रभावशाली है। उसमें रहने से महान निर्जरा होती है। सारणा वारणा और प्रेरणा होने से साधक के पुराने दोष नष्ट हो जाते हैं और नूतन दोषों की उत्पत्ति नहीं होती। श्रमण श्रमणियों की मर्यादा का वर्णन करते हुए इसमें लिखा है कि श्रमणों को श्रमणियों से अधिक परिचय नहीं करना चाहिए, क्योंकि उनका परिचय अग्नि और विष के समान है। संभव है कि स्थविर का चित्त पूर्ण स्थिर हो, तथापि अग्नि के समीप घी रहने से जैसे वह पिघल जाता है, वैसे ही स्थविर के संसर्ग से आर्या का चित्त पिघल सकता है। यदि उस समय कदाचित स्थविर को भी अपनी संयम साधना की विस्मृति हो जाए, तो उसकी भी वैसी ही स्थिति होती है, जैसे श्लेष्म में लिपटी हुई मक्खी की होती है। एतदर्थ श्रमण को बाला, वृद्धा, नातिन, दुहिता और भगिनी तक के शरीर का स्पर्श करने का निषेध है।

विजय विमल (सं. १६३४) की तन्दुल वैचारिक पर टीका है। यह टीका गुण सौभाग्य गणि से प्राप्त ज्ञान के आधार पर लिखी गई है। टीका शब्दार्थ प्रधान है तथा कहीं-कहीं अन्य ग्रंथों के भी उद्धरण हैं।

इसके अतिरिक्त चतुःशरण पर विनयराज गणि, पार्श्वचंद्र, विजय सेन सूरि आदि ने, आतुर प्रत्याख्यान पर हेमचंद्र गणि आदि ने, संस्तारक पर समरचंद्र आदि ने और तन्दुल वैचारिक पर पार्श्वचंद्र आदि ने भी टीकाएँ लिखी हैं।

आगमिक व्याख्या साहित्य के पूर्वोक्त परिचय के संदर्भ में यह भी समझ लेना चाहिए कि ये व्याख्या ग्रंथ केवल शब्दार्थ तक ही सीमित नहीं है, अपितु इनमें भी आगमों की तरह स्व आचार विचार के सिद्धांतों के प्रतिपादन के साथ-साथ दर्शनान्तरों के आचार विचार, समाज शास्त्र, मनोविज्ञान, योग शास्त्र, नागरिक शास्त्र, भूगोल, राजनीति, इतिहास, संस्कृति व सभ्यता आदि विषयों के संबंध में भी प्रचुर सामग्री उपलब्ध होती है, जिसका उल्लेख यथास्थान दिया जा रहा है।

यह व्याख्या साहित्य उतना ही विशाल है, जितना आगम वाङ्मय, जिसका कुल योग लाखों श्लोक प्रमाण है एवं जिसके तलस्पर्शी अध्ययन के लिए गंभीर चिन्तन, मनन अभ्यास, साधना एवं सुदीर्घ समय अपेक्षित है।

यद्यपि यहाँ प्रस्तुत आगमिक व्याख्या साहित्य का परिचय सांकेतिक विहंगावलोकन मात्र है और इससे परिचय बिन्दु की आंशिक प्रतीति होती है, फिर भी यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि जैनाचार्यों ने स्वरचित व्याख्या ग्रंथों में आगमों के अभिधेय प्रत्येक भाव, विचार का इतनी सरल-सुबोध शैली में निष्पक्ष चिन्तनवृत्ति के अनुसार व्याख्यान कर दिया है कि साधारण से साधारण पाठक भी जैन वाङ्मय के अन्तर रहस्य भलीभाँति हृदयंगम कर सकता है।

¤

अध्याय ९

आगम साहित्य में समाज व्यवस्था

मनुष्यों के उस समूह को समाज कहते हैं, जिनकी एक आचार-विचार धारा है। व्यक्ति के जन्म के साथ इसका संबंध जुड़ता है और जीवनान्त में समाप्त होता है। इस जन्म और मरण के बीच एक लंबे समय तक समाज के बीच रहकर व्यक्ति अपने जीवन के संस्कारों, अभिरुचियों और निर्वाह के साधनों को अर्जित करता है। कुल, परिवार, कुटुंब आदि के संबंध जोड़ता है और अपने कल्याण सुख-सुविधाओं के साथ कुल आदि की सुख-सुविधाओं का ध्यान रखता है। इस प्रकार समाज का प्रत्येक व्यक्ति परस्पर एक-दूसरे से ऐसा जुड़ा रहता है कि अन्य की रुचियों की भिन्नता होने पर भी वे अभिरुचियाँ समाज के विरूद्ध नहीं जाती। किसी व्यक्ति द्वारा अपनाया हुआ मार्ग भिन्न या पृथक हो सकता है, लेकिन सबका उद्देश्य अधिकतम लोगों को अधिकतम सुख पहुँचाना होता है।

♣ वर्ण और जाति

प्राचीन भारतीय समाज का मेरुदंड 'जाति' ही था। 'जाति' वर्णों के आधार पर निर्धारित की जाती थी। जैन आगमों में समाज का आर्य और अनार्य की अपेक्षा से जाति भेद किया गया है। यह भेद व्यक्तियों के आचार और कार्यप्रणाली पर आधारित था, जबकि वैदिक साहित्य में 'जाति' का संबंध 'जन्म' से जोड़ा गया था और इसके लिए वर्ण शब्द का प्रयोग किया गया था। जैसे ब्राह्मण वर्ण, क्षत्रिय वर्ण आदि। वर्ण शब्द के प्रयोग का कारण यह था कि आर्य विजेता थे और गौर वर्ण के थे, जबकि अनार्य उनके अधीन थे और कृष्ण वर्ण के थे। जैन आगमों में शारीरिक रंग को-वर्ण को महत्व नहीं दिया गया है।

जैन आगमों में आर्यों की पाँच जातियाँ बतलाई है- क्षेत्र आर्य, जाति आर्य, कुल आर्य, कर्म आर्य, भाषा आर्य और शिल्प आर्य। इनमें किस-किस का ग्रहण होता था, इसका उल्लेख भी वहाँ किया गया है।

वैदिक साहित्य में ब्राह्मण को सर्वोपरि माना गया है, लेकिन जैन और बौद्ध धर्म में ब्राह्मणों पर क्षत्रियों का प्रभुत्व स्वीकार करते हुए वर्ण व्यवस्था का विरोध किया गया है, परन्तु इस विरोध से यह अनुमान नहीं लगाना चाहिए कि भगवान महावीर और बुद्ध के युग में जाति और वर्ण भेद नष्ट हो गया था। जैन आगमों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र नाम के चार वर्णों का उल्लेख है और धर्म की अपेक्षा से इनका निर्धारण किया गया है।

इन चारों वर्णों की उत्पत्ति के बारे में जैन परम्परा की यह मान्यता है कि भगवान ऋषभदेव के काल में राज्य के रक्षक लोगों को क्षत्रिय और जमींदार व साहूकारों को गृहपति कहा जाता था। तत्पश्चात अग्नि की उत्पत्ति होने पर ऋषभदेव के आश्रित रहने वाले शिल्पी वणिक कहे जाने लगे तथा शिल्प का वाणिज्य करने के कारण वे वैश्य के नाम से भी प्रसिद्ध हुए। भरत के राज्य काल में श्रावक धर्म की व्यवस्था होने पर माहण 'ब्राह्मण' की उत्पत्ति हुई। ब्राह्मण लोग अत्यन्त सरल स्वभावी और धर्म प्रेमी थे। इसलिए जब वे किसी को मारते-पीटते या वेदना पहुँचाते देखते, तो कहते— मा हण अर्थात् मत मारो। तबसे ये माहण याने ब्राह्मण कहलाने लगे। उस काल में यह भेद जन्म से जुड़ा नहीं था। भिन्न-भिन्न वर्णों के संमिश्रण से बनी हुई मिश्रित जातियाँ उस समय मौजूद थीं, लेकिन उत्तर काल में वर्ण व्यवस्था कर्म के बजाय जन्म के साथ जुड़ गई। परिणामतः वर्ण संघर्ष एवं जन्म कृत उच्च, नीच, कुलीन, अकुलीन आदि की मान्यताओं के लिए आगमों में अनेक उल्लेख मिलते हैं।

♣ ब्राह्मणों के संबंध में जैन मान्यता का दृष्टिकोण

जैन आगमों में जन्म की अपेक्षा कर्म पर अधिक जोर दिया गया है। वहाँ बताया गया है कि सिर मुँडाने से कोई श्रमण नहीं होता, ऊँ कार का जाप करने से कोई ब्राह्मण नहीं होता, जंगल में रहने से कोई मुनि नहीं होता और न कुशचीवर धारण करने से कोई तपस्वी ही होता है। समता धारण करने वाला श्रमण होता है, ब्रह्मचर्य का पालन करने वाला ब्राह्मण होता है, पापोपदेश न देने वाला-मौन धारण करने वाला मुनि होता है और तप करने वाला तपस्वी-तापस होता है। वास्तव में मनुष्य अपने कर्म से जिस प्रकार का कार्य करता है, उस कर्म से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र कहलाता है।

इसके लिए उत्तराध्ययन के 'हरि' के अध्ययनगत हरिकेश नामक चाण्डाल मुनि की कथा उदाहरण है। वहाँ यज्ञ के लक्षण बताते हुए कहा गया है— वास्तविक अग्नि तप है, अग्निस्थान जीव है, श्रुवा (चाटू, जिससे अग्नि में आहुति दी जाती है) मन, धन व काम का योग है, करीष (कंडे की अग्नि) शरीर है, सविधा कर्म है, होम संयम और योग शान्ति है, सरोवर धर्म है और वास्तविक तीर्थ ब्रह्मचर्य है।

तात्पर्य यह है कि जैन परम्परा ने वर्ण और जाति की निन्दा की है, फिर भी वह जाति-पाति के बँधनों से स्वयं को सर्वथा मुक्त न कर सकी। जाति आर्य और जाति-जुंगित (जुगुप्सित), कर्म आर्य और कर्म जुतांत, शिल्प आर्य और शिल्प जुतांत में से भेद हटाकर ऊँच-नीच के भेद को स्वीकार किया है।

आगमों में साधारणतया ब्राह्मणों के प्रति अवगणना का भाव प्रदर्शित किया गया है और क्षत्रियों को श्रेष्ठता प्रदान की गई है, फिर भी समाज में ब्राह्मणों का स्थान ऊँचा था। आगमीय व्याख्या, साहित्य में इनकी प्रशंसा भी देखने को मिलती है। आगमों में श्रमण-समण और ब्राह्मण-माहण शब्द का कितने ही स्थानों में एक साथ प्रयोग किया गया है। इससे यही सिद्ध होता है कि समाज में दोनों को आदरणीय स्थान प्राप्त था। स्वयं भगवान महावीर को भी अनेक प्रसंगों में माहण, महामाहण, महागोप, महासार्थवाह आदि कहकर संबोधित किया गया है।

♣ ब्राह्मण आदि चार वर्णों के कार्य

ब्राह्मण– आगमिक व्याख्या ग्रंथों में यह उल्लेख है कि ब्राह्मण शिक्षा, व्याकरण, निरूक्त आदि षट् अंगों, चार वेदों, मीमांसा, न्याय, पुराण और धर्मशास्त्र इन चौदह विद्याओं में निष्णात होते थे।

अध्ययन–अध्यापन, दान और प्रतिग्रह नामक कर्मों में वे रत रहा करते थे। ब्राह्मणों में यज्ञ-याग का प्रचलन था। उत्तराध्ययन के यज्ञीय नामक अध्ययन में जयघोष मुनि और विजयघोष ब्राह्मण का संवाद आता है। जब जयघोष भिक्षा के लिए विजयघोष के यहाँ उपस्थित हुए, तब जयघोष ने कहा– वेदों के पारंगत, यज्ञार्थी, ज्योतिष शास्त्र और छह अंगों के ज्ञाता ब्राह्मणों के लिए ही यह भोजन है। यह अन्य किसी को नहीं मिल सकता। इस पर जयघोष ने सच्चे ब्राह्मण का लक्षण बताकर उसे स्वधर्म में दीक्षित किया था।

इसके अतिरिक्त ब्राह्मण स्वप्न पाठक होते थे और ज्योतिष विद्या के द्वारा भविष्य बताते थे। राजा लोग पुत्र जन्म के अवसर पर ब्राह्मणों को आमंत्रित कर उनसे भविष्य का व्याख्यान करवाते थे। ब्राह्मणों से पूछकर यह पता लगाया जाता था कि यात्रा के लिए शुभ दिन कौन-सा है और अशुभ दिन कौन-सा है। ब्राह्मण आशीर्वाद पूर्वक मुहूर्त का प्रतिपादन करते थे।

समाज में ब्राह्मणों को आदर की दृष्टि से देखा जाता था। आगम ग्रंथों में उल्लेख है कि चक्रवर्ती ब्राह्मणों को प्रतिदिन भोजन करवाते थे। उन्होंने उन्हें जनेऊ से चिह्नित कर अन्य जातियों से पृथक किया था। राजा लोग दान आदि देकर उन्हें सम्मानित करते थे। वे उनके प्रति उदार रहते थे। ब्राह्मणों को उस काल में अन्य विशेषाधिकार भी प्राप्त थे। उन्हें कर देना नहीं पड़ता था और वे फाँसी की सजा से मुक्त थे। निधि आदि का काम होने पर राजा ब्राह्मणों का आदर सत्कार करते थे, जब कि वैश्यों की निधि जब्त कर ली जाती थी।

क्षत्रिय– ब्राह्मण ग्रंथों में जैसे ब्राह्मणों का प्रभुत्व प्रदर्शित किया गया है, वैसे

ही जैन आगम ग्रंथों में क्षत्रियों का प्रभुत्व प्रदर्शित किया गया है। वे शस्त्र विद्या का अध्ययन करते और युद्ध विद्या में निपुणता प्राप्त करते थे। अपने बाहुबल से देश पर शासन करने का अधिकार वे प्राप्त करते थे। धार्मिक क्षेत्र में भी वे प्रधान माने जाते थे। सभी जैन तीर्थंकारों ने क्षत्रिय वर्ण में जन्म लिया, यह उदाहरण क्षत्रियों की मुख्यता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।

वैश्य– प्राचीन भारत में इन्हें गृहपति भी कहा जाता था। ये धन-धान्य संपन्न होते थे, जमीन-जायदाद व पशुओं के मालिक होते थे तथा व्यापार द्वारा धन का उपार्जन करते थे। आगमों में ऐसे कितने ही गृहपतियों का उल्लेख है, जो जैन धर्म के अनुयायी थे।

शूद्र– इनकी स्थिति सदैव उपेक्षित एवं दयनीय रही है। भगवान महावीर ने इनकी स्थिति सुधारने का प्रयत्न किया, फिर भी वर्ण और जाति संबंधी प्रतिबंध दूर नहीं किए जा सके। आगमों में अनेक प्रकार के शूद्रों का उल्लेख है एवं अस्पृश्य समझे जाने वाले मातंग, चांडाल आदि की कथाएँ भी संकलित हैं। जाति जुगुप्सितों में पाण, डोम और मौरशिच का उल्लेख है। मातंगों को जाति का कलंक माना जाता था। पाणों को चांडाल भी कहा गया है। ये बिना घर-बार के केवल आकाश की छाया में निवास करते थे और मुर्दे ढोने का काम करते थे। डोमों (डूमों) के घर होते थे और वे गीत गाकर एवं सूप बनाकर बेचते और अपनी आजीविका चलाते थे। किविक वाँचों के चारों ओर ताँत लगाते और वध स्थान को ले जाए जाते हुए पुरुषों के सामने बाजा बजाते थे। श्वपच कुत्तों का माँस पकाकर खाते थे और ताँत की बिक्री करते थे। वसड रस्से बँटकर बेचते और अपनी आजीविका चलाते थे। हरिकेश लुहारों की भी शूद्र जाति में गणना की गई है। कर्म और शिल्प से स्पृश्य जातियों में स्त्रीपोषक, मयूरपोषक, कुक्कुट पोषक, नट, शंख, व्याध, मृग, लुब्ध, वागुरिक शौकरिक, रजक आदि की कर्म गुल्मस तथा कर्मकार पटवा, नाई, धोबी आदि की शिल्प में गणना की गई है।

♣ श्रेणी संगठन

आगमकालीन श्रेणी संगठन को आज की भाषा में यूनियन कहा जा सकता है। श्रमिकों और व्यापारियों के संगठन तो थे ही और उनके समय संगठनों के कानून कायदे थे। इसके अतिरिक्त बहुत से उत्पादनकर्ता, नट, बाजीगर, गायक आदि के भी संगठन बने हुए थे, जो गाँव-गाँव में परिभ्रमण कर अपनी कला का प्रदर्शन करके अपनी आजीविका चलाते थे। गारुडिक (साँप का विष उतारने वाला) तथा भूतवादी भी एक स्थान से दूसरे स्थान पर गमन करते थे।

आगमों में संघ के गणों व गच्छों का उल्लेख आता है। गणों में मल्ल,

हस्तिपाल, सारस्वत, वज्जिगोदास, उत्तर बलिस्सह, चारण, कोटिक भाणव आदि का उल्लेख मिलता है।

♣ पारिवारिक जीवन

अनेक परिवारों के समूह को समाज कहा जाता है। परिवार में पति-पत्नी, माता-पिता, छोटे भाई-बहन और विधवा स्त्रियों का समावेश होता था। ये सभी परिवार के सदस्य माने जाते थे। ये सब एक ही स्थान पर रहते थे। सबका भोजन एक ही जगह पर होता था और सब सामान्य जमीन-जायदाद का उपभोग करते थे। स्त्रियाँ कूटने-पीसने, रसोई बनाने, भोजन परोसने, पानी भरने, बर्तन माँजने आदि घर गृहस्थी के सब काम करती थी। ननद और भावजों के बीच कलह चलता रहता था।

परिवार का मुखिया पुरुष माना जाता था। वह सबके भरण-पोषण की व्यवस्था करता था। सब लोग उसकी आज्ञा का पालन करते थे और उसकी पत्नी गृह स्वामिनी होती थी, जो परिवार के सब कामों का ध्यान रखती थी और अपने पति की आज्ञा में रहती थी।

माता-पिता, स्वामी और धर्माचार्य का यथेष्ट सम्मान किया जाता था। पिता को ईश्वर तुल्य माना जाता था। पुत्र और पुत्रियाँ प्रातःकाल अपने पिता की पाद वंदना के लिए उसके सामने उपस्थित होते थे। जैसे-जैसे पिता वयोवृद्ध होता जाता था, वैसे-वैसे परिवार की देखरेख का भार ज्येष्ठ पुत्र पर पड़ता था। आगमों में उल्लेख है कि उस काल में जन्म, विवाह आदि विविध उत्सवों और त्यौहारों के अवसर पर सगे-संबंधियों को भोजन के लिए निमंत्रित करके उनके साथ आनन्द मनाया जाता था।

♣ विवाह प्रथा

परिवार वृद्धि तथा गृह और सामाजिक व्यवस्था के लिए स्त्री और पुरुष का विवाहित होना परम आवश्यक माना जाता था। आगमों में यह उल्लेख तो मिलता है कि कन्या को योग्य वर एवं वर को योग्य कन्या प्राप्त हो, जिससे विवाह के पश्चात पति-पत्नी में पूर्ण सामंजस्य बना रहे, लेकिन विवाह योग्य अवस्था की जानकारी नहीं मिलती। हाँ, इतना अवश्य कहा गया है कि वर और वधू को सम वय होना चाहिए। इसका कारण यही जान पड़ता है कि तत्कालीन भारत में बड़ी अवस्था में विवाह होना हानिप्रद माना जाता होगा, जिससे किसी का उल्लेख नहीं किया गया हो।

आगमों में विवाह के तीन प्रकारों का उल्लेख मिलता है— १. वर और कन्या दोनों पक्षों के माता-पिताओं द्वारा आयोजित विवाह, २. स्वयंवर विवाह और ३. गांधर्व

विवाह। प्रचलित विवाह दोनों पक्षों के माता-पिताओं द्वारा आयोजित किया जाता था। साधारणतया अपनी ही जाति में विवाह करने का रिवाज था। इससे वंश शुद्ध रहता था एवं निम्न जातिगत तत्वों के सम्मिश्रण से कुल की प्रतिष्ठा भंग होने से बच जाती थी। सामान्यतया वर के माता-पिता समान कुल-परिवार से ही कन्या ग्रहण करते थे।

विवाह के मामले में प्राय: घर के बड़े-बूढ़े एक-दूसरे से सलाह मशविरा करके अपने निर्णय को अपनी संतान से कहते। लड़के का मौन विवाह की स्वीकृति का सूचक माना जाता था। विवाह में कन्या पक्ष दहेज देता था, लेकिन विवाह में वर अथवा उसके पिता द्वारा कन्या के पिता अथवा उसके परिवार को शुल्क देने की भी प्रथा थी। स्त्रियाँ दहेज में अपने साथ बहुत-सा धन-माल लेकर आती थीं। कन्या के माता-पिता भी अपनी शक्ति के अनुसार अनेक प्रकार के आभूषण, वस्त्र, पात्र, वाहन, श्रंगार के साधन, गायें, दास-दासी आदि प्रीतिदान के रूप में वर पक्ष को भेंट करते थे।

माता-पिता द्वारा आयोजित विवाह में साधारणतया वर कन्या के घर जाता था। विवाह के अवसर पर मंगल गीत गाए जाते थे। उत्सव के लिए शुभ मुहूर्त एवं शुभ तिथि देखी जाती थी। वर व बारात को बड़े आदर-सत्कार के साथ भोजन-पान कराया जाता था। अग्नि की साक्षी से विवाहोत्सव संपन्न होता था।

उक्त प्रकार के आयोजन के सिवाय ऐसे भी अनेक उदाहरण आगमों में उपलब्ध होते हैं, जबकि यौवनावस्था प्राप्त कर लेने पर कन्याएँ सभा में उपस्थित विवाहार्थियों में से किसी एक को अपना पति चुन लेती थी। लेकिन मालूम होता है कि यह प्रथा सामान्य नहीं थी। प्राय: राजा-महाराजा अपनी कन्याओं के लिए स्वयंवर रचाते थे। मध्यम वर्ग के लोगों में संभवत: स्वयंवर प्रथा नहीं थी। कुछ निम्न वर्ग के लोगों में यह प्रथा थी।

गांधर्व विवाह में वर-कन्या अपने माता-पिता की अनुमति के बिना ही बिना किसी धार्मिक विधिविधान के एक-दूसरे को पसन्द कर लेते थे। विवाहित या अविवाहित कन्याओं के अपहरण के भी उल्लेख मिलते हैं। इसे लेकर अनेक बार युद्ध हो जाया करते थे। कभी-कभी ऐसा भी होता था कि किसी रूपवती कन्या के सौन्दर्य की प्रशंसा सुनकर राजा लोग कन्या के पिता के पास कन्या की मँगनी के लिए दूत भेजते और यदि कन्या प्राप्त नहीं होती, तो युद्ध हो जाता था।

कभी-कभी स्त्री और पुरुष एक-दूसरे के सौन्दर्य और कला कौशल को देखकर परस्पर आकृष्ट हो जाते और यह आकर्षण विवाह में परिणत हो जाता था।

ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं, जबकि विवाह में अपनी बहन देकर दूसरे की

बहन ली जाती थी। पुरुष तो अनेक विवाह कर सकता था, पत्नी के मर जाने या त्याग देने पर भी दूसरा विवाह करना बुरा नहीं माना जात था, लेकिन विधवा विवाह को तिरस्कार की दृष्टि से देखा जाता था।

♣ संतान के प्रति ममता

आगम काल में बच्चों के प्रति विशेष ममता देखने को मिलती है, जो माता बच्चों को जन्म देती है, उन्हें खिलाती-पिलाती, उन्हें स्तनपान कराती, उनकी तोतली बोली सुनती और उन्हें अपनी गोद में लेकर उनके साथ क्रीड़ा करती, वे धन्य समझी जाती थीं। वंध्या स्त्री को अच्छा नहीं समझा जाता था। अतएव संतान प्राप्ति के लिए वे इन्द्र, स्कंद, नाग आदि अनेक देवी-देवताओं की पूजा उपासना करती, उन्हें प्रसाद चढ़ातीं और अपने बालकों को मालिश करती, उनकी आँखों में काजल लगाती, उनके होंठ रचती, उनके हाथों में कंगन पहनाती तथा खेलने के लिए खेल-खिलौने और खाने के लिए तरह-तरह के व्यंजन उन्हें देती, जिससे कि बालक की पाँचों इन्द्रियाँ परिपूर्ण हो, वह शुभ चिह्नों, लक्षणों, व्यंजनों और सद्‌गुणों से युक्त हो और वह आकृति से अच्छा व सुन्दर लगे। तौल में पूरा हो और समुचित ऊँचाई में हो, तो वह बालक श्रेष्ठ समझा जाता था।

गर्भावस्था में स्त्रियाँ गर्भ की सुरक्षा का बहुत ही मनोयोग पूर्वक ध्यान रखती थी। गर्भवती स्त्रियों की दोहद पूर्ति के लिए पूरा प्रयत्न किया जाता था। पुत्र का जन्म होने पर परिवार में बहुत ही हर्ष मनाया जाता था। राजपुत्र का जन्म होने पर संपूर्ण राज्य में अनेक प्रकार के उत्सव मनाए जाते थे, वस्तुओं के मूल्य घटा दिए जाते थे, कर माफ कर दिए जाते थे। उस अवसर पर नगर को शुल्क और कर रहित करने की घोषणा कर दी जाती थी।

पुत्र का जन्म होने पर पहले दिन जातकर्म मनाया जाता था। दूसरे दिन रात्रिजागरण और तीसरे दिन सूर्य-चन्द्र दर्शन का उत्सव मनाया जाता था। बाकी के सात दिन तक गीत-संगीत-नृत्य आदि आनन्द मंगल की धूम मची रहती थी। ग्यारहवें दिन शुभ कर्म होता था। बारहवें दिन स्वजन संबंधियों को आमंत्रित कर भोजन वस्त्रादि से उनका सत्कार किया जाता था और बालक का नामकरण संस्कार होता था। बालक जब घुटनों से चलने लगता, तब परगमण संस्कार, पैरों से चलने पर चंक्रमण संस्कार, वह जब प्रथम भोजन का आस्वादन करता, तब जिमावण संस्कार, पहले पहल जब बोलना सीखता, तब प्रजल्पन संस्कार और जब उसके कान बींधे जाते, तब कर्णवेधन संस्कार मनाया जाता था। इसके बाद वर्षगाँठ, जावल उतारना, मुंडन, उपनयन, कला ग्रहण आदि संस्कार संपन्न किए जाते थे।

समृद्ध परिवारों में अथवा राजकुलों में बालक की देखभाल के लिए ऊंचे कुल की और कुशल दाइयाँ-धाय रहती थीं। यदि वे नहीं मिलती, तो विदेशों से भी बुलाई जाती थी।

♣ लौकिक देवी-देवता

लौकिक देवी-देवताओं का अस्तित्व भारत में अत्यन्त प्राचीन काल से माना जाता है। जैन आगमों में इन्द्र, स्कन्द, रुद्र, मुकुन्द, शिव, वैश्रवण, नाग, आर्य कोट्टकिरिय आदि का उल्लेख उपलब्ध होता है।

वैदिक साहित्य में तो इन्द्र को अत्यन्त पराक्रमी और सब देवताओं में अग्रणी माना गया है। कल्पसूत्र के अनुसार इन्द्र अपनी आठ इन्द्राणियों-पटरानियों, तीन परिषदों, सात सैन्यों, सात सेनापतियों और अंगरक्षकों से परिवृत्त होकर स्वयं के वैभव का सुख भोग करता है। पौराणिक कथानुसार स्कन्द अथवा कार्तिकेय महादेव के पुत्र और युद्ध के देवता माने गए हैं। भगवान महावीर के समय स्कन्द पूजा प्रचलित थी। हिन्दू पुराणों में ग्यारह रुद्र माने गए हैं। वे इन्द्र के साथी, शिव और उसके पुत्र के अनुचर और यम के रक्षक बताए गए हैं। स्कन्द और रुद्र की प्रतिमाएँ काष्ठ से बनाई जाती थी।

महाभारत में मुकुन्द अथवा बलदेव को लांगुली अथवा हलधर कहा गया है। हल उसका अस्त्र है। गले में सर्पों की माला पड़ी हुई है और ध्वजा में तीन सिरों के निशान हैं। भगवान महावीर के समय में मुकुन्द अथवा वासुदेव की पूजा प्रचलति थी। हिन्दू पुराणों में शिव अथवा महादेव भूतों के अधिपति, कामदेव संहारकर्ता और स्कन्द के पिता तथा प्रलय के देवता माने गए हैं। पर्वत के देवता के रूप में उनके सम्मानार्थ वैशाख में उत्सव मनाया जाता है। स्कन्द और मुकुन्द की भाँति शिवपूजा भी भगवान महावीर के समय प्रचलित थी।

वैश्रवण अथवा कुबेर को उत्तर दिशा का लोकपाल अधिपति तथा समस्त खजाने का मालिक माना गया है। आगमों में वैश्रवण को यक्षों का अधिपति और उत्तर दिशा का लोकपाल कहा गया है।

ब्राह्मण ग्रंथों के अनुसार नाग- सर्प देवता सामान्यतया पृथ्वी के अन्तस्तल में निवास करते हैं, जहाँ शेषनाग अपने मस्तक पर, फनों पर पृथ्वी का भार सँभाले हुए हैं। आगम एवं उनके व्याख्या ग्रंथों में नागपूजा का उल्लेख मिलता है।

प्राचीन भारत में यक्ष पूजा का बड़ा महत्व था, इसलिए प्रत्येक नगर में यक्षायतन या यक्ष चैत्य होते थे। जैन ग्रंथों में उल्लेख है कि शील का पालन करने से यक्ष योनि

में जन्म मिलता है तथा यक्ष, देव, दानव आदि शीलव्रत धारकों-ब्रह्मचारियों को नमस्कार करते हैं।

आगमों में पूर्णभद्र, मणिभद्र, श्वेतभद्र, हरितभद्र, सुमनोभद्र, व्यतिपातिकभद्र, सुभद्र, सर्वतोभद्र, मनुष्य यक्ष, वनाधिपति, वनाहार, रूप यक्ष और यक्षोत्तम इन तेरह प्रकार के यक्षों का उल्लेख है। इनमें पूर्णभद्र और मणिभद्र का विशेष महत्व है। ये शुभ कार्यों में सहायक होते हैं और हानि भी पहुँचा सकते हैं। संतानोत्पत्ति के लिए भी यक्ष की आराधना की जाती थी। संतान की अभिलाषा पूर्ण करने में हिरणगमेषी देव का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

यक्षों के अतिरिक्त वाणव्यंतर, वाणव्यंतरी और गुह्यक आदि के भी आगम साहित्य में उल्लेख मिलते हैं। आगम में पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किंपुरुष, महोरग और गंधर्व तथा इनके आठ चैत्य वृक्षों के नामों का उल्लेख है। वाणव्यंतरियों में से कोई एक व्यंतरी भगवान महावीर की भक्त थी, जबकि कठपूतना व्यंतरी ने उन्हें बहुत कष्ट पहुँचाया था। गुह्यकों के बारे में लोगों का विश्वास था कि वे कैलाश पर्वत पर रहने वाले हैं और इस लोक में श्वानों के रूप में निवास करते हैं। आर्या और कोट्टकिरिया दोनों दुर्गा के ही रूप हैं, जिसे चंडिका या चामुण्डा भी कहा जाता है। युद्ध के लिए जाते समय लोग चामुण्डा को प्रणाम करते थे।

♣ जादू-टोना और अंधविश्वास

जादू-टोना और अंधविश्वास आदि काल से सामाजिक जीवन के महत्वपूर्ण अंग रहे हैं। कितने ही मंत्र, मोहिनी विद्या, जादू-टोटका आदि का उल्लेख आगमों में मिलता है, जिनके प्रयोग से रोगी चंगे हो जाते, भूत-प्रेत भाग जाते, शत्रु हथियार डाल देते, प्रेमी और प्रेमिका एक-दूसरे की ओर आकर्षित होते, स्त्रियों के भाग्य का उदय हो जाता, युद्ध में विजयश्री प्राप्त होती और गुप्त धन मिल जाता था। चतुर्दश पूर्वों में जो विद्याप्रवाद पूर्व का नाम आता है, उसमें विविध मंत्र और विद्याओं का वर्णन किया गया है।

आगम में विद्या, मंत्र-तंत्र का उपयोग करने का श्रमणों को निषेध किया गया है, लेकिन कुछ ग्रंथों में संकट आदि उपस्थित होने पर उनके उपयोग के उल्लेख मिलते हैं। विद्या प्रयोग और मंत्र चूर्ण के अतिरिक्त लोग हृदय को आकर्षित करके जादू-मंतर का प्रयोग करते थे। आगम साहित्य में जादू-टोना और झाड़-फूँक आदि का भी विधान मिलता है। स्नान करने के बाद लोग प्रायः कौतुक (काजल का तिलक आदि लगाना, आजकल भी माताएँ बच्चों को दिठौना लगती हैं।), मंगल (सरसों, दही, अक्षत और दूर्वा आदि का प्रयोग) और प्रायश्चित आदि क्रियाएँ करते थे। कौतुक, मूर्तिकर्म, प्रश्न,

प्रश्नातिप्रश्न, लक्षण, व्यंजन और स्वप्न आदि का उल्लेख भी आगम ग्रंथों में उपलब्ध है, जिनके द्वारा लोग अपनी आजीविका चलाते थे।

विद्या सिद्धि के लिए लोग अनेक प्रकार के जप-तप करते थे। इसके लिए कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी अथवा अष्टमी की रात को साधक लोग श्मशान में जाकर तप करते थे। विद्या-सिद्धि के लिए अनेक प्रकार के टोना-टोटका आदि करने और देवताओं के लिए उचित-अनुचित उपाय करने से भी लोग चूकते नहीं थे। कार्यसिद्धि के लिए आराधना का प्रचार भी उस समय में बहुत अधिक था। छोटे-बड़े अपने-अपने कार्यों की सिद्धि के लिए देवताओं की आराधना करते थे। इसके अनेक उदाहरण आगम साहित्य में देखने को मिलते हैं।

जैन आगम में अनेक शुभ-अशुभ शकुनों का भी उल्लेख मिलता है। अनेक वस्तुओं का दर्शन शुभ और अनेक वस्तुओं का दर्शन अशुभ माना गया है। तिथि, करण और नक्षत्र का जगह-जगह उल्लेख आता है। लोग शुभ तिथि, करण और नक्षत्र देखकर ही किसी कार्य के लिए प्रस्थान करते थे। यात्रा के अवसर पर इसका विशेष ध्यान रखा जाता था। गमन के लिए चतुर्थी, षष्ठी, अष्टमी, नवमी और द्वादशी को शुभ बताया है और संध्याकालीन नक्षत्र को वर्जित कहा है। उल्लास और विषाद वाले कार्यों को करने के बाद में दिशाओं के शुभ और अशुभ के बारे में विचार किया जाता था। इसी प्रकार से और दूसरे शकुनों के लिए भी लोग अच्छा-बुरा मानकर कार्य में प्रवृत्त होते थे।

♣ आमोद-प्रमोद और मनोरंजन के साधन

प्राचीन भारत के निवासी अनेक प्रकार से आमोद-प्रमोद और मनबहलाव किया करते थे। महं छण (क्षाण), उत्सव, यज्ञ, पर्व, पर्वणी, गोष्ठी, प्रमोद और संखडि आदि कितने ही उत्सव और त्यौहार थे, जबकि लोग जी भरकर आनन्द मनाते थे। सब निश्चित समय के लिए होता और उस दिन पकवान तैयार किए जाते थे।

मह में लौकिक देवी-देवताओं की पूजा का आयोजन किया जाता था। प्राचीन काल में इन्द्रमह सब उत्सवों में श्रेष्ठ माना जाता था। लोग इसे बड़ी धूमधाम से मनाते थे। निशीथ सूत्र में इन्द्र, स्कंद, यक्ष और भूत नामक महामहों का उल्लेख है, जो क्रमशः आषाढ़, आसोज, कार्तिक और चैत्र की पूर्णिमा के दिन मनाए जाते थे। उस समय लोग खूब खाते-पीते, नाचते और गाते हुए आमोद-प्रमोद करते थे। अनेक राज्यों में और राजाओं द्वारा इन्द्रमह अपनी-अपनी विशेष पद्धतियों से मनाया जाता था। राजा लोग वैभवपूर्वक गाजे-बाजे के साथ इन्द्रकेतु की पूजा करते थे।

इन्द्रमह आदि उत्सवों के लिए तैयार किया हुआ खाद्य पदार्थ जो बच जाता था, उसे लोग प्रतिपदा के दिन-दूसरे दिन उपयोग में लाते थे। उत्सव के दिन आमोद-प्रमोद में उन्मत्त रहने के कारण जिन सगे-संबंधियों को निमंत्रित नहीं किया जा पाता, उन्हें प्रतिपदा के दिन बुलाया जाता था। इन्द्रमह के दिन लोग धोबी से धुले हुए स्वच्छ वस्त्र पहनते थे।

इन्द्रमह की तरह स्कन्दमह, यक्षमह और भूतमह भी धूमधाम से मनाए जाते थे। इन महोत्सवों पर लोग विविध प्रकार के व्यंजनों और पकवानों का सेवन करते हुए अपना समय आमोद-प्रमोद में बिताते थे। मथुरा के लोग मंदर यक्ष की यात्रा के लिए जाते थे। बहुम्लेच्छमह में म्लेच्छ लोग एकत्र होते थे।

श्रावस्ती में दासियों का त्यौहार मनाया जाता था। उसे दासीमह कहते थे। स्थानोत्पत्ति का मह अचानक किसी अतिथि के आ जाने पर मनाया जाता था। इट्ठगास्व के त्यौहार की तुलना उत्तर भारत में प्रचलित रक्षाबंधन या सलूने के त्यौहार से की जा सकती है। खेत में हल चलाते समय सीता (हल पद्धति, देवता, हल से पड़ने वाली रेखा) की पूजा की जाती है। इस अवसर पर भात आदि पकाकर यात्रियों को दिया जाता था। इसके अतिरिक्त लोग नदीमह, तड़ागमह, वृक्षमह, चैत्यमह, पर्वतमह, गिरियात्रा, कूपमह, वृक्षारोपण मह और स्तूपमह के उत्सवों में शामिल होकर आनन्द मनाते थे। कार्तिक पूर्णमासी को कौमुदी महोत्सव मनाया जाता था। उसमें सूर्यास्त के बाद स्त्री-पुरुष किसी बाग-बगीचे में जाकर रात बिताते थे। मदन त्रयोदशी के दिन कामदेव की पूजा की जाती थी। उज्जेणी महोत्सव के अवसर पर नगर के नर-नारी मस्त होकर विविध प्रकार से क्रीड़ा करते थे।

धार्मिक उत्सवों में पज्जोसण-पर्यूषण पर्व का सबसे अधिक महत्व था। यह पर्व भाद्रपद शुक्ला पंचमी को मनाया जाता था, लेकिन आर्य कालक के समय से यह पंचमी के स्थान पर चतुर्थी को मनाया जाने लगा। महाराष्ट्र में यह पर्व श्रावणी पूजा के नाम से प्रसिद्ध हुआ। जैन धर्म के महान प्रचारक राजा संप्रति के समय रथयात्रा महोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया जाता था। स्वयं राजा संप्रति इस अवसर पर अपने भोजकों के लेकर रथ के साथ-साथ चलता और रथ पर विविध प्रकार के वस्त्र, फल और कौड़ियाँ चढ़ाता था।

संखडि अथवा भोज भी एक महत्वपूर्ण त्यौहार था। जीव हत्या बहुत होने से इसे संखडि कहा जाता था। यह त्यौहार एक दिन अथवा अनेक दिन तक मनाया जाता था। अनेक पुरुष मिलकर एक दिन की अथवा अनेक दिन की संखडि करते थे। सूर्य के पूर्व दिशा में रहने के काल में पूर्व संखडि और सूर्य के पश्चिमि दिशा में

रहने के काल में पश्चात संखडि मनाई जाती थी। अथवा किसी ग्राम आदि के पास पूर्व दिशा में मनाए जाने वाले उत्सव को पुरः संखडि और पश्चिम दिशा में मनाए जाने वाले उत्सव को पश्चिम संखडि कहते हैं। संखडि के समय कुत्तों द्वारा भोजन का अपहरण किए जाने और चोरों के उपद्रव की आशंका रहती थी। ऐसे अवसरों पर दूर-दूर से लोग सम्मिलित होने आते थे। वे विविध प्रकार के वस्त्राभूषणों से अलंकृत होकर अनेक अभिनयों से पूर्ण श्रंगार रस के काव्य पढ़ते थे और मस्त हुए स्त्री-पुरुष विविध प्रकार की क्रीड़ाएँ करते थे। ठूँस-ठूँस कर खा लेने से कई लोग भोजन करके शयन करते थे और विकाल में सोते रहते थे।

जैन श्रमणों को संखडियों में जाने का निषेध है।

संखडियाँ अनेक स्थानों पर मनाई जाती थी। सब लोग अपने-अपने त्यौहारों या विशेष दिनों में इन संखडियों का आयोजन करते थे। कुछ लोग व्यक्तिगत रूप से भी संखडि मनाते थे। इनके अतिरिक्त अनेक घरेलू त्यौहार भी मनाए जाते थे। पुत्रोत्सव का उल्लेख पूर्व में किया जा चुका है। विवाह के पश्चात् वर के घर प्रवेश कर वधू के भोजन करने को आहेणा कहा गया है। कुछ समय वर के घर रहने के पश्चात् जब वह अपने पिता के घर लौटती है, तो उसे पहेणग कहा गया है।

मल्लयुद्ध, कुक्कुट युद्ध, अश्वयुद्ध आदि कितने ही युद्धों का उल्लेख जैन आगमों में आता है। इससे पता लगता है कि लोग युद्धों द्वारा भी अपना मनोरंजन किया करते थे। अड्डिय और पवड्डिय आदि के द्वारा मल्ल युद्ध किया जाता था। मल्लयुद्ध के लिए राजा लोग अपने-अपने मल्ल रखते थे। इसके अतिरिक्त अश्व युद्ध, हस्तियुद्ध, ऊँट युद्ध, महिषयुद्ध और शूकर युद्धों का भी उल्लेख किया गया है। आगम में ऐसे कितने ही लोगों के नाम आते हैं, जो खेल-तमाशे आदि दिखाकर प्रजा का मनोरंजन किया करते थे। जैसे कि नट, नर्तक, जल्ल, भल्ल, विदूषक, कथावाचक, उछलने-कूदने वाले, तैराक, ज्योतिषी, गायक, भाँड, बाँस पर खेल दिखाने वाले (संख), चित्रपट दिखाकर भिक्षा माँगने वाले (मंख), वीणा बजाने वाले, विट, मागधर (ये विविध प्रकार से मन बहलाव किया करते थे। साधारण जन ही नहीं, राजा-रानी भी इन खेलों को देखने जाते थे।) बालक-बालिकाओं के मनोरंजन के साधनों के लिए अनेक खेल खिलौनों का उल्लेख आता है। खुल्लम (कपर्दक- एक प्रकार की कौड़ी), आडोलिय (गुल्ली), तिन्दूस (गेंद), पीत्तुल्ल (गुड़िया) और साडौल्य (शाटक वस्त्र) का उल्लेख मिलता है। इसके सिवाय शरपत (धनुष), गोरहग (बैल), घटिक (छोटा घड़ा), डिंडिम और चेलगोल (कपड़े के गेंद) के नाम भी आते हैं। हाथी, घोड़ा, रथ और बैल के खिलौने से बच्चे खेला करते थे।

प्रौढ़ों के क्रीड़ा करने के लिए अनेक उद्यान और आराम आदि होते थे। उद्यान में विट लोग विविध प्रकार के वस्त्र आदि धारण कर हस्त आदि के अभिनय पूर्वक श्रंगार काव्य का पठन करते थे। सुन्दर वस्त्र-आभूषणों से अलंकृत स्त्री और पुरुष वहाँ क्रीड़ा करने जाते थे। श्रेष्ठीपुत्र वहाँ अपने-अपने घोड़ों, रथों, गौरथों, युग्मों और डगणों (यान विशेष) पर आरूढ़ होकर इतस्त भ्रमण किया करते थे। राजाओं के उद्यान अलग होते थे और वे अपने अन्तःपुर की रानियों को साथ लेकर क्रीड़ा के लिए वहाँ जाते थे। दम्पती और प्रेमी युगल माधवी लतागृहों में क्रीड़ा करते थे। राजा अपनी रानियों के साथ पाँसों से खेलते थे। खोटे पाँसों से जुआँ खेलते थे।

♣ जीवनोपयोगी साधन

जीवनधारण के लिए मूलभूत तीन आवश्यकताएँ हैं— भोजन, वस्त्र और निवास के लिए घर। हमारे देश में खेती-बाड़ी की बहुतायत थी। इस कारण भोजन की यहाँ कमी नहीं रहती थी। यह बात दूसरी थी कि सामान्य मनुष्य को उत्तम भोजन नहीं मिलता था। आगमों में चार प्रकार के भोजन का उल्लेख आया है। अशन, पान, खाद्य और स्वाद। भोज्य पदार्थों में दूध, दही, मक्खन, घी, तेल, मधु, गुड़ और सेवई खाद्य पदार्थ थे। नये चावल दूध में डालकर खीर पकाई जाती थी। लोग सत्तू में घी डालकर खाते थे। नमक बनाने का काम बहुत महत्वपूर्ण था। नमक के अनेक प्रकारों का उल्लेख मिलता है- सावर्चती, सैंधव, लवण, रोम (खानों से निकला हुआ,) समुद्र पांसुखार, मिट्टी से बनाया हुआ और काला नमक आदि। जिस देश में नमक उपलब्ध नहीं होता था, वहाँ क्षारभूमि की मिट्टी (अस) काम में ली जाती थी। इसके अतिरिक्त निम्नांकित व्यंजनों के नाम मिलते हैं—

सूप, ओदन (चावल), जव-जौ, गौरस, जूस (मूंत्र आदि का रस), मक्ष्य, जिसमें मिश्री का उपयोग बहुतायत से किया गया हो, गुल लावणिया, (गोल पापड़ी), मूलफल, हरियग, रसालू (राजा के योग्य बनाया हुआ भोजन, जिसे दो पण घी, एक पण शहद, आधा आढक दही, बीस दाने काली मिर्च और दस पण खंड गुड़ डालकर तैयार किया जाता था।) पान, पानीय, पानक-शाक (मट्ठा डालकर बनाए हुए दही बड़े) आदि।

अन्य खाद्य पदार्थों में गुड़ और घी से पूर्ण रोट्टग (बड़ी रोटी), पेत्र (पीने योग्य मांड रसा आदि), हविपूत अथवा घृतपूर्ण (घयपूरिया-घेवर), पालग, महुरय (आम या नींबू के रसे से बनाया हुआ मीठा शर्बत), सिंह केसरिया मोदक, गुलपाणिय (तिल और गुड़ की बनी मिठाई), मंडक (एक प्रकार की रोटी), इट्टगा (सेवई) और पप्पडिय (पापड़), बड़ा और पूआ आदि का उल्लेख मिलता है। कल्लणग (कल्याण) चक्रवर्ती का भोजन होता था, जिसे केवल चक्रवर्ती ही भक्षण करता था।

आहड़िया एक खास मिष्ठान्न होता था, जो उपहार के रूप में दूसरों के घर भेजा जाता था। विवाह के बाद वर के घर में वधू के प्रवेश करने पर किए जाने वाले भोजन को आहेणग और अपने पीहर से वधू के द्वारा लाए जाने वाले भोजन को पहेणग कहा जाता था। अपने सगे संबंधियों और अपने इष्ट मित्रों को एकत्र कर खिलाए जाने वाले भोजन को संमेल कहते थे। पुलाव एक विशिष्ट प्रकार का भोजन होता था। गुटिका (गुलिया) कसैले वृक्ष के चूर्ण से बनाई जाती थी। साधु-मुनिराज उसका उपयोग करते थे।

मद्य-मांस भी तत्कालीन समाज में भोजन के रूप में उपयोग होता था। मद्य अनेक पदार्थों से बनाया जाता था और उसके अलग-अलग नाम थे।

राजाओं और धनिकों के घर में विविध प्रकार के व्यंजन बनते थे। साग-सब्जी तेल में पकाई जाती थी। भोजन करने की भूमि को लीप-पोतकर उस पर कमल के दो पत्ते बिछाए जाते थे और आसपास पुष्प बिखेरे जाते थे। उसके बाद करोडम (कटोरा), कट्ठोरग और मकुंद आदि पात्र यथास्थान रखे जाते थे। इसके पश्चात लोग भोजन करने बैठते थे।

भोजन के अलावा जीवन निर्वाह के लिए आवश्यकता है वस्त्रों की। उस काल में सर्वसाधारण में सूती कपड़े पहनने का रिवाज था। लोग सुन्दर वस्त्र, गंध, माल्य और अलंकार धारण करते थे। सभा में जय प्राप्त करने के लिए शुक्ल वस्त्र धारण करना आवश्यक था। आगम साहित्य में चार प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख उपलब्ध है– १. वस्त्र जो प्रतिदिन पहने जाते थे, २. जो स्नान के बाद पहने जाते थे, ३. जो उत्सव-मेले आदि के समय पहने जाते थे और ४. जो राजा महाराजा आदि से भेंट करते समय धारण किये जाते थे।

निम्नलिखित वस्त्रों की गणना बहुमूल्य वस्त्रों में की जाती थी और जैन श्रमणों को इन्हें धारण करने का निषेध था– आईलग (अजिन पशुओं की खाल से बने वस्त्र), सहिय (सूक्ष्म महीन बुने वस्त्र), सहिण, कल्याण (सूक्ष्म, महीन और सुन्दर वस्त्र), आय (बकरे के बालों से बुने वस्त्र), काय (नीली कपास से बुने वस्त्र), खोम्रिय (क्षोभिक कपास से बुने वस्त्र), दुग्गल (दुक्कस, दूचूल पौधे के तंतुओं से बने वस्त्र), मलय, पतुन्न (पत्रोर्ण वृक्ष की छाल के तन्तुओं से निर्मित वस्त्र), अंसुय (अंशुक), चीणांसुय (चीनांशुक), देसराग (रंगीन वस्त्र), अमिल (साफ चिट्टे वस्त्र), फालिय (स्फटिक के समान स्वच्छ वस्त्र), कोचव (कोतव रोएदार कंबल), केवलग (कंबल) और पावार (प्रावरण लबादा)।

इनके अतिरिक्त विभिन्न देशों में बनाये सोने-चांदी के तारों से निर्मित, कसीदा

निकाले वस्त्रों का भी उल्लेख है। भगवती सूत्र में वडग नाम के वस्त्र का भी उल्लेख है। टीकाकार ने इसका अर्थ टसर किया है। अनुयोग द्वार सूत्र में पाँच प्रकार के वस्त्रों के नाम गिनाये हैं— अंडज (अंडी नामक वस्त्र,) कीरज (रेशम), बालय (ऊनी धागों से निर्मित) और वागय (वृक्ष की छाल से निर्मित)।

इस सब प्रकार के वस्त्रों में दूस अथवा दूष्य कीमती वस्त्र होता था। देवदूस (देवदूष्य), (देवों द्वारा दिया गया वस्त्र) का उल्लेख मिलता है। भगवान महावीर ने जब श्रमण दीक्षा ग्रहण की थी, तब उन्होंने इस वस्त्र को धारण किया था। इसका मूल्य एक लाख सुवर्ण मुद्रा कूता गया है। विजय दूष्य एक अन्य प्रकार का वस्त्र था, जो शंख, कुंद, जलधारा और समुद्र फेन के समान श्वेतवर्ण का होता था।

आगमिक टीका ग्रंथों में कोचव, पावारग (श्रावारक, कंबल), दाढि आलि (दाँतों की पंक्ति के समान श्वेत वस्त्र), पूरिका (टाट) और नवयक्ष (ऊन की चादर) का उल्लेख है। दूष्यों की दूसरी सूची में उपधान (हंस के रोम आदि से बना तकिया), तूली (पींजी हुई रुई अथवा आक की रुई के गद्दे, रजाई आदि, आलिंगनिका, गडोपधान (गालों पर रखने के तकिये) और मसूटक (चर्म-वस्त्र से बनाये हुए रुई के गोल तकिये) आदि की गणना की गयी है।

तत्पश्चात् शयनीय चादर, गद्दे, तकिये, तोशक आदि का उल्लेख मिलता है। सुकुमार, कोमल, ग्रंथ प्रधान कषाय रक्त शारिकाओं (अंगोछे) के द्वारा स्नान करने के बाद शरीर पौंछा जाता था। यवनिका (जवणिया, पर्दा) का वर्णन भी आता है। उस पर सुन्दर बेलबूटे और हीरे मोती का कसीदा निकाला जाता था। चेल-चिल मिण एक दूसरे प्रकार की यवनिका (कनात) थी, जो जैन श्रमणों के उपयोग में आती थी। यह पाँच प्रकार की बतायी गयी है— १. सुत्तमई - सूत की बनी हुई, २. रज्जमई - रस्सी की बनी हुई, ३. वागमई - वृक्षों की छाल से बनी हुई, ४. देउमई - उण्डों की बनी हुई और ४. कडगमई - बाँस की बनी हुई। यह कनात पाँच हाथ लंबी और तीन हाथ चौड़ी होती थी।

उस काल में लोग दो वस्त्र धारण करते थे— एक उत्तरीय (ऊपर का) और दूसरा अन्तरिम (नीचे का)। उत्तरीय वस्त्र बहुत सुन्दर होता था। उस पर लटकते हुए मोतियों के झूमके लगे रहते थे। वह अखंड वस्त्र का बना रहता था। उस काल में कपड़े सीने का रिवाज था। सुई-धागों का प्रचार था। बाँस, लोहे और सींग की बनी हुई सुइयों का उल्लेख मिलता है। फटे वस्त्र को अधिक फटने से बचाने के लिए उसमें गाँठ मार दी जाती थी।

वस्त्रों की भाँति जूतों का भी उल्लेख मिलता है। सकल कृत्सन (सयल कसिण) जूते कई प्रकार के होते थे। पुडग (घुटक) अथवा खल्लक जूते सर्दी के दिनों में पहने

जाते थे। उनमें विकाई की रक्षा हो सकती थी। अर्धखल्लक आधे पैर को और समस्त खल्लक सारे पैर को ढँक लेते थे। खपुसा घुटनों तक पहना जाता था। इससे सर्दी, सर्प, बर्फ और काँटों से रक्षा हो सकती थी। अर्ध जंघा आधी जाँघ को और पूर्ण जंघा समस्त जाँघ को ढँकने वाले जूते कहलाते थे। चमड़े की रस्सियों को गोफण कहा जाता था। आगम साहित्य में चमड़े के अन्य उपकरणों बध्न (टूटे हुए तलिए आदि जूतों को जोड़ने के लिए), धृति (फल आदि को फैलाने का चमड़ा), सिक्कस (छींका) और कापोतिका (वहंगी) आदि का उल्लेख किया गया है।

भोजन और वस्त्र की तरह जीवन रक्षा के लिए घर भी आवश्यक है। वर्षा, सर्दी, गर्मी और आंधी से रक्षा के लिए घर का होना आवश्यक है। उस काल में घर सामान्य तथा ईंट और लकड़ी के बनाये जाते थे। घरों में दरवाजे, खंभे, देहली और साँकल, कुंडे रहते थे। धनी और समृद्ध लोग आलीशान भवनों में निवास करते थे।

♣ जीवनयापन स्तर

लोग प्राय: ऐश-आराम से रहते थे। वे उबटन लगाकर स्नान करते थे तथा देश विदेश के सुन्दर और बहुमूल्य वस्त्र तथा आभूषण धारण करते थे। वे सुगंधित मालाएँ धारण करते थे तथा भाँति भाँति के विविध विशिष्ट व्यंजनों का आस्वादन करते थे। वे मद्यपान भी करते थे। वे गोशीर्ष चंदन, कुंकुम आदि का विलेपन करते थे, विविध वाद्य बजाते थे, नृत्य करते थे, नाटक रचाते थे, सुन्दर गीत गाते थे और उत्तम गंध और रस आदि का उपभोग करते थे। केशों को काटने और सजाने की ओर विशेष ध्यान दिया जाता था। आगम में आलंकारिक सभाओं का- केश कर्तनालय का उल्लेख मिलता है, जहाँ अनेक प्रकार के नौकर-चाकर, श्रमण, ब्राह्मण, अनाथ, रुग्ण और कंगाल पुरुषों की सेवा शुश्रूषा में लगे रहते थे। हजामत बनाने के कार्य को नख परिकर्म (णट्ट परिकम्म) कहा गया है।

लोग सोना-चांदी और हीरे तथा रत्नों के आभूषणों का प्रयोग करते थे। राजा-महाराजा तथा धनी-मानी पुरुष अपने नौकर-चाकरों से परिवेष्टित होकर चलते थे। नौकर-चाकर मालिक के सिर पर कोरण्टक के फूलों की माला से सज्जित छत्र धारण किये रहते थे। उनके पीछे पीछे जुलूस चलता था, जिसमें सुन्दर रमणियाँ चामर ढुलाती और पंखे से हवा करती थी। उनके हाथ में मंगलघट होता था। धनी-मानी लोग महलों में निवास करते थे। वे अनेक स्त्रियों से विवाह करते थे। वे बड़े-बड़े दान देते थे, गणिकाओं को मनमाना शुल्क प्रदान करते थे और ठाट-बाट से उत्सव मनाते थे।

मध्यम वर्ग के लोग भी आराम का जीवन व्यतीत करते थे। वे लोग दान धर्म

में अपना पैसा खर्च करते थे तथा धर्म और संघ की भक्ति करते थे। सबसे दयनीय दशा निम्नवर्ग की थी। ये लोग बड़ी कठिनाई से द्रव्योपार्जन कर पाते थे। इसी कारण उनकी आजीविका मुश्किल से चलती थी। कोदों का भात ही उन्हें नसीब होता था। श्रमजीवी साहूकारों द्वारा शोषित किये जाते थे तथा कर्जा न चुका सकने के कारण उन्हें जीवन भर उनकी गुलामी करनी पड़ती थी।

प्रातःकाल होने पर गायें चरने जातीं और व्यापारी, लुहार, किसान आदि सभी श्रमिक अपने-अपने कामों में लग जाते थे।

तत्कालीन समृद्ध परिवारों में पहने जाने वाले आभूषणों के कतिपय नाम इस प्रकार हैं– कुंडल, गुण, मणि, तुडिय, तिसरिय, बोलमा, पलवा, हार, अर्धहार, एकावली, मुक्तावली, कनकावली, रत्नावली, पट्ट और मुकुट। ये सभी आभूषण सोने, हीरे, जवाहरात, मोतियों आदि से बनाये जाते थे। इनके अतिरिक्त फूलों के आभूषण बना कर भी श्रंगार करने का प्रचलन था। निम्न श्रेणी के लोग कोड़ियो, गुंजाफल, सीप आदि के आभूषण पहनते थे। प्रायः सभी लोग आभूषणों से अपने शरीर को सजाने का ध्यान रखते थे।

महिलाएं अनेक प्रकार के साज श्रंगार करती थी। सामाजिक जीवन में महिलाओं की स्थिति का अन्यत्र विचार किये जाने से यहाँ उनके बारे में विशेष उल्लेख नहीं किया गया है।

♣ मरण संस्कार - अन्त्येष्टि क्रिया

जीवन में जन्म के साथ मरण का नाता भी जुड़ा हुआ है। जब चैतन्यविहीन शरीर मात्र रह जाता है, तब उसे शव कहते हैं। इसी की अन्त्येष्टि क्रिया की जाती है। शव को चन्दन, अगरु, तुरुक्क, घी और मधु डालकर जलाया जाता था। शरीर के जल जाने पर हड्डियों को एकत्र कर उन पर स्तूप बना दिये जाते थे। मृतक पूजन और रोदन (रुज्जरुह) का उल्लेख मिलता है। अनाथ मृतक की हड्डियों को घड़े में रख कर गंगा में सिराया जाता था। शव को पशुपक्षियों के भक्षण आदि के लिए जंगल आदि में भी रख कर छोड़ दिया जाता था। राजा का आदेश होने पर साधु के शव को गड्ढे (अगड), दीर्घिका, बहती हुई नदी अथवा जलती हुई आग में रख दिया जाता था।

अपराधियों के शवों को भी गीध, गीदड़ आदि से भक्षण कराने के लिए छोड़ दिया जाता था। मुर्दे को गाड़ने का भी रिवाज था। विशेषकर यह रिवाज म्लेच्छों में प्रचलित था। ये लोग मुर्दों को मृतक गृह या मृतक शयन में गाड़ देते थे।

मृतकों की नीहरण क्रिया बड़े ठाट-बाट से होती थी। उनके अनेक मृतकृत्य

किये जाते थे। धनिकों की अन्त्येष्टि क्रिया बड़ी सजधज के साथ संपन्न होती थी। प्रतिमास मृतक के लिए दिये जाने वाले भोज को हिंगोल अथवा करडुय भत्त कहा जाता था। मृतक का वार्षिक दिवस मनाया जाता था और उस दिन ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता था।

आयुर्वेद– वैसे तो जैन आगम ग्रंथ मूलत: आध्यात्मिक ग्रंथ हैं। इन ग्रंथों में प्रसंगानुसार धर्म और दर्शन के साथ ही अन्य विषयों का विवरण भी मिलता है। जैनागमों में आयुर्वेद विषयक उल्लेख भी उपलब्ध है। जैनागमय साहित्य के अनुशीलन से इस विषयक जो जानकारी मिलती है, उसका विवरण इस प्रकार हैं–

चिकित्सा के अंग– स्थानांग[१] सूत्र के अनुसार चिकित्सा के चार अंग हैं। यथा– (१) वैद्य, (२) औषध, (३) रोगी और, (४) परिचारक अथवा परिचर्या करने वाला।

व्याधि उत्पत्ति के कारण– व्याधियां उत्पन्न होने के चार कारण बताये गए हैं, यथा–

(१) वातिक– वायु के विकार से उत्पन्न होने वाली व्याधि।

(२) पैत्तिक– पित्त के विकार से उत्पन्न होने वाली व्याधि।

(३) श्लैष्मिक– कफ के विकार से उत्पन्न होने वाली व्याधि।

(४) **सान्निपातिक–** वात, पित्त और कफ के सम्मिलित विकार से उत्पन्न होने वाली व्याधि।[२]

सम्पूर्ण जैन आगम साहित्य के अनुशीलन करने के पश्चात् रोगोत्पत्ति के नौ कारण ज्ञात होते हैं। यथा– (१) अतिआहार (२) अहिताशन, (३) अति निद्रा, (४) अति जागरण, (५) मूत्रावरोध, (६) मलावरोध, (७) अध्वगमन, (८) प्रतिकूल भोजन और (९) काम विकार।

यदि मनुष्य इन नौ कारणों से बचता रहे तो रोग उत्पन्न होने का भय नहीं रहता है।

चिकित्सक– चार प्रकार के वैद्य या चिकित्सकों की जानकारी मिलती है। जैसे–

(१) आत्मचिकित्सक, न परिचिकित्सक– कोई वैद्य अपनी चिकित्सा करता है, दूसरे की चिकित्सा नहीं करता।

---

१. स्थानांग सूत्र, ४/४/५१६

२. वही, ४/४/५१५

(२) **परचिकित्सक, न आत्म चिकित्सक**– कोई वैद्य दूसरे की चिकित्सा करता है, स्वयं की नहीं।

(३) **आत्म चिकित्सक भी, परचिकित्सक भी**– कोई वैद्य अपनी चिकित्सा भी करता है और दूसरों की चिकित्सा भी करता है।

(४) **न आत्म चिकित्सक, न परचिकित्सक**– कोई वैद्य न अपनी चिकित्सा करता है न दूसरों की ही चिकित्सा करता है।[१]

स्थानांग सूत्र[२] में कायनैपुणिक और चिकित्सानैपुणिक का उल्लेख मिलता है। कायनैपुणिक शरीर की इड़ा, पिंगला आदि नाड़ियों का विशेषज्ञ होता था। वर्तमान समय में ऐसे विशेषज्ञ को नाड़ी वैद्य की संज्ञा दी जाती है। चिकित्सा नैपुणिक शारीरिक चिकित्सा करने में कुशल बताया गया है।

ज्ञाताधर्म कथाङ्ग[३] में चिकित्सालय का उल्लेख मिलता है। इन चिकित्सालयों में वेतन भोगी वैद्य तथा अन्य कर्मचारी रोगियों की सेवा-शुश्रुषा के लिए कार्यरत रहते थे। जो उल्लेख है वह इस प्रकार है– "नन्दमणिकार सेठ ने पश्चिम दिशा के वनखण्ड में एक विशाल चिकित्साशाला में बहुत-से वैद्य, वैद्य पुत्र, ज्ञायक (वैद्यशास्त्र न पढ़ने पर भी अनुभव के आधार से चिकित्सा करने वाले अनुभवी), ज्ञायक-पुत्र, कुशल (अपने तर्क से ही चिकित्सा के ज्ञाता) और कुशल-पुत्र आजीविका, भोजन और वेतन पर नियुक्त किये हुए थे। वे बहुत से व्याधितों की, ग्लानों की, रोगियों की और दुर्बलों की चिकित्सा करते रहते थे। उस चिकित्साशाला में दूसरे भी बहुत से लोग आजीविका, भोजन और वेतन देकर रखे गये थे। वे उन व्याधितों, रोगियों, ग्लानों और दुबलों की औषध, भेषज, भोजन और पानी से सेवा शुश्रुषा करते थे।"

आयुर्वेद के प्रकार– जैन आगम साहित्य[४] के परिशीलन से ज्ञात होता है कि आयुर्वेद के आठ प्रकार बताये गए हैं। यथा–

(१) **कुमारभृत्य या कौमारभृत्य**– बाल रोगों का चिकित्साशास्त्र।

(२) **कायचिकित्सा**– शारीरिक रोगों का चिकित्साशास्त्र।

(३) **शालाक्य**– शलाका के द्वारा नाक, कान आदि के रोगों का चिकित्साशास्त्र।

(४) **शल्यहत्या या शाल्य हत्या**– आयुर्वेद का यह अंग जिसमें शल्यकंटक गोली आदि निकालने की विधि का वर्णन किया गया है। शस्त्र द्वारा चीरफाड़ करने का शस्त्र।

---

१. वही, ४/४/५१७
२. स्थानांग सूत्र ९/२८
३. ज्ञाता १३/१७
४. स्थानांग सूत्र, ८/२६, विपाक सूत्र, १/७/८

(५) **जंगोली या जांगुल–** इसके अंतर्गत विषों की चिकित्सा का विधान है.।

(६) **भूत विद्या–** भूत-प्रेत, यक्षादि से पीड़ित व्यक्ति की चिकित्सा का शास्त्र ।

(७) **क्षारतंत्र या बाजीकरण–** बाजीकरण, वीर्यवर्धक औषधियों का शास्त्र ।

(८) **रसायन–** पारद आदि धातु रसों के द्वारा चिकित्सा का शास्त्र अर्थात आयु को स्थिर करने वाली व व्याधि-विनाशक औषधियों का विधान करने वाले प्रकरण विशेष ।

विपाक सूत्र में यह भी बताया गया है कि धन्वन्तरी वैद्य राजा तथा अन्य रोगियों को मांस भक्षण का उपदेश देता था, इस कारण वह (अपने पाप कर्मों के कारण) काल करके छट्ठी नरक पृथ्वी में उत्कृष्ट बावीस सागरोपम की स्थिति वाले नारकियों में नारक रूप से उत्पन्न हुआ[1] । यहाँ यह उल्लेख प्रासंगिक ही होगा कि जैन आगमों में अहिंसा तत्व को प्रधानता दी गई है । अहिंसा को सर्वोपरि माना गया है । इस सम्बन्ध में आचारांग सूत्र[2] में मिलने वाला उल्लेख प्रस्तुत है । वहाँ कहा गया है — अपने को चिकित्सा पंडित बताते हुए कुछ वैद्य चिकित्सा में प्रवृत्त होते हैं । वह अनेक जीवों का हनन, भेदन, लुम्पन, विलुम्पन और प्राण-वध करते हैं, जो पहले किसी ने नहीं किया, ऐसा मैं करुंगा' यह मानता हुआ वह जीववध करता है । वह जिसकी चिकित्सा करता है, वह भी जीववध में सहभागी है ।

इस प्रकार की हिंसा प्रधान चिकित्सा करने वाले अज्ञानी की संगति से क्या लाभ । जो चिकित्सा करवाता है, वह भी अज्ञानी है । अनगार ऐसी चिकित्सा नहीं करवाता । इस प्रकार चिकित्सा में हिंसा का निषेध किया गया है ।

रोगों के नाम– आचारांग सूत्र[3] में सोलह प्रकार के रोगों के नामों का उल्लेख है । यथा–

(१) गण्डमाला, (२) कोढ़, (३) राजयक्ष्मा, (४) अपस्मार (मृगी), (५) काणत्व, (६) जड़ता (अंगोपांगों की शून्यता), (७) कुणित्व (टूटापन, एक हाथ या पैर छोटा और बड़ा-विकलांग होना), (८) कुबड़ापन, (९) उदररोग (जलोदर, अफारा, उदर शूल आदि), (१०) मूकरोग (गूंगापन), (११) शोथ रोग-सूजन, (१२) भस्मक रोग, (१३) कम्पनवात, (१४) पीठसर्पी, पंगुता, (१५) श्लीपद रोग-हाथी पगा, एवं (१६) मधुमेह ।

---

१. विपाक सूत्र, १/७/९-१०

२. आचारांग सूत्र, २/६/९४

३. *प्रथमश्रुत स्कंध ८/१/१७९*

विपाक सूत्र[1] में भी सोलह रोगों के नामों का उल्लेख मिलता है। किन्तु नामों में भिन्नता है। देखिये– (१) श्वास, (२) कास, (३) दाह, (४) कुक्षि शूल, (५) भगन्दर, (६) अर्श, (७) अजीर्ण, (८) दृष्टि शूल, (९) मस्तक शूल, (१०) आरोचक, (११) अक्षिवेदना, (१२) कर्णवेदना, (१३) खुजली, (१४) जलोदर, (१५) कोढ़ और (१६) बवासीर।

ज्ञाता धर्म कथाङ्ग[2] में विपाक सूत्र में मिलने वाले सोलह रोगों से मिलते-जुलते नामोल्लेख हैं किन्तु कुछ अन्तर भी हैं। यथा–

(१) श्वास, (२) कास, (३) ज्वर, (४) दाह, (५) कुक्षिशूल, (६) भगन्दर, (७) अर्श, (८) अजीर्ण, (९) नेत्रशूल, (१०) मस्तकशूल, (११) भोजन विषयक अरुचि, (१२) नेत्रवेदना, (१३) कर्णवेदना, (१४) कंडू, (१५) दकोदर-जलोदा और (१६) कोढ़।

रोगियों की चिकित्सा के लिए चिकित्सा शाला होने का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है, किन्तु यह भी उल्लेख है कि वैद्य अपने घरों से शास्त्र कोश लेकर निकलते थे, और रोग का निदान जानकर अभ्यंग, उबटन, स्नेहपान, वमन विरेचन, अवदहन, (गर्म लोहे की शलाका आदि से दागना), अवस्नान (औषधि के जल से स्नान), अनुवासना (गुदा द्वारा पेट में तैलादि के प्रवेश कराना), वस्ति कर्म, (चर्म वेस्टन द्वारा सिर आदि में लेप लगाना अथवा गुदा भाग में बत्ती आदि चढ़ाना), निरुह (एक प्रकार का विरेचन), शिरावेध (नाड़ी वेध कर रक्त निकालना), तक्षण (छुरे आदि से त्वचा आदि काटना), प्रतक्षण (त्वचा का थोड़ा भाग काटना), शिरोवस्ति (सिर में चर्म कोश बाँधकर उसमें संस्कृत तेल का पूरना), तर्पण (शरीर में तेल लगाना), पुटपाक (पाक) विशेष से तैयार की हुई औषधि तथा छाल, बल्ली मूल, कंद, पत्र, पुष्प फल, बीज, शिलिका (चिरायता आदि कड़वी औषधि), गुटिका, औषधि आदि से उपचार करते थे[3]।

जैनागम साहित्य का इस दृष्टि से गहन अनुशीलन अपेक्षित है।

उक्त प्रकार से आगमिक युग की सामाजिक व्यवस्था का संक्षेप में दिग्दर्शन कराया है। सामाजिक जीवन से संबंधित अन्य कतिपय बातों का आगे उल्लेख किया जा रहा है।

¤

---

१. विपाक सूत्र, १/२२
२. ज्ञाता, १३/२१
३. ज्ञाता, १३/२२, विपाक सूत्र, १/२३

अध्याय १०

आगम साहित्य में शासन व्यवस्था के उल्लेख

आत्मसाधना और निवृत्ति जैन धर्म का लक्ष्य होने से आगमों में इहलौकिक विधिविधानों के बजाय, तप, त्याग, वैराग्य पर ही अधिक भार दिया गया है। इस कारण अन्य धर्म ग्रंथों की भाँति आगमों में शासन-समाज आदि की व्यवस्था नियामक पद्धति, प्रणाली, विधान का व्यवस्थित उल्लेख नहीं मिलता। यदि कोई उल्लेख है, तो वे केवल कथा कहानियों के रूप में उपलब्ध हैं, जो तत्कालीन सामान्य जनजीवन के व्यावहारिक कार्यों का दर्शन कराते हैं। इस स्थिति में आगमों में यत्र-तत्र उपलब्ध सूचनाओं के आधार पर ही तत्कालीन समाज आदि की व्यवस्था की तरह प्रस्तुत में शासन व्यवस्था का दिग्दर्शन कराते हैं।

♣ राजा और राजपद

प्राचीन भारत की शासन व्यवस्था में राजा का प्रमुख स्थान रहा है। जितने भी प्राचीन भारतीय कथानक मिलते हैं, उनमें राजा रानी का वर्णन अवश्य ही दिया गया है। कितने ही कथानकों का प्रारंभ 'एक था राजा' के वाक्य से प्रारंभ हुए सुनने-पढ़ने को मिलते हैं। जैन परंपरा भी इससे अछूती नहीं रही है। इस कारण आगमगत लोक जीवन के वर्णन में राजा का उल्लेख सर्वप्रथम किया गया है।

जैन परंपरा के अनुसार आदि तीर्थंकर ऋषभदेव प्रथम राजा हुए, जिन्होंने भारत की प्रथम राजधानी इक्ष्वाकु भूमि अयोध्या में राज किया। इसके पूर्व युगलिक युग था। उस काल में न कोई राजा था और न राज्य था, न दंड था और न दंडविधान का कर्ता। सभी अपने आप अनुशासित रह कर स्वधर्म का पालन करते थे। इस कारण लोगों में न कोई झगड़ा था और न वैमनस्य। जब कलह ही नहीं था, तो दंड की भी आवश्यकता नहीं थी। लेकिन तीसरे आरे के अन्त में जब कल्पवृक्षों का प्रभाव घटने लगा, मनुष्य अपने धर्म से डिगने लगे, तो शासन और शासक की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी और सभी ने अंतिम कुलकर नाभि के पास पहुँच कर अनुरोध किया कि अपने पुत्र ऋषभदेव को शासक राजा बना कर राज्य व्यवस्था स्थापित करे। उनके अनुरोध पर नाभि ने ऋषभदेव का राज्याभिषेक किया।

ऋषभदेव ने समाज जीवन को व्यवस्थित बनाने के लिए शिल्प कला कौशल, कृषि आदि का उपदेश दिया एवं दंड व्यवस्था का विधान किया। इसके बाद उत्तरकाल में राजाओं की परंपरा चालू हो गयी।

प्राचीन काल में जैसे राजाओं का होना आवश्यक बताया गया है, वैसे ही राजा को गुण संपन्न होना भी आवश्यक बताया है। सर्वप्रथम तो राजा का मातृपक्ष और पितृपक्ष शुद्ध होना जरूरी है और उसके बाद उसे मृदुभाषी, राजनीति में कुशल एवं धर्म में श्रद्धावान होना चाहिये। यदि वह लंपट है, द्यूतरमण करता है, मद्यपान करता है, शिकार में समय व्यतीत करता है, कठोर वचन बोलता है, कठोर दंड देता है और धनसंचय की तरफ ध्यान नहीं देता है, उचित टेक्स नहीं लगाता है, तो वह शीघ्र ही नाश को प्राप्त होता है। मतलब यह है कि शासन की सुव्यवस्था के लिए राजा का सुयोग्य होना आवश्यक है।

♣ राजा की दिनचर्या का प्रारम्भ

राजा प्रातः उठकर व्यायाम करता फिर अपने शरीर का मर्दन करवाता था जिससे उसकी थकान समाप्त हो जाया करती थी। कल्पसूत्र में भगवान महावीर के पिता महाराजा सिद्धार्थ के सम्बन्ध में उल्लेख है कि सूर्योदय होने पर वे अपनी शय्या से उठकर व्यायामशाला से परिश्रमित हो जाते तब थकान दूर करने के लिए सौ औषधियों से बनाये हुए, सौ बार पकाये गए या सौ द्रव्य खर्च ने से बने हुए शतपाक तेल से उत्पन्न हुए सहस्त्रपाक आदि सुगंधित तेलों से मर्दन करवाते। यह मर्दन अत्यंत गुणकारी, रस, रुधिर धातुओं की वृद्धि करने वाला, क्षुधा अग्नि को दीप्त करने वाला, बल, मांस, उन्माद को बढ़ाने वाला, कामोद्दीपक, पुष्टिकारक तथा सर्व इन्द्रियों को सुखदायक था। इसके आगे मर्दन करने वालों के लिये कहा गया है कि वे मर्दन करने वाले भी सम्पूर्ण अंगुलियों सहित सुकुमार हाथ पैर वाले, मर्दन करने में प्रवीण और अन्य मर्दन करने वालों से विशेषज्ञ, बुद्धिमान तथा परिश्रम को जीतने वाले थे। ऐसे मालिश करने वाले पुरुष अस्थि, मांस, त्वचा, रोम इन चारों को सुखदायक होते थे।

कल्प सूत्र का यह विवरण विशेष प्रकार के तेलों के निर्माण की जानकारी प्रदान करता है। साथ ही इस विवरण से यह भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि तत्कालीन राजा/राजाओं की दिनचर्या व्यायाम, मालिश और स्नान से प्रारम्भ होती थी।

♣ राजा का उत्तराधिकारी

राजा का पद साधारणतया वंश परंपरागत माना जाता था। यदि राजपुत्र अपने पिता का इकलौता बेटा होता, तो राजा की मृत्यु या राजा के दीक्षा लेने के बाद प्रायः वही राजसिंहासन का अधिकारी होता था। लेकिन यदि उसका सगा या सौतेला भाई होता, तो उनमें परस्पर द्वेष होने लगता और राजा की मृत्यु के पश्चात् यह द्वेष

भ्रातृघातक युद्धों में परिणत हो जाता था। यदि कोई अनहोनी घटना नहीं घटती, तो ज्येष्ठ पुत्र को राजपद और कनिष्ठ पुत्र को युवराज पद मिलता था।

यदि राजा के दो से अधिक पुत्र होते, तो उनकी परीक्षा ली जाती थी और जो उस परीक्षा में सफल होता था, उसे युवराज बनाया जाता था। राजा की मृत्यु हो जाने पर जिस पुत्र को राजसिंहासन पर बैठने का अधिकार मिलता, वह यदि दीक्षा ले लेता, तो उस स्थिति में उसके कनिष्ठ भ्राता को राजगद्दी पर बिठाया जाता था। कभी दीक्षित राजपुत्र संयम पालन में अपने आपको असमर्थ पाता और दीक्षा त्याग कर वापस लौट आता, तो उसका कनिष्ठ भ्राता उसे अपने आसन पर बैठा स्वयं उसका स्थान ग्रहण कर लेता था अर्थात् दीक्षित हो जाता था। कभी राजा युवराज का राज्याभिषेक करने के पश्चात् स्वयं संसार त्यागने की इच्छा व्यक्त करता, लेकिन युवराज राजा बनने से इन्कार कर देता और पिता के साथ दीक्षा ग्रहण कर लेता, तो इस स्थिति में अन्य कोई राजपुत्र के न होने पर यदि कोई बहन होती और उसका पुत्र इस योग्य होता, तो उसे राजा के पद पर अभिषिक्त किया जाता। क्वचित् कदाचित् पुत्री को भी अन्य कोई उपाय न देखकर राज्यपद का अधिकारी बनाया जाता था, लेकिन ऐसे उदाहरण नहीं वत् ही मिलते हैं।

राजपुत्रों में उत्तराधिकार प्राप्त करने की लोलुपता होने के कारण राजा उनसे शंकित और भयभीत रहते थे और उनपर कठोर नियंत्रण रखते थे। फिर भी महत्वाकांक्षी राजपुत्र अपने कुचक्र में सफल भी हो जाते थे।

♣ राज्याभिषेक

राज्याभिषेक समारोह बड़ी धूमधाम से मनाया जाता था। जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति में भरत चक्रवर्ती के अभिषेक का विस्तृत वर्णन किया गया है। उसमें बताया गया है कि अनेक राजा-महाराजा, सेनापति, पुरोहित, अठारह श्रेणियां और वणिक आदि से परिवेष्ठित भरत ने जब अभिषेक भवन में प्रवेश किया, तो सबने सुगंधित जल से उनका अभिषेक किया और जय-जयकार से गगनमंडल गुंजा दिया। उपस्थित जन समूह की ओर से उन्हें राजमुकुट पहनाया गया, मालाएँ पहनायी गयीं और विविध आभूषणों से उन्हें अलंकृत किया गया तथा कई दिनों तक नगर में उत्सव मनाया गया। ज्ञाताधर्म कथा में मेघकुमार के अभिषेक का बहुत ही सरस वर्णन किया गया है।

चंपा, मथुरा, वाराणसी, श्रावस्ती, साकेत, कांपिल्य, कौशांबी, मिथिला, हस्तिनापुर और राजगृह इन दस नगरों को अभिषेक राजधानी कहा गया है।

♣ राजा का अन्त:पुर

राजा लोग राजभवनों या प्रासादों में निवास करते थे। देवों के निवास को प्रासाद और राजाओं के निवास स्थान को भवन कहते हैं। प्रासाद ऊँचे होते हैं और उनकी ऊँचाई चौड़ाई की अपेक्षा दुगुनी होती है और भवन की ऊँचाई चौड़ाई की अपेक्षा कम होती है। प्राचीन सूत्रों में आठ तल वाले प्रासादों का उल्लेख है। ये प्रासाद सुन्दर शिखरों से युक्त तथा ध्वजा, पताका, छत और मालाओं से सुशोभित होते थे। इनके फर्शों में भाँति-भाँति के मणि मुक्ता जड़े रहते थे। विविध प्रकार के नृत्य और गान यहाँ होते रहते थे और बाजों की मधुर ध्वनि गूँजती रहती थी।

इन राजभवनों में अन्त:पुर का स्थान बड़ा महत्वपूर्ण था। देश की आंतरिक और बाह्य राजनीतिक उथल-पुथल में अन्त:पुर का विशेष हाथ रहा करता था। ये अन्त:पुर अनेक प्रकार के होते थे। जीर्ण अन्त:पुर में वे अपरिभोग्य स्त्रियाँ रहती थीं, जिनका यौवन ढल गया है। नव अन्त:पुर यौवनवती परिभोग्य स्त्रियों का निवास स्थान था। कन्या अन्त:पुर में यौवन को अप्राप्त कन्याएँ रहती थीं। अन्त:पुर को अधिकाधिक समृद्ध और आधुनिक बनाने के लिए राजागण सदा प्रयत्नशील रहते थे और बिना किसी जातीय भेदभाव के सुन्दर कन्याओं और स्त्रियों से उसे संपन्न करते थे। रूपवती स्त्रियों का अधिक से अधिक संग्रह होना तत्कालीन युग के वैभव प्रदर्शन का अंग माना जाता था।

अन्त:पुर को सदा खतरा बना रहता था। इसलिए राजा लोग उसकी बड़ी सावधानी से रक्षा करने के लिए प्रयत्नशील व सजग रहते थे। नपुंसक और वृद्ध पुरुष अन्त:पुर की रक्षा के लिए तैनात किये जाते थे। कंचुकी को राजा के महल में आने जाने की छूट थी। वह विनीत वेष धारण करता तथा राजा की आज्ञापूर्वक अन्त:पुर की रानियों के पास राजा का संदेश और रानियों का संदेश राजा के पास पहुँचाता था। महत्तर अन्त:पुर का एक अन्य अधिकारी था। वह राजा और रानियों के बीच अन्तरंग बातों को पहुँचाने के लिए सूत्रधार का काम करता था। दंडधर हाथ में दंड धारण कर अन्त:पुर में पहरा देते थे। दंडारक्षक राजा की आज्ञा से किसी स्त्री अथवा पुरुष को अन्त:पुर में ले जाते थे और दौवारिक द्वार पर बैठ कर अन्त:पुर की रक्षा करते थे। इतनी सावधानी रखने पर भी अन्त:पुर की रानियाँ यदि किसी अन्य व्यक्ति के साथ अनैतिक आचरण करती हुई पायी जाती तो उसका परिणाम अनर्थकारी होता था और यहाँ तक कि प्राणदंड भी दे दिया जाता था। कन्दर्पबहुल मायावी पशु-पक्षियों का भी प्रवेश अन्त:पुर में निषिद्ध था। इससे ज्ञात होता है कि उस समय अन्त:पुर की रक्षा के लिए राजाओं को सदा सावधानी रखनी पड़ती थी।

सौतों की डाह भी प्रसिद्ध है। अन्तःपुर में भी सपत्नियों में आपसी लड़ाई झगड़े होते थे। उनका परिणाम अत्यन्त भंयकर होता था। यहाँ तक कि सौत और उसके सगे संबंधियों की हत्या कर दी जाती थी। इसी प्रकार वे अपने सौतेले पुत्रों से भी ईर्ष्या करती थीं और उनको मारने के उपाय करती थीं। इसके अनेक उदाहरण आगम साहित्य में उपलब्ध हैं। उनसे यह मालूम होता है कि किस तरह अनेक सौतों ने अपनी सौत को मरवा डाला।

♣ राजा के प्रधान पुरुष

जैन ग्रंथों में राजा, युवराज, अमात्य, श्रेष्ठी और पुरोहित ये पाँच राज्य के प्रधान पुरुष बतलाये हैं। पहले यह बताया जा चुका है कि राजा की मृत्यु होने पर अथवा उसके दीक्षित होने पर युवराज को राजपद पर अभिषिक्त किया जाता था।

युवराज को राज काज में निपुण बनाने के लिए और सुरक्षा की समुचित व्यवस्था करने के लिए उसकी शिक्षा का विशेष प्रबंध किया जाता था। वह बहत्तर कलाओं, अठारह देशी भाषाओं, गीत, नृत्य, हस्तियुद्ध, अश्वयुद्ध, मुष्ठियुद्ध, बाहुयुद्ध, लतायुद्ध तथा धनुर्वेद आदि में पारंगत होता था। समस्त आवश्यक कार्य करने के बाद सभामंडप में पहुँचकर वह राजकाज की देखभाल करता था। युवराज को युद्धनीति की शिक्षा तो प्रारंभ में ही दी जाती थी और यदि कोई पड़ौसी राजा उपद्रव करता, तो उसे शान्त करना उसका कर्त्तव्य होता था।

युवराज पद के अनन्तर अमात्य अथवा मंत्री का पद अत्यन्त महत्वपूर्ण था। वह व्यवहार और नीति में निपुण होता था तथा राज्य के प्रत्येक गाँव की खबर रखता था। साम, दाम, दंड, भेद नीति में कुशल होना उसकी योग्यता मानी जाती थी। राजा अपने अनेक कार्यों और गुप्त रहस्यों के बारे में अमात्यों से मंत्रणा करते थे। मंत्री राजा को हितकारी शिक्षा देते थे और खास परिस्थिति में अयोग्य राजा को हटा कर दूसरे राजा को गद्दी पर बिठा देते थे। आन्तरिक उपद्रवों और बाह्य आक्रमणों से राज्य की रक्षा करने के लिए मंत्रीगण गुप्तचरों की नियुक्ति करते थे। वे अन्तःपुर से लेकर अपने राज्य और परराज्यों में घूमते रहते थे और सभी तरह की सूचनाएँ मंत्री तक पहुँचाते थे।

धार्मिक कार्यों को सम्पन्न करने के लिए पुरोहित रखे जाते थे। वे शांति के लिए जप आदि का आयोजन भी करते थे।

श्रेष्ठी (णिगमारक्खिअ - नगर सेठ) अठारह प्रकार की श्रेणियों का प्रमुख होता था। राजा द्वारा मान्य होने के कारण उसका मस्तक देवमुद्रा से भूषित सुवर्णपट्ट से शोभित रहता था।

इसके अतिरिक्त ग्राम महत्तर, राष्ट्र महत्तर (रट्ठडड - राठौर), गणनायक, दंडनायक, तलवर, कोतवाल (नगर रक्षक) कौटुंबिक, गणकर ज्योतिषी, वैद्य, इभ्य (श्रीमन्त), ईश्वर सेनापति, सार्थवाह, संधिपाल, पीठमर्द, महामात्र (महावत), यानशालिक, विदूषक, दूत, चेट (वार्ता निवेदक), किंकर, कर्मकर, असिग्राही, धनुग्राही, कोतग्राही, छत्रग्राही, चामरग्राही, वीणाग्राही, मांड, अभ्यंग लगाने वाला, उबटन मलने वाले, स्नान कराने वाले, वेषभूषा से मंडित करने वाले, पगचंपी करने वाले आदि कितने ही कर्मचारी राजा की सेवा के लिए रहते थे।

♣ सैन्य व्यवस्था

राजा को अपने राज्य की सुरक्षा के लिए सदैव सजग रहना पड़ता था, क्योंकि उस काल में राज्य विस्तार की आकांक्षा के अतिरिक्त शौर्य प्रदर्शन, रूपवती स्त्रियों को प्राप्त करने के लिए अथवा स्वयंवरों में कन्या को प्राप्त करने के लिए प्राय: युद्ध हुआ करते थे। कभी-कभी किसी राजा के पास कोई बहुमूल्य वस्तु होती तो उसे प्राप्त करने के लिए प्राय: युद्ध छिड़ जाते थे। युद्ध में विजय प्राप्त करने के लिए रथ, अश्व, हाथी और पदाति अत्यंत उपयोगी होते थे। इसलिए प्रत्येक राजा इन चारों अंगों को सबल बनाने की ओर विशेष ध्यान देता था। इनमें रथ का सबसे अधिक महत्व था। उसे छत्र, ध्वजा, पताका, घंटा, तोरण, नन्दीघोष और छोटी-छोटी घंटियों से मंडित किया जाता था। उस पर सोने की सुन्दर चित्रकारी बनायी जाती थी और धनुष-बाण, तूणीर, खड्ग, शिरस्त्राण आदि अस्त्र शस्त्रों से उसे समृद्ध किया जाता था। रथ अनेक प्रकार के बताये गये हैं। संग्राम रथ में कटिप्रमाण फलकमय वेदिका बनायी जाती थी।

हाथियों के अनेक प्रकार होते हैं। उनमें गंधहस्ती जाति के हाथी सर्वोत्तम होते हैं। प्रत्येक राजा का एक प्रमुख हाथी होता था। युद्ध के समय हाथियों को उज्ज्वल वस्त्र, कवच, गले में आभूषण और कर्णफूल पहनाये जाते थे। उनके पेट पर रस्सी बाँध कर उन पर लटकती हुई झूलें डाल कर, छत्र, ध्वजा और घंटे लटका कर उसे अस्त्र-शस्त्र तथा ढालों से सुशोभित किया जाता था।

विंध्याचल के जंगलों में हाथियों के झुंड घूमते फिरते थे। उन्हें पकड़ कर शिक्षा दी जाती थी। हाथियों को शिक्षा देने वाले दमग उन्हें वश में करते थे। महावत हस्तीशाला की देखभाल करते थे और अंकुश की सहायता से वे हाथी से अपनी इच्छानुसार काम लेते थे तथा झूल, ध्वजा, माला एवं विविध अलंकारों से उसे सजाते थे। हाथियों की पीठ पर अंबारी रखी जाती थी। उसमें बैठा हुआ मनुष्य दिखायी नहीं देता था।

हाथियों की भाँति घोड़ों का भी बहुत महत्व था। घुड़सवार पहले से ही शत्रु पर आक्रमण कर देते थे। वे शत्रुसेना में घुस कर उसे विचलित कर देते थे। वे अपनी सेना की रक्षा करते थे और शत्रु द्वारा पकड़े हुए अपने सैनिकों को छुड़ा लेते थे। वे शत्रु के कोष तथा राजकुमार का अपहरण कर लेते थे। तथा जिनके घोड़े मर गये हैं, ऐसे सैनिकों का पीछा करके उन्हें पकड़ लेते थे तथा शत्रु सेना को दूर खदेड़ देते थे।

पदाति (पैदल सेना) सेना का मुख्य अंग था। ये लोग हाथ में तलवार, भाला, धनुषबाण आदि लेकर चलते थे तथा बाण आदि के प्रहार से स्वयं की रक्षा के लिए सन्नद्ध हो कर वर्म और कवच धारण किये रहते थे। वे अपनी भुजाओं पर चर्म पट्ट बाँधते थे तथा उनकी गर्दन आभूषणों से एवं उनका मस्तक वीरता सूचक पट्ट से शोभित रहता था। योद्धा लोग धनुष चलाते समय आलीढ़, प्रत्यालीढ, वैशाखमण्डल और समपाद नाम के आसन स्वीकार करते थे।

समस्त सेना सेनापति के नियंत्रण में रहती थी। अपनी सेना में व्यवस्था और अनुशासन बनाये रखने के लिए वह सदा सचेष्ट रहता था। युद्ध के अवसर पर राजा की आज्ञा पा कर वह सेना को सज्ज करता और कूच के लिए तैयार रहता था।

युद्ध प्रारंभ करने के पूर्व आक्रमणकारी राजा शत्रु के नगर को चारों ओर से घेर लेता था, फिर भी यदि शत्रु आत्मसमर्पण के लिए तैयार नहीं होता था, तो दोनों पक्षों में युद्ध होने लगता था। राजा लोग अपने नगर की किलेबंदी बड़ी मजबूती से किया करते थे। नगर के चारों ओर परकोटा, परिखा, गोपुर (किले का दरवाजा) और अट्टालिकाएँ आदि बनाये जाते थे। कोठारों को अनाज से भरकर युद्ध की तैयारियाँ की जाती थी। युद्ध अनेक प्रकार से लड़े जाते थे। आगम साहित्य में युद्ध, नियुद्ध, महायुद्ध, महासंग्राम आदि युद्ध के अनेक प्रकार बतलाए हैं। इनके अलावा दृष्टियुद्ध, वाक्यदुध, बाहुयुद्ध, मुष्ठियुद्ध और दंडयुद्ध का भी उल्लेख मिलता है। महासंग्राम में गरुड़व्यूह, शकट व्यूह, चक्रव्यूह, दंडव्यूह और सूची व्यूह आदि व्यूह रचना की जाती थी। महाशिला कंटक और रथमूसल नामक युद्ध भी महासंग्राम के ही भेद हैं।

युद्ध में कूटनीति का बड़ा महत्व था। युद्धनीति में निपुण मंत्री अपनी चतुराई, बुद्धिमत्ता और कला कौशल द्वारा ऐसे अनेक प्रयत्न करते, जिससे शत्रुपक्ष को आत्मसमर्पण के लिए बाध्य किया जा सके। चर कर्म कूटनीति का मुख्य अंग था। शत्रुसेना की गुप्त बातों का पता लगाने के लिए गुप्तचरों का उपयोग किया जाता था। ये लोग उनकी सब बातों का पता लगाते रहते थे।

युद्ध के पहले समझौता करने के लिए दूत भेजे जाते थे। फिर भी यदि विपक्षी कोई परवाह नहीं करता, तो दूत राजा के पाद पीठ का अपने बायें पैर से अतिक्रमण

कर भाले की नोक पर पत्र रख कर उसे समर्पित करता था। उसके पश्चात् युद्ध प्रारंभ होता था।

युद्ध में अनेक प्रकार के शस्त्रों का प्रयोग किया जाता था। उनमें मुद्गर, मुसंढी (एक प्रकार का मुद्गर) करकय (किदच), शक्ति (त्रिशूल), हल, गदा, मूसल, चक्र, कुन्त (माला), तोमर (एक प्रकार का बाण), शूल, लकुट, भिंडिपाल (मोटे फल वांला भाला), शव्वल (लोहे का भाला), पट्टिश (जिसके दोनों किनारों पर त्रिशूल होते है), चर्मेष्ट (चमड़े से मढ़ा हुआ पत्थर), असिखेटक (ढाल सहित तलवाल), खड्ग चाप (धनुष), नाराच (लोहबाण), कणक (बाण), कर्तरिकावासी (लकड़ी छीलने का औजार), परशु (फरसा), शतघ्नी आदि मुख्य हैं।

युद्ध के लिए कवच अत्यन्त उपयोगी होता था। बाणों में नागबाण, तामसबाण, पद्मबाण, वह्निबाण, महापुरुष बाण और महारुधिर बाण आदि मुख्य हैं। इन बाणों में अद्भुत और विचित्र शक्ति होती थी। नागबाण जलती हुई उल्का के दंडरूप में शत्रु के शरीर में प्रवेश कर नाग बन कर उसे चारों ओर से लपेट लेता था। तामक बाण छोड़ने पर रणभूमि में अंधेरा ही अंधेरा फैल जाता था। महायुद्ध में महोरग, गरुड़, आग्नेय, वायव्य और शैल आदि शस्त्रों का उपयोग किया जाता था।

♣ राज्य की आय के स्रोत

लोक जीवन के व्यवहारों का निर्वाह जैसे धन के बिना नहीं होता, वैसे ही राज्य व्यवस्था के लिए भी आय के साधन जरूरी है। इसके लिए प्राचीनकाल में भी लगान और माल-असबाब पर कर लगाये जाते थे। इनके द्वारा अर्जित आय से राज्य का खर्च चलता था।

आगम साहित्य में अठारह प्रकार के करों का उल्लेख मिलता है- गोकर (गाय बेचने पर दिया जाने वाला कर), महिष कर, उष्ट्र कर, पशु कर, छगली (बकरा) कर, तृणकर, पलाल (पुआल) कर, बुस (भूसा) कर, काष्ठ कर, अंगार कर, सीता कर (हल पर लिया जाने वाला कर), उंबर (गृह) कर, जंघा कर (जंगाकर - चरागाह पर लिया जाने वाला कर), बलीवर्द (बैल) कर, घटकर, चर्मकर, चुल्ला (भोजन - चूल्हा) कर, और अपनी इच्छा से दिया जाने वाला कर। ये कर गाँवों में ही वसूल किये जाते थे। और नगर इनसे मुक्त रहते थे। पुत्र जन्म, राज्याभिषेक आदि अवसरों पर कर माफ किया जाता था। व्यापारियों के माल-असबाब पर भी कर लगाया जाता था। बिक्री के माल पर लगाये जाने वाले कर को शुल्क कहते थे। इनके अतिरिक्त राज्यकोष को समृद्ध बनाने के लिए और भी उपाय किये जाते थे। जैसे यदि कभी संपत्ति का कोई वारिस नहीं होता या कहीं गड़ा हुआ धन मिल जाता, तो उस पर भी राजा का अधिकार

होता था। जुर्माने की वसूली से भी राजा को द्रव्य की प्राप्ति होती थी। उपहार के रूप में भी राज्य को आय होती थी। उपहार मिलने पर राजा व्यापारियों को कर मुक्त भी कर देता था। कर लगाने में पक्षपात भी किया जाता था। उदाहरणार्थ किसी वणिक को निधि का लाभ होने पर राजा उसे दंड देता था और निधि जप्त कर लेता था, लेकिन ब्राह्मण को निधि मिलने पर उसका सत्कार किया जाता था।

कर वसूल करने वाले कर्मचारी शुल्कपाल, (गोभिया, सुंकिया) कहे जाते थे। शुल्कपाल शुल्क वसूल करने में निर्दयता से काम लेते थे। इस कारण जनसाधारण उनसे सन्त्रस्त रहा करते थे। ये लोग ब्याज, रिश्वत, अपमान, देय (अनिवार्य कर), मेघ (दंडकर), कुंत (तलवार के जोर से), लंछ पोष (लंछ नामक चोरों को नियुक्त करके), आदीपन (आग लगवा कर) और पंथकोट्ट (राहगीरों को कत्ल करवा कर) द्वारा प्रजा का उत्पीड़न और शोषण किया करते थे। अपने अधीन राजाओं से कर वसूल न होने के कारण राजा प्राय: उन पर आक्रमण करते थे और वसूली न होने की स्थिति में घर-माल-असबाब आदि को जला देने का भी आदेश देते थे।

♣ शासन की इकाई गाँव

व्यवस्था की दृष्टि से प्राचीन भारत में गाँव शासन की इकाई माना जाता था। ये गाँव इतने पास-पास होते थे कि एक गाँव के मुर्गे अथवा पशु दूसरे गाँव में बड़ी आसानी से जा आ सकते थे। गाँव की सीमा बताते हुए कहा गया है— १. जहाँ तक गायें चरने जाती हों, २. जहाँ से घसियारे या लकड़हारे घास और लकड़ी काटकर शाम तक लौट आते हों, ३. जहाँ तक गाँव की सीमा निर्धारित की गयी हो, ४. जहाँ गाँव का उद्यान हो, ५. जहाँ गाँव का कुआँ हो, ६. जहाँ देवकुल स्थापित हो और ७. जहाँ तक गाँव के बालक क्रीड़ा करने के लिए जाते हों, वहाँ तक गाँव की सीमा होती है।

गाँवों में विभिन्न वर्ण और जातियों के लोग रहते थे, लेकिन कतिपय गाँवों में एक-एक वर्ण के लोग भी रहते थे। जैसे— माहणकुंड (बंभण गाँव), खत्तियकुंड गाम और वाणिय गाम। इनमें क्रमश: ब्राह्मण, क्षत्रिय और वणिक लोगों का निवास था। कुछ गाँवों में मुख्यतया मयूरपोषक (मयूरों को पाल कर, शिक्षा देने वाले) अथवा नट रहा करते थे। चोर-पल्ली में चोर रहते ते। सीमा प्रान्त के गाँव प्रत्यन्त ग्राम (पच्चन्त गाम) कहलाते ते। इन गाँवों में प्राय: उपद्रव होते रहते थे।

गाँव के मध्यभाग में सभागृह होता था। वहाँ गाँव के प्रधान पुरुष आराम से बैठ सकते थे। वहाँ बैठकर लोग कहानी-किस्से सुनकर मन बहलाव करते थे। गाँव के प्रधान भोजिक कहे जाते थे। भोजिक एक तरह से गाँव का शासक होता था। वह कर वसूल करने केसाथ ग्रामवासियों को दंडित भी करता था।

♣ राजा का एक छत्र राज

तत्कालीन समय में राजा का राज एक छत्र होता था। उसकी आज्ञा कानून थी। जो भी राजा की आज्ञा का उल्लंघन करता था, वह उसके कोप से नहीं बच पाता था। राजा विविध प्रकार से प्रजा को कष्ट पहुँचाते थे। परिषदों का अपमान करने वालों के लिए भिन्न-भिन्न दंड व्यवस्था का विधान था। यदि कोई ऋषि परिषद् का अपमान करता, तो उसे केवल अमनोज्ञ वचन कह कर छोड़ दिया जाता था। ब्राह्मण परिषद् का अपमान करने वाले के मस्तक पर कुंडी का चिह्न बनाकर उसे निर्वासित कर दिया जाता था। यदि कोई गृहपति परिषद् का अपमान करता, तो उसके हाथ-पैर काटकर उसे शूली पर एक झटके से मार दिया जाता था और यदि कोई राजा की आज्ञा की अवहेलना करता, तो उसे तेज खार में डाल दिया जाता था। जितनी देर गाय दूहने में लगती, उतनी देर में उसका कंकाल मात्र शेष रह जाता था।

राजा लोग बड़े शक्की होते थे। किसी पर जरा सी भी शक हो जाने पर उसके प्राण लेकर ही रहते थे। आज्ञा का उल्लंघन करने वालों अथवा राजा के प्रति असम्मान-अनादर प्रकट करने वालों के गाँवो में आग भी लगा दी जाती थी। लोगों के अंग भंग करके उन्हें निर्वासित कर दिया जाता था। अपराधियों को अपना निवास स्थान छोड़ कर चांडालों के मोहल्ले में रहने का भी दंड दिया जाता था।

♣ अपराध और दंड

जैन साहित्य का आलोड़न करने पर ऐसा संकेत मिलता है कि प्रारम्भ में सतयुग जैसी स्थिति थी। कहीं पर भी किसी भी प्रकार का झगड़ा आदि नहीं था। कुलकरों की व्यवस्था के अन्तर्गत सभी प्रकार के कार्य सुचारू रूप से चल रहे थे। आवश्यकताओं की पूर्ति कल्पवृक्षों से हो जाया करती थी। समय के प्रवाह के साथ-साथ कल्पवृक्षों की क्षीणता बढ़ती गई जिसके परिणामस्वरूप कल्पवृक्षों पर युगलों का ममत्व बढ़ने लगा। फलस्वरूप कलह और वैमनस्य की भावना का जन्म हुआ इसके साथ ही अपराधों का भी जन्म हुआ। समाज में अव्यवस्था फैलने लगी। जिससे जनजीवन त्रस्त हो उठा। तब अपराध वृत्ति को दबाने के लिए उपाय खोजे जाने लगे। उसी के परिणाम स्वरूप दण्डनीति का प्रादुर्भाव हुआ[१]। इसके पूर्व किसी प्रकार की कोई दण्डनीति नहीं थी, क्योंकि उसकी आवश्यकता ही नहीं थी। आवश्यकता आविष्कार की जननी है, के अनुसार दण्डनीति का जन्म हुआ। जैन साहित्य के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि सर्वप्रथम हाकार, माकार और धिक्कारनीति का प्रचलन हुआ। इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार हैं-

१. दण्डः अपराधिनामनुशासनस्तत्र तस्य वा स एव वा नीतिः तयो दण्डनीति। स्थानांगवृत्ति प. ३९९-४०१।

हाकारनीति– कुलकर विमलवाहन के समय इस नीति का प्रचलन हुआ। इस नीति के अनुसार अपराधी को खेदपूर्वक प्रताड़ित किया जाता था। अपराधी को केवल यही कहा जाता था कि 'हा।' अर्थात तुमने यह क्या किया? यों देखा जाय तो यह केवल शब्द प्रताड़ना है और सामान्य लगती है। किन्तु उन दिनों यह दण्ड भी बहुत बड़ा था। केवल 'हा' शब्द से प्रताड़ित होने पर व्यक्ति पानी पानी हो जाया करता था। इसका कारण यह था कि उस समय व्यक्ति की अपनी मर्यादाएँ थीं। उच्छृंखलता जैसी आज है, वैसी नहीं थी। उन दिनों का व्यक्ति संकोची और लज्जाशील था। वह 'हा' वाले दण्ड को भी मृत्युदण्ड के समान समझता था[१]। हाकार नीति कुलकर चक्षुष्मान तक चलती रही।

माकार नीति– समय के साथ हाकार नीति का प्रभाव क्षीण होने लगा और वह विफल होने लगी। इसकी विफलता की स्थिति में अपराधों में वृद्धि होने लगी। तब किसी नवीन प्रभावशाली नीति की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। कुलकर चक्षुष्मान के तृतीय पुत्र कुलकर यशस्वी ने छोटे बड़े अपराधों के मान से अलग-अलग नीति का प्रयोग प्रारम्भ किया[२]। हाकार नीति का प्रयोग छोटे अपराधों के लिए जारी रहा और बड़े अपराधों के लिए 'माकार' नीति का प्रयोग प्रारम्भ किया गया। यदि कोई अपराधी अधिक अपराध करता तो उसे दोनों प्रकार की नीतियों से दण्डित किया जाता[३]। माकार यानी मत करो जो निषेधात्मक महान दण्ड था। ये दोनों प्रकार की नीतियाँ यशस्वी पुत्र अभिचन्द्र तक बराबर चलती रही।

धिक्कार नीति– समाज में जब अभाव बढ़ता है तो उससे असंतोष भी बढ़ता है। इस कारण उच्छृंखलता और धृष्टता में भी वृद्धि हो रही थी। हाकार और माकार नीति असफल होने लगी और किसी नयी दण्डनीति की आवश्यकता का अनुभव होने लगा। इन दोनों नीतियों की असफलता के परिणामस्वरूप धिक्कार नीति का जन्म हुआ[४]। धिक्कार नीति के अन्तर्गत अपराधी को 'धिक्' अर्थात तुझे धिक्कार है, जो ऐसा कार्य किया। यह धिक्कार नीति कुलकर प्रसेनजित से लेकर अंतिम कुलकर नाभिराय तक चलती रही।

---

१. जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, कालाधिकार ७६
२. स्थानांगवृत्ति, पं. ३९९
३. त्रिषष्टिशलाका, १/२/१७६-१७९
४. स्थानांगवृत्ति, पं. ३९९

राजा की इच्छा और आज्ञा में प्रजा के जीवन, और धन-संपत्ति की सुरक्षा निर्भर होने पर भी चोर, डाकू, धूर्त अपराध करने से बाज नहीं आते थे। चोर अपने साथियों के साथ चोर पल्लियों में रहा करते थे। वे अपने सरदार की देखरेख में लूटमार, डकैती और हत्याएँ करके प्रजा को सन्त्रस्त करते थे। सरदार इन्हें चोर मंत्र, चोर विद्या, चोर माया आदि की शिक्षा दे कर निष्णात बनाते थे। ये लोग नगर के प्रवेश मार्गों, द्यूत गृह, पानागार, वेश्यालय, चौराहे, देवकुल, प्याऊ, हाटबाजार, नगर के उद्यान, पुष्करिणी, बावड़ी, पर्व आदि सार्वजनिक स्थानों पर घूमते रहते थे और राज्योपद्रव होने पर अथवा किसी उत्सव पर्व आदि के अवसर पर अथवा निर्जन स्थान पर असावधानी की स्थिति में लूट खसोट और अपहरण करके चले जाते थे। फिरौती के रूप में धन नहीं मिलने पर ये लोग हत्या भी कर देते थे। ये लोग चोरी के माल का पता लग जाने के भय से अपनी पत्नी, पुत्र, पुत्री आदि प्रिय कुटुंबी जनों की हत्या करने में भी नहीं झिझकते थे।

आगम साहित्य में चोरों के अनेक प्रकारों का उल्लेख मिलता है। जैसे— आमोष लोमहर (जान से मार कर सर्वस्व लूटने वाले), ग्रंथिभेदक (जेब कतरा), तस्कर, आक्रान्त प्राकृतिक, ग्रामस्तेन, देशस्तेन, अन्तरस्तेन, अध्वानस्तेन, खेतों को काटने वाले आदि चोर विकाल में गमन करते थे और किंचित् दग्ध मानव शव अथवा जंगली जानवरों का मांस या कन्दमूल खाते थे। वर्तमान की तरह उस समय भी चोरों में विश्वास की भावना पैदा कर, उनकी कुशलक्षेम पूछ कर, उन्हें संकेत देकर गिरफ्तारी से बचाने में मदद कर, चोरों के जाने वाले मार्ग से उल्टा पता बता कर तथा उन्हें स्थान, आसन, भोजन, तेल, जल, अग्नि, रस्सी, अस्त्र-शस्त्र आदि दे कर चोरों का हौंसला बढ़ाने वाले भी थे। ये लोग चोरी का माल खरीदने बेचने का धंधा करते थे। जनता उन्हें अच्छी नजर से नहीं देखती थी, फिर भी वे शान शौकत के साथ प्रजा के बीच रहते थे।

चोर आसानी से पकड़ में नहीं आते थे। राजा की सेना तक उनसे हार कर भाग जाती थी। लेकिन साम, दाम अथवा भेद से जब उन्हें पकड़ लिया जाता था, तब उन्हें भंयकर दंड दिया जाता था। राजा चोरों को जिंदा लोह के कुंभ में बन्द कर देते थे और उनके हाथ तक कटवा देते थे। उन्हें शूली पर चढ़ा देना तो मामूली सी बात थी। राज कर्मचारी चोरों को वस्त्र युगल पहना कर उसके गले में कनेर के फूलों की माला डालते थे और उसके शरीर पर तेल चुपड़वा कर उस पर भस्म लगाते थे। फिर उन्हें राजमार्ग से नगर के चौराहों में घुमाया जाता था। उस समय उन्हें घूँसों, डंडों, लातों और कोड़ों से पीटा जाता था। उनके होंठ, नाक और कान काट लिये जाते थे। रक्त से लिप्त मांस उन्हें खिलाया जाता था तथा विष्ठा भी दिखायी जाती थी। फिर खंड पटह से उनके अपराधों की घोषणा की जाती थी।

इसके अलावा लोहे या लकड़ी में अपराधियों के हाथ-पैर बाँध दिये जाते थे। खोड में पैर बाँध कर ताला लगा दिया जाता था। उनके हाथ, पैर, सिर, गले की घंटी अथवा उदर को छिन्न कर दिया जाता था। कलेजा, आँख, दाँत और अंडकोश आदि मर्मस्थानों को खींच कर निकाल दिये जाते थे। उन्हें रस्सी से बाँध कर गड्ढे में और हाथ बाँधकर वृक्ष पर लटका दिया जाता था। हाथी के पैरों के नीचे डाल कर उन्हें कुचलवा दिया जाता था। उन्हें चन्दन की तरह पत्थर पर रगड़ा जाता था, दही की भाँति मथा जाता था, कपड़े की भाँति पछाड़ा जाता था और गन्ने की भाँति पेरा जाता था। राजा के लोग उनके मस्तक को भेद देते, खार में फेंक देते, खाल उधेड़ देते, लिंग को मरोड देते, आग में जला देते, कीचड़ में धँसा देते, गरम सरिया शरीर में घुसेड़ देते, क्षार, तिक्त और कटु पदार्थ जबरदस्ती पिलाते, छाती पर पत्थर रख कर तोड़ते, लोहे के डंडों से वक्षस्थल, पेट और गुह्य अंगों का छेदन करते,लोहे के मुद्गर से कूटते, चांडालों के मोहल्ले में रख देते, देश से निर्वासित कर देते, लोहे के पिंजरे में बंद कर देते, भूमिगृह, अंधकूप या तेल में डाल देते और शूली पर चढ़ा कर उन्हें मार डालते थे।

जेलखाने तो साक्षात् नरक के रूप थे। इनमें कैदियों को दारुण कष्ट दिये जाते थे। कैदियों का सर्वस्व अपहरण कर लिया जाता था और भूख-प्यास, शीत-उष्ण से व्याकुल हो उन्हें कष्टमय जीवन व्यतीत करना पड़ता था। इस कारण उनके मुख की रंगत काली पड़ जाती, वे खाँसी, कोढ़ आदि रोगों से ग्रसित हो जाते और उनके शरीर में कीड़े पड़ जाते थे। प्राणान्त होने पर उन्हें फेंक दिया जाता था। भेड़िये, कुत्ते, गीदड़ और मार्जार उनके शवों को खा जाते थे।

जेलों में तांबा, जस्त, शीसे, चूने, पत्थर और क्षार तेल से भरी हुई लोहे की कुंडियाँ आग पर गरम रखी रहती थी और बहुत से मटके हाथी, घोड़े, गाय, बैल, भैंस, ऊँट, बकरी के मूत्रों से भरे रहते थे। हाथ-पैर बाँधने के लिए यहाँ अनेक खोड, बेड़ी, श्रंखला, मारने-पीटने के लिए बाँस, बेंत, वल्कल और चमड़े के कोड़े, कूटने-पीसने के लिए पत्थर की शिलाएँ, पत्थर, मुद्गर बाँधने के लिए रस्से, चीरने और काटने के लिए तलवार, आरियाँ और छुरें, ठोकने के लिए लोहे की कीलें बाँस की खप्पचें, चुभोने के लिए सुई और शलाकाएँ, काटने के लिए छुरी कुठार, नखच्छेद और दर्भतृण आदि का उपयोग किया जाता था। जेलों में कैसी-कैसी यातनाएँ दी जाती थीं और जेलर आदि कैसे-कैसे दुःख देते थे, यह जानने के लिए 'विपाक सूत्र' का छठा अध्ययन पढ़िये। उसमें सिंहपुर नगर के दुर्योधन नामक शासक का वर्णन है। वह जेल में पकड़ कर लाये हुए चोरों, परस्त्रीगामियों, जेबकतरों, राजद्रोहियों, ऋणग्रस्तों, बालघातकों,

विश्वासघातकों, जुआरियों और धूर्तों को अपने कर्मचारियों से पकड़वा कर उन्हें सीधा लिटवाता और लोहदंड से उनके मुँह खुलवा कर गरम गरम ताँबा, खारा तेल, तथा हाथी घोड़ों का मूत्र उनके मुँह में डालता था। इससे ज्ञात होता है कि तत्कालीन युग में जेल व्यवस्था कितनी भयंकर एवं लोमहर्षक थी।

स्त्रियों को भी दंड दिया जाता था। यद्यपि गर्भवती स्त्रियों को क्षमा भी कर दिया जाता था और कभी-कभी प्रसव की अन्य-अन्य प्रकार की यातनाएँ देने के अतिरिक्त मृत्युदंड तक की आज्ञा दी जाती थी। चोरों की भाँति दुराचारी पुरुष और स्त्रियों को भी शिरोमुण्डन, तर्जन-ताड़न, लिंगच्छेदन, निर्वासन और मृत्युदंड दिये जाते थे। ब्राह्मणों को दंड देते समय सोच विचार कर काम लिया जाता था।

चोरी और व्यभिचार की भाँति हत्या भी महान अपराध माना जाता था। हत्या करने वाले अर्थदण्ड और मृत्युदण्ड के भागी होते थे। हत्यारे की हत्या की योजना बनाने वालों का रहस्य खुल जाने पर उन्हें गरम लोहे के सिंहासन पर बिठा कर गरम लोहे के कलशों में भरे हुए खारे तेल से उनका अभिषेक किया जाता था और लोहे के हार और मुकुट पहना कर, उनके नाक-कान कटवा कर उन्हें शूली पर चढ़ा दिया जाता था।

♣ न्याय व्यवस्था

न्यायकर्ता के बारे में बताया गया है कि उसे नीतिशास्त्र और दंडनीति में प्रवीण होना चाहिये। उसे रिश्वत नहीं लेनी चाहिये और निर्णय देते समय निष्पक्ष रहना चाहिये। उस काल में न्याय और दंडनीति का विधान बना हुआ था और न्याय व्यवस्था के कठोर नियम भी थे। लेकिन जब राजा की आज्ञा ही सर्वोपरि मानी जाती थी, तब यह कैसे संभव था कि न्याय प्रक्रिया के अनुसार दोषी को दंड मिलता था? साधारण सा अपराध होने पर भी अपराधी को कठोर से कठोर दण्ड दिया जाता था और अनेक बार ऐसा भी होता था कि निरपराध को दंड दिया जाता था और अपराधी छूट जाता था।

चोरी, डकैती परदारागमन, हत्या और राजा की आज्ञा का उल्लंघन आदि अपराध करने वालों को राजा के सामने उपस्थित किया जाता था। कोई मुकदमा ले कर न्यायालय में जाता था, तो उससे तीन बार वही बात पूछी जाती। यदि वह तीन बार एक जैसा उत्तर देता, तो उसकी बात सच मान ली जाती थी। कभी-कभी साधारण सी बात पर भी लोग मुकदमा लेकर राजमहल में पहुँच जाते थे।

आज की तरह उस काल में भी झूठी गवाही (कूड सक्ख) और झूठे दस्तावेजों (कूड लेहकरण) को काम में लिया जाता था।

आगमकालीन पूर्वोक्त शासन व्यवस्था के संक्षिप्त संकेतों का सारांश यह है कि उस समय सारा देश छोटे छोटे राज्यों में विभाजित था। राज्य में षड्यंत्र चला करते थे। उत्तराधिकार का प्रश्न विकट था और इसके लिए राजा को अपने पुत्रों तक से भी सावधान रहना पड़ता था। अन्तःपुर भी एक प्रकार से षड्यंत्र के अड्डे थे। उनकी रक्षा और अपने जीवन के लिए राजा सदा ध्यान रखता था। यदि किसी के कोई सुन्दर वस्तु होती या सुन्दर स्त्री होती, तो उसे अपने अधिकार में ले लेने के लिए राजा तत्पर रहते थे। यदि वह सहज नहीं मिलती, तो युद्ध के जरिये उसे प्राप्त करने में भी राजा लोग नहीं हिचकते थे। युद्ध में साम, दाम व भेद नीति का आश्रय लिया जाता था। उस काल में चोरी, व्यभिचार और हत्याएँ आदि अपराध भी होते थे। चोरी का उत्पात तो भयंकर था। जेलों की दशा अत्यन्त दयनीय थी। वहाँ भयंकर यातनाएँ दी जाती थी। झूठी साक्षी और झूठे दस्तावेज चलते थे। कर वसूल करने में काफी सख्ती बरती जाती थी। राजा निरंकुश होते थे। साधारण सा अपराध होने पर भी वे कठोरतम दंड दे देते थे और पक्षपात करके अपराधी के बजाय निरपराध को दंड दे देते थे।

आगम साहित्य में तत्कालीन शासन व्यवस्था की जानकारी इस प्रकार की उपलब्ध होती है। अब आगे के प्रकरण में तत्कालीन अर्थोपार्जन व्यवस्था की जानकारी दी जा रही है।

¤

अध्याय ११

आगमों में अर्थोपार्जन व्यवस्था का उल्लेख

जीवन की मूलभूत आवश्यकता की पूर्ति के लिए आजीविका मुख्य साधन है। आजीविका का संबंध अर्थोपार्जन से जुड़ा हुआ है। अतएव आगमकालीन समाज के अर्थोपार्जन के साधनों के बारे में यहाँ संक्षेप में संकेत करते हैं।

वर्तमान की तरह प्राचीन भारत में भी कृषि, श्रम, पूँजी और प्रबंध अर्थोपार्जन के मुख्य साधन रहे हैं। भारतवर्ष के गाँवों की अर्थव्यवस्था मुख्यत: गाँवों में रहने वाले किसानों पर ही निर्भर रहती आयी है। सामान्यत: गाँव वालों का पेशा खेती बाड़ी का रहा है। आज की तरह उस समय भी गाँव के चारों ओर खेत या चरागाह होते थे। वे वृक्षपंक्ति, वन, वनखंड, वनराजि से घिरे रहते थे। खेत सेतु और केतु इन दो भागों में विभक्त थे। सेतु को कुएँ, तालाब आदि के जल से सींचा जाता था, जबकि केतु में वर्षा के जल से धान्य की उत्पत्ति होती थी। सिंचाई के लिए बहुत से उपाय काम में लिए जाते थे। कहीं कुओं से, कहीं तालाबों से, नदी-नालों से जहाँ जैसी प्राकृतिक सुविधा उपलब्ध होती थी, तदनुसार वहाँ के कृषक खेती करते थे। अधिक जल वाले प्रदेशों में नावों में मिट्टी भर कर भी धान्योत्पादन किया जाता था। काली उपजाऊ भूमि को उद्घात और पथरीली भूमि को अनुद्घात कहते थे। काली भूमि में अत्यधिक वर्षा होने पर पानी वहीं का वहीं रह जाता था, बहता नहीं था।

खेती के साधन हल और बैल थे। प्राचीन काल में हल देवता के सम्मान में सीता यज्ञ नामक उत्सव मनाया जाता था। जंगलों को जलाकर भी खेती की जाती थी। आगमों में हल, कुलिय और नंगल नाम के हलों का उल्लेख मिलता है। कुदाली से खोदने का काम किया जाता था। एक हल के द्वारा सौ निवर्तन (चालीस हजार वर्ग हाथ) भूमि जोती जाने का अनुनमान लगाया जाता था।

♣ कृषि उपज

आगमों में सतरह प्रकार के धान्यों का उल्लेख है— व्रीहि (चावल), यव (जौ), मसूर, गोधूम (गेहूँ), मुद्ग (मूँग), माष (उड़द), तिल, चणक (चना), अणु (चावल की एक किस्म), प्रियंगु (कंगनी) को द्रव (कोदो), अकुष्ठक (कट्ठ), शालि (चावल), आढकी, कलाय (मटर), कुलत्थ (कुलथी) और सण, अन्य धान्यों में दालग (दाल), चावल (चवला), तुवरी, निष्पाद, वल्ल (एक मादक धान्य), आलिसंदग (सिलिंद), संडिण (अरहर), पलिमंथक (काला चना), अतसी (अलसी), कुसुंब (कुसुंबी), कंगु (कांगिनी

एक छोटे चावल की जाति), कोदूसा (कोदों की एक जाति), सर्षप (सरसों), हरिमंथ (गोल चना), वुक्कस और पुलावन (निस्सार) अन्न के नाम आते हैं।

प्राचीन काल में चावल की खेती बहुतायत से होती थी। कलमशालि पूर्वी प्रान्तों में पैदा होता था। रक्तशालि, महाशालि और गंधशालि चावल की दूसरी बढ़िया किस्में थी।

मसालों में श्रंगवेद (अदरक) सुंढ (सौंठ), लवंग, हरिद्रा (हल्दी), बेसन (जीरा आदि), मरिय (मिर्च), पिप्पल (पीपल) और सदिस वत्थग (सरसों का उल्लेख मिलता है।

चावल की तरह गन्ना (इक्खु) भी मुख्य फसल थी। गन्ने के खेत को सियारों से बचाने के लिए चारों ओर खाई खोदी जाती थी और बाड लगायी जाती थी। पुण्ड्रवर्धन गन्ने की फसल के लिए प्रसिद्ध था। लोग बड़े चाव से गन्ना चूसते थे। मत्यंडिका, पुष्पोत्तर और पद्मोत्तर नामक शक्करों का उल्लेख मिलता है।

कपड़े बनाने के लिए कपास की फसल बोयी जाती थी। इसके अतिरिक्त अन्य फसलों में रेशम, ऊर्जा (ऊन), क्षोम (छालरी) और सन का भी उल्लेख मिलता है।

साग-भाजी में बैंगन ककड़ी, मूली, पालक, करेला, कंद (आलुग - आलू), सिंघाड़ा, लहसुन, प्याज, सूरण, तुंबी (लौकी, घिया) आदि का उल्लेख मिलता है। तुंबी ईख के साथ बोयी जाती थी और लोग उसे गुड़ के साथ खाते थे। बाडो में मूली, ककड़ी आदि साग-भाजी बोयी जाती थी।

धान्य उत्पादन के लिए मुख्य साधन खेती था। वैसे ही फलफूलों से अर्थोपार्जन करने के लिए बाग-बगीचे भी लगाये जाते थे। उनमें भाँति-भाँति के फल के वृक्ष तथा फूलों के पौधे होते थे। फलों में आम, जामुन, कपित्थ (कैथ), फलस (कटहल), दाडिम (अनार), कदली फल (केला), खजूर, नारियल आदि के नाम मिलते हैं। आम लोकप्रिय फल था। उसका अनेक प्रकार से उपयोग किये जाने से और खाने की विधियों से उसकी लोकप्रियता सिद्ध होती है। फूलों में नवमल्लिका, कोदेरक, बंधुजीवन, कनेर, कुब्जक (सफेद गुलाब), जाई, मोगरा (बेला, भू-थिका (जूही), मल्लिका, वासंती, मृगदंतिका, चंपक, कुन्द, श्यामलता आदि के नाम देखने को मिलते हैं।

कोंकण देश के निवासी फलफूलों के बहुत शौकीन थे। वे इन्हें बेचकर अपनी आजीविका चलाते थे। उत्सवों के अवसर पर पुष्पगृहों का निर्माण किया जाता था।

जंगलों से फलों को सुखाने के लिए जहाँ लाया जाता था, उस स्थान को कोट्टक कहते थे। फलों को सुखाने के बाद उन्हें गाड़ी में भरकर नगरों में बिक्री के लिए ले

जाते ते। कच्चे फलों को पकाने केलिए अनेक उपाय भी किये जाते थे। आम आदि को घासफूस अथवा भूसे के अन्दर रख कर गर्मी पहुँचायी जाती थी। किन्हीं को धुआँ देकर पकाया जाता था। धुएँ की गर्मी से वे फल शीघ्र पक जाते थे। इस विधि को धूम पर्यायाम कहा गया है। ककड़ी, खीरा, बिजौरा आदि को पके फलों के साथ रख देते थे। वे उनकी गंध से पक जाते थे। यह विधि गंध पर्यायाम कहलाती थी। वृक्ष पर फलों को पकाने वाली विधि को वृक्ष पर्यायाम कहते हैं।

इतना सब होने पर भी वर्षा आदि के अभाव में भीषण अकाल पड़ा करते थे। अकाल के समय लोग अपने बाल बच्चों तक को बेच डालते थे। दासवृत्ति अपनाने तक को मजबूर होना पड़ता था। अकाल की तरह बाढ़ों का प्रकोप भी बहुत होता था। उससे खड़ी फसलें चौपट हो जाती थीं।

♣ अन्न की सुरक्षा के उपाय

चावल की फसल तैयार हो जाने के बाद उसे हँसिया से काट कर, हाथ से मसल कर और छड़ पिचोड़ कर कोरे घड़ों में भर कर रख देते थे। बाद में उन घड़ों को लीप-पोत कर, उन्हें सीलबंद कर, उनपर मोहर लगा कर उन्हें कोठार (कोट्ठागार) में रख दिया जाता था। संबाध (संबाह) भी एक प्रकार का कोठार होता था। उसे पर्वत के विषम प्रदेशों में बनाया जाता था। घर के बाहर जंगलों में धान्य को सुरक्षित रखने के लिए फूस और पत्तियों के पूँगे (वलय) बनाये जाते थे और उनके अन्दर की जमीन को गोबर से लीपा जाता था। अनाज के गोल आकार के ढेर को पूँग और लंबाकार ढेर को राशि कहते थे। दीवाल और कुडच से लगा कर ढेर बनाये जाते थे। उन्हें राख से अंकित कर ऊपर से गोबर लीप दिया जाता था अथवा योग्य प्रदेश में रख कर बाँस और फूस से ढँक दिया जाता था। वर्षा ऋतु में अनाज को मिट्टी अथवा बाँस (पल्ल) के बने हुए कोठों, बाँस के खंभों पर बने हुए कोठों अथवा घर के ऊपर बने हुए कोठों में रखा जाता था। उन पर चारों तरफ से मिट्टी से पोत दिया जाता था। बाद में उसे रेखाओं से चिह्नित कर और मिट्टी की मोहर लगाकर छोड़ दिया जाता था। इसके अतिरिक्त कुम्भी, करमी, पल्लग (पल्ल), मुत्तोली (ऊपर और नीचे संकीर्ण और मध्य में विशाल ऐसा कोठा), मुख, हन्दुर, अलिन्द और ओचार (अपचारि) नामक कोठारों का उल्लेख किया गया है।

गंजशाला में धान्य कूटे जाते थे। चावलों को ओखली (उद्खूल) में छड़ा जाता था। उनको मल कर साफ करने के स्थान को खलय (खलिहान) कहते थे। सूप (सुप्तकतर) द्वारा अनाज साफ किया जाता था।

♣ पशुपालन

प्राचीन भारत में पशु महत्वपूर्ण धन माना जाता था तथा गाय, बैल, भैंस और भेड़ें राजा की बहुमूल्य संपत्ति मानी जाती थी। प्रज्ञापना सूत्र में अश्व, अश्वतर, छोटक, गर्दभ, उष्ट्र (ऊँट), गाय, नीलगाय, भैंस, मृग, सांबर, वराह, शरभ आदि पशुओं का उल्लेख है। पशुओं के समूह को ब्रज, गोकुल अथवा संगिल्ल कहा जाता था। एक ब्रज में दस हजार गायें रहती थीं।

प्रत्येक धनिक पशुपालन करता था। कइयों के तो दो-चार ब्रज होते थे। उपासक दशा में आनन्द श्रावक के आठ ब्रजों का उल्लेख आया है। बहुत से राजा भी गोपालन के शौकीन थे।

स्वस्थ, सुन्दर, बलिष्ठ साँडों का भी आगम में उल्लेख मिलता है। वे स्वच्छंद होकर घूमा करते थे। बैल खेती यान के आधार थे। इसलिए उन्हें बहुत ही हिफाजत से रखा जाता था। उन्हें हलों में जोतकर उनसे खेती का काम लिया जाता था। रहंट जोत कर खेतों की सिंचाई की जाती थी और एक गाँव से दूसरे गाँव में धान्य आदि सामान को पहुँचाने के लिए बैलगाड़ियों का उपयोग किया जाता था।

पशुओं को समय पर चारा-पानी देते का पूरा ध्यान रखा जाता था। हाथियों को तल (एक तृण), गन्ना, भैसों को बाँस की कोमल पत्तियाँ, घोड़ों को हदिमंथ (काला चना), मूँग आदि तथा गायों को अर्जून घास आदि खाने केलिए दिये जाते थे। चोर गायों आदि को न ले जाये, इसके लिए गाँवों में चौकी रखी जाती थी। ग्वाले (गोवाण, गोपाल) और गडरिये अपनी गायों और भेड़-बकरियों को चराने के लिये चरागाहों में ले जाते थे। भेड़-बकरियाँ आदि पशुओं को बाड़ों में रखा जाता था। उष्ट्रपालों का भी उल्लेख मिलता है। भेड़ों की ऊन व बकरी व ऊँटों के बालों से वस्त्र व पहनने के कपड़े बनाये जाते थे।

पशुओं की बीमारी और उनकी चिकित्सा का भी आगम साहित्य में उल्लेख मिलता है। गोबर के उपले बनाकर उन्हें भोजन आदि के काम में लिया जाता था।

गोपालन पर बहुत ध्यान रखा जाता था। अहीर (अमीर) गाय भैंसों को पालते पोसते थे। उनके गाँव अलग होते थे। घी-दूध पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता था। दोहनबाड़ा में गायों का दोहन किया जाता था। प्रायः महिलाएँ ही दूध दोहने का काम करती थीं। दही बिलोने का उल्लेख भी आता है। गाय, भैंस, ऊँटनी, बकरी और भेड़ों का दूध काम में लिया जाता था। दही, छाछ, घी और मक्खन को गोरस कहते थे। यह गोरस अत्यंत पुष्टिकारक भोजन समझा जाता था। दही के मटकों को गरम पानी

से तर रखा जाता था। बकरी के तक्र (छाछ) का भी उल्लेख मिलता है। क्षीरगृह (खीर घर) में दूध से बने पदार्थ पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होते थे।

♣ वनोपज

प्राचीन भारत का अधिकांश भू-भाग प्राकृतिक वातावरण के कारण वन, जंगल और अरण्यों से घिरा रहता था। राजगृह नगर के पास अठारह योजन लंबी एक महा अटवी थी, जहाँ बहुत से चोर निवास करते थे। पथिक प्राय: रास्ता भूल जाते थे। क्षीर वन अटवी, कोसंब (कोशाम्र) अरण्य और दंडकारण्य के नाम प्रसिद्ध हैं।

वनों में भाँति-भाँति के वृक्ष, गुच्छ, गुल्म, लताएँ, वल्ली, तृण, वलय, हरित और औषधियाँ पायीं जाती थीं। वृक्षों में नीम, आम, जामुन, साल, अंकोर, पीलू, श्लेषात्मक, सल्लकी, मोचकी, मालुक, बकुल, पलास, करंज, पुत्रजीवा, अरीठा, चहेडा, हर्द, मिलावा, क्षीरणी, धातकी, प्रियाल, पूतिकरज, सीसम, चुत्राग, नागवृक्ष, श्रीपर्णी, अशोक, तिन्दुक, कपित्थक, अंबाडक, मातुलिंग, बेल, आँवला, फणस, दाडिम, पीपल, उदुबंर, बड, न्यग्रोध, पिप्पली, शतरी, पिलक्खु, काकोदुंबरी, कुस्तुंबरी, देवदाली, तिलक, लकुच, छत्रोध, शिरीष, सप्तपर्ण, भोजवृक्ष, हिंगुवृक्ष, लवंग वृक्ष, पूगफली (सुपारी), खजूर, नारियल, दधिपर्ण, लोध, धव, चन्दन, अर्जुन, कुटज, कदंब आदि वृक्षों के उल्लेख मिलते हैं। दूध के वृक्षों में बड़, उदुंबर और पीपल के नाम मिलते हैं। नन्दीफल नाम के वृक्ष देखने में बड़े सुन्दर लगते थे, लेकिन उनके बीज खाने से मनुष्य मर जाता था। वृक्षों की बिक्री होती थी।

वृक्षों के सिवाय अनेक प्रकार की लताएँ, घास, साग-भाजी, बाँस आदि के नाम भी मिलते हैं। वृक्षों की लकड़ियाँ घर, यान, वाहन आदि बनाने के काम आती थीं। वन कर्म और अंगार कर्म का उल्लेख मिलता है। वनकर्म में रत लोग वृक्षों को गिरा कर उनसे लकड़ियाँ प्राप्त करते थे। लकड़हारों, सूखे पत्ते चुनने वालों (पत्तहारक) और घसियारों (तृणकार) का उल्लेख मिलता है, जो जंगल में दिन भर लकड़ी काटते रहते थे, पत्ते चुनते रहते थे और घास काटते रहते थे। इन लोगों के अर्थोपार्जन के ये ही साधन थे।

भोजन के लिए पशु पक्षियों और मछली आदि जलचर जीवों को पकड़ने और मारने केभी उल्लेख मिलते हैं। इनका अर्थोपार्जन के लिए भी वध किया जाता था। इस निंद्य कार्य को करने वाले मृगलुब्धक, चिड़ीमार, मच्छीमार, शिकारी आदि कहलाते थे।

♣ खनिज पदार्थ

खेती के काम में न आने वाली जमीन बंजर कहलाती थी। जंगलों में अनेक स्थानों पर लोहा, सोना, चांदी आदि खनिज पदार्थों की भरमार थी। खानों में से लोहा, ताँबा, सीसा, जस्ता, चांदी, सोना, मणि, रत्न और वज्र उपलब्ध होते थे। धातुओं के उत्पत्ति स्थान को आकर कहा गया है। कालिय द्वीप अपनी चांदी, सोना, रत्न और वज्र की खानों के लिए प्रसिद्ध था। भारत के व्यापारी वहाँ से बहुमूल्य धातुओं को अपने जहाजों में भरकर स्वदेश चले आते थे। अन्य खनिज पदार्थों में लवण (नमक) ऊस (साजी माढी), गेस हरताल, हिंगलुक, मणसिल, सासग (पारा), सेडिय (सफेद मिट्टी), सोरट्ठिय और अंजन के नाम मिलते हैं। इन खनिज पदार्थों से तरह-तरह के आभूषण, बर्तन, प्रसाधन की सामग्री आदि वस्तुएँ बनायी जाती थीं।

♣ कताई बुनाई

कृषि, वनोपज, खनिज आदि से अर्थोपार्जन करने के बाद श्रम द्वारा आजीविका चलाने वालों का क्रम आता है। ये श्रमिक अनेक प्रकार के आभूषण, प्रसाधन सामग्री, कृषि-औजार, कपड़े आदि बनाने का कार्य करते थे। वस्त्र बुनाई एक महत्वपूर्ण उद्योग माना जाता था। शिल्पकारों के कुंभकार (कुम्हार), चित्रकार, लुहार (कर्मकार) और नाई (काश्यप) के साथ वस्त्रकार (णंतित्त - जुलाहा) भी गिनाये गये हैं। वस्त्रकारों में दूष्य का व्यापार करने वालों को दोसिय (दोशी) सूत का व्यापार करने वालों को सोत्तिय (सौत्रिक) और कपास का व्यापार करने वालों को कप्पासिय (कपासी, कार्पासिक) कहा जाता था। इसके अतिरिक्त तुन्नाग (तूनने वाले), तन्तुवाय (बुनकर), पट्टकार (पट्टकूल, रेशम का व्यापार करने वाले पटवे), सीवग (दर्जी) और छिपाय (छीपा) आदि के भी उल्लेख मिलते हैं। वस्त्रों का नियमित व्यापार होता था। आगमों में अनेक प्रकार के वस्त्रों का उल्लेख मिलता है।

कपड़े धोने और कपड़े रंगने के उद्योग धंधों का प्रचार था। श्रेणियों में धोबियों की गणना की गयी है। खार (सज्जिया खार) से मैले कपड़े धोये जाते थे। जैसे मैले कपड़े होते, उसके अनुसार पत्थर पर पीटे जाते, घिसे जाते और रगड़े जाते थे। जब कपड़े धुलकर साफ हो जाते, तब उन्हें धूप देकर सुगंधित किया जाता था। गोमूत्र, पशुओं की लेंडी, क्षार आदि से कपड़े धोये जाते थे। रजक शालाओं का उल्लेख मिलता है। रजक कपड़े रंगने का कार्य भी करते थे। तौलिये आदि वस्त्रों को काषाय (गेरुआ) रंग से रंगा जाता था। रंगे हुए कपड़े गर्म मौसम में पहने जाते थे।

चिकुर (पीत वर्ण का एक गंध द्रव्य), हरताल, सरसो, किंशुक (केशूद्रा),

जयाकुसुम, बंधुजीवन के पुष्प, हिंगुल (सिंदूर), कुंकुम (केशेर), नील कमल, शिरीष के पुष्प तथा अंजन आदि द्रव्यों से रंग बनाये जाते थे। रंगों में कृष्ण, नील, लोहित, हरिद्र और शुक्ल रंगों का उल्लेख है। इससे पता चलता है कि रासायनिक रंग भी तैयार किया जाते थे। रंगे हुए कपड़े पहनने का रिवाज था।

♣ आभूषण निर्माण

स्त्रियाँ और पुरुष आभूषण के शौकीन थे। वे अपनी आर्थिक स्थिति के अनुसार सोने, चांदी, हीरे, जवाहरात के आभूषण धारण करते थे। इसलिए सुनारों (सुवर्णकारों) का व्यवसाय खूब चलता था। सुनार बेईमानी भी करते थे। कीमिया बनाने वालों (धातुवाइय) का उल्लेख मिलता है। धातु के पानी से तांबे आदि को सिक्त करके सुवर्ण बनाने की विधि प्रचलित थी।

आगमों में चौदह प्रकार के आभूषणों का उल्लेख मिलता है– हार (अठारह लड़ी वाला), अर्धहार (नौ लड़ियों वाला), एकावली (एक लड़ी का हार), कनकावली, रत्नावली, मुक्तावली, केयूर, कडय (कड़ा), तुडिय (बाजूबंद), मुद्रा (अंगूठी), कुंडल, उदसूत्र, चूड़ामणि और तिलक।

पुरुषों द्वारा हार, अर्धहार, तिसरय (तीन लड़ियों का हार), प्रलंब (नाभि तक लटकने वाला हार), कटिसूत्र (करधनी), ग्रैवेयक (गले का हार), अंगुलीयक (अंगूठी), कचाभरण (बालों में लगाने का आभरण), मुद्रिका, कुण्डल, मुकुट, वलय (चीरत्व सूचक कंकण), अंगद (बाजूबंद), पादप्रलंब (पैर तक लटकने वाला हार और मुरवि (आभरण विशेष) नामक आभूषण धारण किये जाते थे। नुपूर में खला, (करधनी, हार), कडग (कड़ा), खुद्दय (अंगूठी), वलय रत्न और दीनार माला स्त्रियों के आभूषण माने जाते थे। लोग मस्तक पर सुवर्ण पट्ट लगाते थे और अंगुली में नाम मुद्रिका पहनते थे।

हाथी और घोड़ों को भी आभूषणों से सज्जित किया जाता था। हाथियों के गले में सुवर्ण और मणि से जड़ित हार पहनाये जाते थे तथा गायों को मचूराग चूलिका पहनाई जाती थी।

राजा महाराजा और धनिक वर्ग के लोग सोने के बर्तनों में भोजन करते थे। उनमें थाल, परात (थालग) आदि मुख्य थे। बैठने के पीठे (पावोद), आसनक और पल्यंक (पलंग) आदि सुवर्ण से जड़े हुए होते थे। सोने के भृंगार (झारी) का उपयोग होता था। मध्यम स्थिति के लोग चांदी का उपयोग करते थे।

कीमती रत्नों और मणियों में कर्केतन, वज्र, वैडूर्य, लोहिताक्ष, मस्सारग्ल, हंसगर्भ पुलक, सौगंधिक, ज्योतिरस, अंजन पुलक, रजत, जातरूप, अंकस्फटिक, दिष्ठ,

इन्द्रनील, मरकत, सस्यक, प्रवाल, चन्द्रप्रभ, गोमेदय, सचक, भुजभोजक, जलकान्त और सूर्यकान्त के नाम उल्लेखनीय हैं। मणिकार मणि मुक्ता आदि में डंडे से छेद करने के लिए उसे सान पर घिसते थे।

स्त्रियों की प्रसाधन सामग्री में सुरमादानी (अंगनी), लोध्रचूर्ण, लोधपुष्प, गुटिका, कुष्ठ, तगर, खस के साथ कूट कर मिलाया हुआ अगस, मुँह पर मलने का तेल और होंठ रचाने का चूर्ण (नंदी चुण्ण) मुख्य हैं। इसके सिवाय सिर धोने के लिए आँवलों (आमलग), माथे पर बिन्दी लगाने के लिए तिलक करणी, आँखों में आँजने के लिए सलाई (अंजन सलागा) तथा क्लिप (संडासग), कंघा (फणिह), रिबिन (सीहलियासग), शीशा (दर्पण, आदंसग), सुपारी (पूयफल) और तांबूल (तंबोलय) आदि का उपयोग किया जाता था।

तांबूल और सुपारी (पूयफल) खाने का रिवाज था। जायफल, सीतल चीनी (कक्कोल), कपूर, लौंग और सुपारी को पान में डाल कर खाते थे।

लोग अपने पैरों को मसलवाते-दबवाते थे। उन पर तेल, घी या मज्जा की मालिश कराते थे। लोध्रकल्क (कक्क) चूर्ण और वर्ण का उन पर उपलेप कराते थे। फिर गरम या ठंडे पानी से उन्हें धो डालते थे। बाद में चन्दन आदि का लेप करते और उन्हें धूप देते थे। शतपाक और सहस्रपाक नामक तेलों को अनेक जड़ी-बूटियों को तेल में सैकड़ों बार उबाल कर तैयार किया जाता था। दूसरे भी पुष्टिदायक और उल्लासप्रद तेलों को लोग शरीर पर मसलवाते थे। स्नान के लिए अनेक प्रकार का सुगंधित जल काम में लाया जाता था।

♣ लोह मिट्टी आदि के उपकरणों का निर्माण

भारत कृषि प्रधान देश होने से खेती-बाड़ी आदि के लिए हल, कुदाली, नहनी, शस्त्र, कोश आदा आदि बनाने का कार्य लुहार करते थे। उनका व्यापार उन्नति पर था। तवा, कुडछा आदि घरेलू उपयोग के साधन भी लुहारों द्वारा बनाये जाते थे। लुहारों की दुकानों को कम्मारशाला और लुहारों को कम्मार कहते थे। लुहारों की दुकानों को समद अथवा आएस भी कहा गया है। भट्टियों में कच्चा लोहा पकाया जाता था। फिर लोहे को नेह (अहिकरणी) पर हथोड़ों से कूट-पीटकर उससे उपयोगी वस्तुएँ तैयार करते थे।

कंसेरे (कंसकार) काँसे के बर्तन बनाते थे। उनकी गिनती नौ कासओं में की गयी हैं।

कुम्हार (कुंभकार) मिट्टी से अनेक प्रकार के घड़े-मटके आदि बनाते थे।

कुम्हार पहले मिट्टी में पानी डाल कर उसे सानते, उसमें राख, गोबर मिलाते और फिर उस मिट्टी के लौंदे को चाक पर रख कर घुमाते थे और इच्छानुसार करय (करवा), वारद, पिहडय, घडय, अद्धघडय, कलसय (कलश), अलिंजर, जंबूल, उट्टिय (ओष्ट्रिक) आदि बर्तन तैयार करते थे। तीन प्रकार के कलशों (कूट) का उल्लेख है- निष्पाव, तेलकूट और घृतकूट।

कुंभकार शाला के कई विभाग होते थे। पण्यशाला में बर्तनों की बिक्री की जाती थी। भांडशाला में उन्हें इकट्ठा करके रखा जाता था। कर्मशाला मे उन्हें तैयार किया जाता था और पचनशाला में उन्हें पकाया जाता था। ईंधनशाला में बर्तनों को पकाने के लिए घास, गोबर, आदि रखे जाते थे।

♣ सुगंध, इत्र, धूप आदि के व्यापारी

प्राचीन भारत में सुगंधित तेल, इत्र, धूप आदि का बहुतायत से उपयोग किया जाता था। सुगंधित द्रव्य बेचने वालों को गंधी और उनकी दुकानों को गंधशाला कहा जाता था। ये लोग विविध प्रकार के सुगंधित तेल, इत्र, धूप आदि तैयार करते थे। अलसी, कुसुंबा और सरसों को घाणी में पेर कर तेल निकाला जाता था। सुगंधित द्रव्यों में कूट, तगर, इलायची, चूआ (चोय), चंपा, दमन, कुंकुम, चन्दन, तुसंघ्क, उसीर (खस), मरुआ, जाई,जूही, मल्लिका, स्नान मल्लिका, केतकी, पाटली, लेमालिय, अंगस, वास और कपूर का उल्लेख है।

चैत्यों, वास भवनों और नगरों में धूप जलाया जाता था। धूपदान को धूप कडुच्छ अथवा धूपघटी कहा जाता था। लाक्षारस भी एक महत्वपूर्ण उद्योग था। लाख से स्त्रियाँ और बालक अपने हाथ पैर रंगते थे। लाख से चूड़िया, खिलौने आदि अन्य वस्तुएँ भी बनायी जाती थीं।

♣ अन्य कारीगरी

हाथ के कारीगर चटाई (छविय - छर्विका) बुनते, मूँज की पादुकाएँ बनाने, रस्से बँटते तथा सूप और टोकरियाँ बनाते थे। इसके अलावा ताडपत्रों से पंखे, पलाशपत्र और बाँस की खप्पचों से छाते (बाँसतान) तथा झाडू (वेणु संपच्छणी) और बाँस की पेटियाँ (वणुफल) बनायी जाती थी। छीकों (सिक्कस) का उपयोग किया जाता था। दर्भ और मूँज से रजोहरण, बोरियाँ (गोणी) बनायी जाती थीं। कम्मंतशालाओं में दर्भ, छाल और वृक्षों आदि के द्वारा अनेक वस्तुएँ तैयार की जाती थीं।

गृहनिर्माण मुख्य कला मानी जाती थी। राज और बढ़ई का काम मुख्य धंधे गिने जाते थे। मकानों, प्रसादों, तालाबों, मन्दिरों आदि की नींव रखने के लिए अनेक

राज और बढ़ई काम किया करते थे। मकान बनाने के लिए ईंट (इट्टिका), मिट्टी (पुढवी), शर्करा (सक्करा), बालू (बालुया) और पत्थर (उपल) आदि की जरूरत पड़ती थी। पक्के मकानों में चूना पोतने (सुधा कम्मन्त) का रिवाज था। पत्थरों के घर (सेलोवट्ठाण) बनाये जाते थे।

बढ़ई लोग बैठने के लिए आसन, पीठे, पलंग, खाट, खूंटी, सन्दूक, काष्ठ की मूर्तियाँ, बच्चों के खेल-खिलौने और काष्ठ के बर्तन आदि बनाते थे। काष्ठ के बर्तनों में आयमणि (लुटिया), उल्लंकय-डोयो, दव्वी (डोई) आदि का उल्लेक मिलता है। कृष्ण चित्र काष्ठ उत्तम समझा जाता था।

कुशल बढ़ई अनेक प्रकार की खड़ाऊँ तैयार करते थे और उनमें वैडूर्य, सुन्दर रिष्ट और अंजन जड़कर उन्हें चमकदार बनाते थे। उन्हें बहुमूल्य रत्नों से भूषित करते थे। रथकार का स्थान सर्वोपरि था। उसकी राजरत्नों में गणना की जाती थी। रथकार विमान आदि भी तैयार करते थे।

चर्मकार अथवा पदकार चमड़े का काम करते थे। ये लोग चमड़े से पानी की मशक (देयडा), चर्मेष्ठ (चमड़े से वेष्ठित पाषाण वाला हथियार) तथा किणिक (एक प्रकार का वाद्य) तैयार करते थे। ये अनेक प्रकार के जूते भी बनाते थे।

माली (मालाकार) एक से एक बढ़कर सुन्दरमाला और पुष्प गुच्छ (गुलदस्ता) गूँथकर तैयार करते थे। पुष्पों के अतिरिक्त तृण, मूँज, बेंत, मदन-पुष्प, मोरपंख, कपास का सूत, सींग, हाथी दाँत, कौड़ी, रुद्राक्ष और पुत्र-जीव आदि की भी मालाएँ (मल्ल, दाम) बनायी जाती थीं। फूलों के मुकुट तैयार किये जाते थे। प्रत्येक त्यौहार, महोत्सव में घर आदि को पुष्पों आदि से सजाने की परिपाटी होने के कारण पुष्प मंडप, बन्दवार, आदि मालाओं से सजावट करायी जाती थी।

♣ अन्य पेशेवर लोग

ऊपर कहे हुए कृषि, पशुपालन या व्यापार धंधे से अर्थोपार्जन करने वालों के सिवाय और भी बहुत से दूसरे पेशेवर लोग भी थे। उन्हें श्रमिक वर्ग में तो नहीं गिना जा सकता है, फिर भी वे समाज के लिए उपयोगी थे। उनमें आचार्य, चिकित्सक, वस्तुपाठक, लक्षण पाठक, नैमेत्तिक (निमित्त शास्त्र का ज्ञाता) गांधर्विक, नट, नर्तक, जल्ल (रस्सी पर खेल करने वाले), मल्ल, मोष्टिक, विडवक (विदूषक), कथक (कथावाचक), पल्लवक (तैराक), लासन (रास गाने वाले), आख्यायक (शुभाशुभ बयान करने वाले), लंख, मंख, तूणइल्ल (तूणा बजाने वाले), तुनवीणक (वीणावादक), तालाचर (ताल देने वाले), भुजंग (संपेरे), मागध (गाने-बजाने वाले), हास्यकार

(हँसी-मजाक करके हँसाने वाले), उमरकर (मसखरे) चाटुकार, दर्पकार और कौत्कुच्य (काया से कुचेष्टा करने वाले), आदि का उल्लेख है।

♣ भृत्य दास आदि

पूर्वोक्त प्रकार से अर्थोपार्जन करने वालों के अतिरिक्त कुछ लोग परिस्थिति वश या अन्य कारणों से दास, भृत्य आदि के रूप में किसी के यहाँ रह कर अपनी-अपनी आजीविका चलाते थे।

प्राचीन भारत में दास प्रथा का प्रचलन था। दास-दासी घर का काम-काज करते हुए अपने मालिक के परिवार के साथ ही रहते थे। केवल राजा और धनी मानी लोग ही दासों के मालिक नहीं होते थे, बल्कि अन्य लोग भी अपने परिवार में दास-दासी रखते थे। स्थांनांग सूत्र में छह प्रकार के दास बतलाये हैं— जन्म से ही दास वृत्ति करने वाले, खरीदे हुए, ऋण न चुका सकने के कारण दास बने हुए, दुर्भिक्ष के समय दासवृत्ति स्वीकारे हुए, जुर्माना आदि न देने के कारण दास बने हुए और कर्जा आदि न चुका सकने के कारण बन्दीगृह में डाले हुए।

दास पुरुषों की भाँति दास स्त्रियाँ भी घर में काम करने के लिए रखी जाती थीं। वे खाद्य, भोज्य, गंध, आल्य, विलेपन और पटल आदि ले कर अपनी स्वामिनी के साथ यक्ष आदि के मंदिरों में जाती थी। आगमों में अनेक दासियों का उल्लेख मिलता है। ये दासियाँ विदेशों से मंगाई जाती थीं। ये इंगित, चिन्तित, प्रार्थित आदि में कुशल होती थीं तथा अपने देश की वेशभूषा आदि धारण कर जब सभा में उपस्थित होती थीं, तब बहुत ही आकर्षक जान पड़ती थीं।

दासियों में कुब्जा, किराती, वामना (बौनी), वडभी (जिसका पेट आगे आया हुआ है) बर्बरी (बर्बर देश की), बकुशी (बकुश देश की), योनिका (जोनक देश की), पह्नविया (पहनव देश की), इसनिका, घोसकिनी (घासकिणी, बासणिया, वासिइणी), लासिया (लास देश की), लकुसिका (लकुश देश की), द्राविड़ी (द्रविड देश की), सिंहली (सिंहल देश की), आरबी (अरब देश की), पुलिदी (पुलिंद देश की), पक्कणी, मुसंडी, शबरी, पारसी आदि के नाम गिनाये हैं।

प्रतिदान के समय विविध प्रकार के वस्त्राभूषणों के साथ दासियों को भी देने का रिवाज था। दास-दासी बिल्कुल परतंत्र होते थे। उन्हें मालिक की आज्ञा के अनुसार ही अपनी प्रवृत्ति करनी पड़ती थी, फिर भी वे लोग आमोद-प्रमोद मनाने में पीछे नहीं रहते थे। उत्तराध्ययन सूत्र की टीका में दासी-मह का उल्लेख मिलता है। उससे पता चलता है कि दास-दासी भी धूम-धाम से उत्सव मना कर मनोरंजन किया करते थे।

पुत्र जन्म अथवा उत्सवों आदि के अवसर पर दासों को दासवृत्ति से मुक्त कर दिया जाता था। कदाचित घर का मालिक प्रसन्न हो कर भी दासियों का मस्तक प्रक्षालन कर उन्हें स्वतंत्र कर देता था।

दासों के बाद भृत्यों का नंबर आता है। इनकी दशा भी कुछ अच्छी नहीं थी, फिर भी दासों की अपेक्षा इन्हें अधिक स्वतंत्रता थी। दासों को जीवन भर के लिए खरीद लिया जाता था, जबकि भृत्यों को मूल्य देकर कुछ समय के लिए ही नौकरी पर रखा जाता था। भृत्य पैसा अथवा जिन्स लेकर मजदूरी करते थे। चार प्रकार के भृत्यों का उल्लेख ग्रंथों में किया गया है- रोजाना मजदूरी लेकर काम करने वाले (दिवस भृतक), यात्रा पर्यन्त सहायता करने वाले (यात्रा भृतक), ठेके पर काम करने वाले (उच्चता भृतक) और अमुक काम पूरा करने पर अमुक मजदूरी लेने वाले (कब्बाल भृतक)।

कुछ घरेलू कामकाज करने वाले नौकर भी होते थे, जो कौटुंबिक पुरुष कहलाते थे। कुछ लोग गोबर हटाने और चूल्हे में से राख हटाने का काम करते थे। कुछ सफाई का और साफ किए हुए स्थान पर पानी छिड़कने का काम करते थे। कुछ अनाज कूटने-पीसने, छड़ने और दलने आदि का काम करते थे। कुछ भोजन पकाते और परोसते थे। अन्य नौकर-चाकरों में अश्वपोषक, हस्तिपोषक, महिष पोषक, सिंह पोषक, व्याघ्र पोषक, अजपोषक, मृग पोषक, धोत पोषक, शूकर पोषक, कुक्कुट पोषक, मेंढ्र पोषक, तित्तिर पोषक, हंस पोषक और मयूर पोषक का उल्लेख मिलता है।

राजा के विविध निजी कार्य करने वालों के लिए अलग-अलग भृत्य होते थे। कोई राजा का अंगरक्षक बनकर राजा के पादमूल में तैनात रहता था। इसके अतिरिक्त राजभृत्यों में छत्रग्राही, पाशक ग्राही, पुस्तक ग्राही, फलक ग्राही, पीठ ग्राही, वीणा ग्राही, कुतुपग्राही, हड़प्पर (धनुष) ग्राही, दीपिक (मशाल) ग्राही आदि का उल्लेख भी मिलता है।

♣ व्यापार आयात-निर्यात आदि अर्थोपार्जन के विविध रूप

कृषि धनोपज और अपने राज्य में व्यापार आदि करने से जिनके पास पूँजी हो जाती थी, वे ब्याज, आढ़त, आयात-निर्यात एवं विदेशों में व्यापार द्वारा अर्थोपार्जन करते थे।

उन दिनों में राज्य के पास राष्ट्रीय धन का काफी बड़ा हिस्सा मौजूद रहता था, जिसे टैक्स और जुर्माने आदि के रूप में प्रजा से वसूल किया जाता था तथा भौगोलिक परिस्थितियों के कारण बड़े पैमाने पर धन का उपार्जन नहीं होता था और न राज्य की

ओर से ही औद्योगिक विकास के लिए धन लगाया जाता था। इस कारण कुछ एक धनी व्यापारियों को छोड़कर कम ही लोग पूँजीपति कहलाते थे, लेकिन जो पूँजीपति कहे जाते थे, वे हर तरह के व्यापार करते थे। वे व्यापार नीति बनाते थे और व्यापार पर नियंत्रण रखते थे।

कुछ लोग किसी वस्तु, मकान या अन्य साधनों को देकर बदले में किराया और कुछ लोग पूँजी देकर ब्याज लेते थे। उन दिनों कर्ज और सूद लेने की प्रथा थी। कर्जदार को धारणीय कहते थे। वह यदि अपने ही देश में हो, तो उसे कर्जा चुकाना पड़ता था। लेकिन यदि वह समुद्र यात्रा पर बाहर चला गया हो और मार्ग में जहाज डूब गया हो और वह किसी तरह एक धोती से तैरकर अपनी जान बचा ले, तो उसे कर्ज चुकाने का अधिकारी नहीं समझा जाता था। यह उस समय की वणिक नीति थी। यदि कर्जदार के पास कर्ज चुकाने के लिए पैसा तो है, पर वह इतना नहीं है कि सारा कर्ज चुका सके तो साहूकार उस पर मुकदमा करके अपना आधा या चौथाई कर्ज वसूल कर लेता था और यह भुगतान पूरे कर्ज का भुगतान समझा जाता था। यदि कर्ज समय पर नहीं चुकाया जाता, तो कर्जदार को कर्ज के बदले साहूकार की गुलामी करनी पड़ती थी।

कुछ लोग किसी व्यापार, खेती आदि में पूँजी लगाकर सब तरह के खर्च निकालने के बाद शेष आय को बाँट लेते थे। बड़े-बड़े धनपति उत्पादनकर्ता से थोक भाव पर माल खरीदकर छोटे-छोटे व्यापारियों को बेचते थे अथवा विदेश भेजते थे। स्वयं माल लेकर जल-थल मार्गों द्वारा दूर-दूर की यात्रा करते थे। ऐसा करने से जो मुनाफा होता था, उसके मालिक वे ही माने जाते थे। आगमों में बड्ढि (वृद्धि) शब्द का प्रयोग मिलता है। इसका अर्थ है लाभ और ब्याज। आनन्द गाथापति का उल्लेख आगमों में है। उसके पास व्यापार में लगाने के अतिरिक्त ब्याज पर देने के लिए चार करोड़ सुवर्ण मुद्राएँ सुरक्षित थी।

वणिक लोगों में से कुछ तो एक जगह दुकान लगाकर व्यापार करते (वणि) और कुछ बिना दुकान के घूम-फिर कर व्यापार करते (विवणि) थे। कक्खपुडिय नाम के वणिक अपनी गठरी बगल में दबाकर चलते थे और गाँव-गाँव घूमकर अपना माल बेचते थे। वर्षा काल में लोग व्यापार के लिए नहीं जाते थे। लोग राजा का आदेश पाकर अपनी गाड़ियाँ लेकर जंगल में जाते थे और वहाँ से लकड़ियाँ काटकर लाते थे। कुम्हार अपनी गाड़ियों में मिट्टी के बर्तन और आयीर (अहीर) घी के घड़े भरकर नगरों में बेचने के लिए लाते थे। जल और थल मार्गों से व्यापार हुआ करता था। आनन्दपुर (बड़नगर, उत्तर, गुजरात) मथुरा और दशार्णपुर (एरछ जिला झाँसी) ये स्थल

पट्टण के प्रमुख नगर थे, जहाँ स्थल मार्ग से माल ले जाया जाता था। इसी प्रकार द्वीप, कानद्वीप और पुरिम (पुरिय-जगन्नाथपुरी) ये जल पट्टण के नगर थे, जहाँ जलमार्ग से व्यापार होता था। (भरुच) और ताम्रलिप्ति (तामलुख) द्रोणमुख कहे जाते थे, जहाँ जल और स्थल दोनों मार्गों से व्यापार होता था।

प्रत्येक गाँव में व्यापारी होते थे तथा माल का बेचना और खरीदना उत्पादनकर्ता और उपभोक्ता के बीच हुआ करता था। यह व्यापार अलग-अलग दुकानों या बाजार की मंडी में होता था। यदि बिक्री के बाद माल बच जाता, तो वह देश के अन्य व्यापारिक केन्द्रों में भेज दिया जाता था।

वणिक आयात-निर्यात भी करते थे। कौन-सी वस्तुएँ बाहर भेजी जाती थी और कौन-सी बाहर से आती थी तथा कौन-सी वस्तुओं का अन्तर्देशीय विनिमय होता था। इन सब बातों का तो ठीक-ठीक पता नहीं लगता, लेकिन इतना जरूर कहा जा सकता है कि बहुत-सी वस्तुओं का विनिमय होता था। व्यापारी अपने यहाँ होने वाली वस्तुओं को गाड़ी, नाव, जहाज आदि से भरकर दूर-दूर के देशों में ले जाते थे और बदले में वहाँ से दूसरी वस्तुएँ लेकर आते थे।

ज्ञाता धर्मकथा के उल्लेख से ज्ञात होता है कि जब व्यापारी समूह के साथ व्यापार करने निकलते थे, तब अपने साथ खाने-पीने की वस्तुएँ, औषधि, अस्त्र-शस्त्र आदि की व्यवस्था करके चलते थे। अपने यहाँ जो वस्तुएँ होती थी, उन्हें लेकर जाते थे। विदेशों से माल लाने वाले व्यापारी राज कर से बचने के लिए छलकपट करने से नहीं चूकते थे। राजप्रश्नीय में उल्लेख है कि अंकरत्न, शंख और हाथी दाँत के व्यापारी टैक्स से बचने के लिए सीधे मार्गों से यात्रा न कर दुर्गम मार्ग से घूम-घूमकर इच्छित स्थान पर पहुँचते थे।

वस्तुओं की पूर्ति निश्चित नहीं थी। यातायात के बंद होने से उत्पादन पर एक ही व्यक्ति का अधिकार होने से और उत्पादन साधनों के बहुत पुराने होने से माल की पूर्ति जल्दी नहीं होती थी। लेने-बेचने में मिलावट (प्रतिरूपक व्यवहार) और बेईमानी चलती थी। मायावी व्यापारी सीधे-सादे ग्राहकों को ठग लेते थे।

परदेश यात्रा के लिए राजा की आज्ञा (रायवर सासण-पासपोर्ट) प्राप्त करना जरूरी था। व्यापारी सुबह का नाश्ता (पायरासेहि) करके मार्गों में ठहरते हुए यात्रा करते थे। इष्ट स्थान पर पहुँच जाने पर वे उपहार आदि लेकर राजा की सेवा में उपस्थित होते थे। राजा उनका कर माफ कर देता और उनके ठहरने की उचित व्यवस्था भी करता था।

♣ कतिपय प्रमुख व्यापार केन्द्र

चंपा प्राचीन काल में उद्योग व्यापार का बहुत बड़ा केन्द्र था। यहाँ के बाजार शिल्पियों से आकीर्ण रहा करते थे। यह मिथिला से जुड़ा हुआ था। यहाँ अनेक प्रसिद्ध पोतवणिक सार्थवाह रहा करते थे। वे जल और स्थल मार्ग से दूर-दूर तक जाकर माल का क्रय-विक्रय करते थे। यहाँ कई दुकानें थी, जिनमें विविध प्रकार की एक से एक उपयोगी वस्तुएँ बिकती थीं। कर्मान्तशाला (कम्मांतशाला) में उस्तरे आदि पर धार लगाई जाती थी। पाणागार (दसावण, दसापण) में मद्य बेची जाती थी। इसी प्रकार चक्रिशाला में तेल, गोलिय शाला में गुड़, गोवियशाल में गाय, दोसिय शाला में दूष्य (वस्त्र), सोत्तिय शाला में सूत और गंधिय शाला में सुंगधित पदार्थ बेचे जाते थे।

उज्जयिनी व्यापार का दूसरा बड़ा केन्द्र था। धनवसु यहाँ का एक प्रसिद्ध व्यापारी था। उसने अपने सार्थ के साथ व्यापार के लिए चंपा प्रस्थान किया था। उज्जयिनी के व्यापारी पारसकुल (ईरान) तक जाते थे। राजा प्रद्योत के समय में उज्जयिनी में आठ बड़ी-बड़ी दुकानें थी, जहाँ प्रत्येक वस्तु मोल मिलती थी।

मथुरा उत्तरापथ का एक प्रमुख व्यापारिक केन्द्र था। यहाँ के लोग बनिज-व्यापार से ही निर्वाह करते थे। खेती-बाड़ी यहाँ नहीं होती थी। यहाँ के लोग व्यापार के लिए दक्षिण मथुरा (मदुराई) जाते-आते रहते थे। उत्तरापथ के टंकण (टक्क) म्लेच्छों के विषय में कहा है कि पर्वतों में रहने के कारण वे दुर्जेय थे और सोना तथा हाथी दाँत आदि बहुमूल्य वस्तुएँ लेकर व्यापार के लिए दक्षिणापथ की यात्रा करते थे। ये लोग दक्षिण वासियों की भाषा नहीं समझते थे, इसलिए हाथ के इशारों से मोल तोल होता था। जब तक अपने माल का उचित मूल्य नहीं मिलता था, तब तक वे अपने माल पर से हाथ नहीं उठाते थे।

सुशुपरिक (सोप्पारय-नाला सोपारा जिला ठाणे) व्यापार का एक प्रमुख केन्द्र था। यहाँ बहुत से व्यापारियों के रहने का उल्लेख है। भृगुकच्छ और सुवर्णभूमि (बर्मा) के साथ इनका व्यापार चलता था।

सौराष्ट्र के व्यापारी वारिवृषभ जहाज से पांडुमथुरा समुद्र के रास्ते जाया-आया करते थे। धन, कनक, रत्न, जनपद, रथ और घोड़ों से समृद्ध द्वारका (बारबइ) सौराष्ट्र का प्रधान नगर था। व्यापारी यहाँ वेयालंग पट्टण (वेरावल) से नावों द्वारा अपना माल लेकर आते थे।

वसन्तपुर के व्यापारी व्यापार के लिए चंपा जाया आया करते थे। क्षिति-*प्रतिष्ठित नगर के व्यापारियों का वसन्तपुर जाने का उल्लेख मिलता है।*

हत्थिसीस व्यापार और उद्योग का दूसरा केन्द्र था। यहाँ अनेक व्यापारी रहा करते थे। यहाँ के व्यापारी व्यापार के लिए कालिय द्वीप जाते थे। यह द्वीप सोने, रत्न और हीरों की समृद्ध खानों तथा धारीदार घोड़ों के लिए प्रसिद्ध था।

पारसद्वीप में प्राय: व्यापारियों का आना-जाना लगा रहता था। सिंहल द्वीप (लंका) में व्यापारी ठहरा करते थे। सिंहल, पारस, बर्बर (बार्बरिकोन), जोणिय (भवन भव), दमिल (तमिल), अरब, पुलिन्द, बहली (वाह्लीक, बल्ख, अफगानिस्तान) तथा अन्य अनार्य देशों से दास-दासी लाए जाते थे।

मथुरा और विदिशा वस्त्र उत्पादन के बड़े केन्द्र थे। गौड़ देश रेशमी वस्त्रों के लिए प्रसिद्ध था। पूर्व से आने वाला वस्त्र लाट देश में आकर ऊँची कीमत पर बिकता था। ताम्रलिप्ति, मलय, काक, तोसली, सिंधु, दक्षिणापथ और चीन से विविध प्रकार के वस्त्र आते थे। नेपाल रोएँदार बहुमूल्य कंबलों के लिए प्रसिद्ध था। महाराष्ट्र में ऊनी कंबल अधिक मूल्य में बिकते थे। कालिय द्वीप के अतिरिक्त कंबोज व उत्तरापथ घोड़ों के लिए प्रसिद्ध थे। दीलवालिया के खच्चर अच्छे समझे जाते थे। पुण्ड्र (महास्थान जिला बांगरा, बंगाल) अपनी काली गायों के लिए प्रसिद्ध था। पारसकुल (ईरान) से शंख, पुगीफल (सुपारी), चंदन, अगरु, मजीठ, चांदी, सोना, मणि, मुक्ता, प्रवाल आदि बहुमूल्य वस्तुएँ आती थी।

♣ यातायात के साधन

व्यापार और उद्योग धंधों के विकास के लिए शीघ्रगामी और सस्ते आवागमन के साधनों का होना परम आवश्यक है। उस काल में जलमार्ग और स्थल मार्ग यातायात के साधन थे। जैन आगमों में स्थल मार्ग संबंधी श्रंगारक (सिंघाटक), चिक (तिग), चतुष्क (चउक्क), चत्वर (चच्चर), महापथ और राजमार्ग जैसे शब्दों का उल्लेख तो मिलता है, फिर भी उन दिनों में मार्गों की दशा संतोषजनक प्रतीत नहीं होती है। ये मार्ग जंगलों, रेगिस्तानों और पहाड़ियों में से होकर गुजरते थे, इसलिए इन मार्गों में घोर वर्षा, चोर, लुटेरे, हाथी, शेर आदि जंगली जानवरों, राज्य अवरोध, अग्नि, राक्षस, गड्ढे, सूखा, दुष्काल, जहरीले वृक्ष आदि का भय बना रहता था। कभी जंगल का रास्ता पार करते समय वर्षाकाल बिताना पड़ता था। कितने ही मार्ग बहुत बीहड़ होते थे और इन मार्गों के गुण-दोषों का संकेत करने के लिए मार्ग के अभाव में रास्ते में कीले गाड़ दिया करते थे, जिससे दिशा का पता लग सके। रेगिस्तान के यात्री रात को जल्दी-जल्दी यात्रा करते थे। बालक और वृद्ध आदि के लिए यहाँ कावड़ काम में ली जाती थी।

इन सब कठिनाइयों के कारण उन दिनों व्यापारी लोग साथ बनाकर यात्रा

किया करते थे। आगम साहित्य में इनके कई प्रकार के नाम मिलते हैं। जैसे मंडी (गाड़ियों और छकड़ों द्वारा माल ढोने वाले), बहिलग (ऊँट, खच्चर और बैलों द्वारा माल ढोने वाले), भारवह (अपना माल स्वयं ढोने वाले), ओदरिया (अपनी आजीविका के योग्य द्रव्य लेकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करने वाले), कप्पडिय (कापार्टिक साधु) आदि। दूसरे प्रकार इस प्रकार हैं— कालोत्थायी (सूर्योदय होने पर गमन करने वाले), काल निवेक्षी (सूर्य का उदय होने पर या प्रथम पौरुषी- जिस काल में पुरुष प्रमाण छाया हो- में कहीं ठहरने वाले), स्थान स्थायी (गोकुल आदि में ठहरने वाले), कालभोजी (मध्याह्न सूर्य के समय भोजन करने वाले) आदि। सार्थ के लोग अनुरंगा (गाड़ी), पालकी, घोड़े, भैंसे, हाथी और बैल लेकर चलते थे, जिससे कि चलने में असमर्थ रोगियों, घायलों, बालकों और वृद्धों को इन वाहनों पर चढ़ाकर ले जाया जा सके।

सार्थ के लोग आकस्मिक संकट, बाढ़, वर्षा आदि का ध्यान रखकर दन्तिक (मोदक), गेहूँ (गोर), तिल, बीज, गुड़, घी आदि वस्तुओं को अपने साथ लेकर चलते थे। ये लोग अपना सामान गाड़ियों में भरकर मार्ग में स्थान-स्थान पर ठहरते हुए चलते थे। सार्थ के सब व्यापारी अपने में से किसी को प्रमुख चुन लेते थे। उसे सार्थवाह कहा जाता था। गमन करने से पूर्व वह मुनादी कराकर घोषणा करता था कि जो कोई उनके साथ यात्रा करेगा, उसके भोज, पान, वस्त्र औषधि आदि की व्यवस्था मुफ्त की जाएगी। सार्थवाह धनुर्विद्या आदि में एवं शासन में कुशल होता था।

सार्थ के व्यापारी राजा की अनुज्ञापूर्वक गणिम (गिनने योग्य। जैसे जायफल, सुपारी आदि), धरिम (देखने योग्य। जैसे कंकु, गुड़ आदि), मेय (मापने योग्य। जैसे घी-तेल आदि) और परिच्छेद (परिच्छेद करने योग्य। जैसे रत्न, वस्त्र आदि) नामक चार प्रकार का माल लेकर धन कमाने के लिए गमन करते थे।

गाड़ी या छकड़ा (सगड़ी-सागड़) को यातायात के उपयोग में लिया जाता था। मजबूत काष्ठवाली वज्रकील और लोहपट्ट से युक्त गाड़ी भारवहन करने में समर्थ समझी जाती थी। गाड़ी के पहियों के धुर में देक देकर पहियों को औंगा जाता था। मंडी, बहिलग, काय और शीर्ष का उल्लेख प्राप्त होता है, जिनसे माल ढोया जाता था।

यान वाहक यान और वाहन का ध्यान रखते थे। यानों में बैल जोते जाते थे। उन्हें आभूषणों से सजाते थे। बैलों के सींग तीक्ष्ण होते थे और उनमें घंटियाँ एवं सुवर्णखचित सूत्र की रस्सियाँ बँधी रहती थी। उनके मुँह में लगाम (पग्गह-पगहा) पड़ी रहती थी और नीलकमल उनके मस्तक पर शोभायमान रहते थे। वहकवान

(पओअधर-प्रतोदधर) उन्हें हाँकते समय नोकदार छड़ी (पओद लट्ठी) का उपयोग करते थे। बढ़िया किस्म के यानों में रथ का उल्लेख मिलता है। शिबिका (शिखर के आकार की ढँकी हुई पालकी) और स्यन्दमानी (पुरुष प्रमाण पालकी) का उपयोग राजाओं व धनिकों द्वारा किया जाता था। रथों में घोड़े जोते जाते थे। चार घोड़ों वाले रथों का उल्लेख आगमों में मिलता है। युग्म (जुग्ग) गिल्लणी और थिल्ली का भी उल्लेख मिलता है। दो हाथ प्रमाण चौकोन वेदी से युक्त पालकी को युग्म कहते हैं। गोल्ल देश (गोल्लि-गुंटूर जिला) में इसका प्रचार था। दो पुरुषों द्वारा उठाकर ले जाई जाने वाली डोली को गिल्ली तथा दो खच्चरों के यान को थिल्ली कहा जाता था।

स्थल मार्ग के यातायात के साधन ऊपर बताए गए हैं। जलमार्ग के यानों में नाव का प्रमुख स्थान था। नदियों में नावों द्वार माल ढोया जाता था। नदी तट पर उतरने के लिए स्थान बने रहते थे तथा नावों द्वारा नदियों में इस पार से उस पार जाया जाता था। नावों को अगट्ठिया, अन्तरडक गोलिया (डोंगी) और कोचबीरग (जलयान) आदि कहा जाता था। कुछ नावें हाथी की सूँड के आकार की होती थी। आगम साहित्य में चार प्रकार की नावों का उल्लेख मिलता है- अनुलोम गामिनी, प्रतिलोम गामिनी, तिदिच्छ संतारणी (एक किनारे से दूसरे किनारे पर सरल रूप से जाने वाली और समुद्र गामिनी।

समाज विकास के प्रारंभिक समय में मशक (हति-दइय) और बकरे की खाल पर बैठकर भी लोग नदी पार करते थे। इसके अतिरिक्त चार काष्ठों के कोनों पर चार घड़े बाँधकर, मशक में हवा भरकर, तुम्बी के सहारे, घिरनइ (उडुप) पर बैठकर तथा पण्णि नामक लताओं से बने दो बड़े टोकरों को बाँधकर उनसे नदी पार करते थे। नाव में लंबा रस्सा बाँधकर उसे किनारे पर स्थित वृक्ष अथवा लोहे के खूँटे में बाँध दिया जाता था। मूँज अथवा दर्भ अथवा पीपल आदि की छाल को कूटकर बनाए हुए पिंड (कुट्टबिंद) से अथवा वस्त्र के चिथड़ों के साथ कूटे हुए पिंड (चेलमट्टिया) से नाव का छिद्र बंद किया जाता था।

व्यापारी जहाजों से समुद्र की यात्राएँ किया करते थे। जहाज के लिए पोतवहन, वहन और प्रहण आदि शब्दों का प्रयोग मिलता है। जहाज पवन के जोर (पवन बल समाहा) से चलते थे। उनमें डांडे और पतवारे रहती थी। लोग पाल के सहारे जहाज को आगे बढ़ाते थे। लंगर डालकर जहाज ठहराया जाता था। निर्यामक (निज्जामय) जहाज को खेते थे। जहाज के अन्य कर्मचारियों में कुक्षिधारक, कर्णधार और गर्मज (जहाज पर छोटा-मोटा काम करने वाले) के नाम गिनाए गए हैं।

♣ प्रस्थान समारोह

व्यापारी सार्थ बनाकर अथवा जहाजों द्वारा जब दूर विदेशों में व्यापार करने के लिए जाते थे, तब उन्हें समारोह के साथ भेंट आदि देकर विदा किया जाता था।

व्यापारी शुभ तिथि, करण, नक्षत्र, मुहूर्त आदि देखकर इष्ट मित्रों को भोजन के लिए आमंत्रित करते थे। वे छकड़ों में माल लदवाते थे तथा साथ में चावल, आटा, तेल, गुड़, घी, गोरस, जल, जल के पात्र, औषधि, तृण, काष्ठ, आवरण (तिरपाल आदि), प्रहरण आदि भरकर यानों की पूजा आदि करके इष्ट मित्रों, स्वजनों आदि से मिलकर प्रस्थान करते। मित्रजन उन्हें बिदाई देते समय भेंट देते थे।

जलमार्ग से जाने वाले लोग जहाजों पर पुष्प चढ़ाते, सरस रक्त चंदन के पाँचों ऊँगलियों के पोत पर छापे लगाते, धूप जलाकर समुद्र की पूजा करते और फिर उचित स्थान पर ध्वजा फहराकर शुभ शकुन ग्रहण कर राजा की आज्ञा प्राप्त कर जहाजों पर सवार होते थे। उस समय स्तुति पाठक मंगल गान करते थे और जहाज के वाहक, कर्णधार, कुक्षिधार और गमज्जिक आदि कर्मचारी अपने-अपने स्थान पर काम में लगकर लंगर छोड़ देते थे।

समुद्र में तूफान आने पर कभी-कभी जहाज डूब भी जाते थे। ऐसे संकट के समय वणिक लोग धूप आदि द्वारा देवता की पूजा करके उसे शान्त करते थे। जहाज डूब जाने पर भाग्य योग से कोई बचकर कहीं से कहीं पहुँच जाता था।

♣ मुद्रा

माल का मूल्य रुपए-पैसे के रूप में निर्धारित था। आगम साहित्य में अनेक प्रकार की मुद्राओं, सिक्कों तथा उनकी अन्तर्देशीय विनिमय दर निर्धारण का उल्लेख मिलता है। उपासक दशा में हिरण्य-सुवर्ण का एक साथ उल्लेख है। वैसे सुवर्ण का नाम अलग से भी आता है। अन्य मुद्राओं में कार्षापण (काहावण), मास, अर्द्धमास और रूपक का उल्लेख है। पण्णग और पायंक मुद्राओं का उल्लेख भी मिलता है। उत्तराध्ययन सूत्र में सुवर्णमासय (सुवर्णमाषक) का नाम आता है। संभवत: यह छोटा सिक्का हो। बृहत्कल्प भाष्य और उसकी वृत्ति में अनेक प्रकार के सिक्कों का उल्लेख है। सुवर्णमाषक संभवत: सबसे छोटा सिक्का था और दक्षिणापथ में प्रचलित था। चांदी के सिक्कों में द्रव्य का उल्लेख मिलता है। भिल्लमाल (भीनमाल जिला जोधपुर) में यह सिक्का प्रचलित था। सोने के सिक्कों में दीनार अथवा केवडिक का उल्लेख प्राप्त होता है। उसका प्रचार पूर्व देश में था। मयूरांक राजा ने अपने नाम से चिह्नित दीनारों को गाड़कर रखा था। खोटे रूपकों का भी प्रचलन था। सुनार (हैरकण्य) अंधेरे में भी खोटे सिक्कों को पहचान लेते थे।

बृहत्कल्प भाष्य में द्वीप (सौराष्ट्र के दक्षिण में समुद्र मार्ग में एक योजन चलने पर स्थित) के दो सामरक को उत्तरापथ के एक रूप्यक के बराबर, दक्षिणा पथ के दो रूप्यकों को कांचीपुरी के एक नेलक के बराबर तथा कांचीपुरी के दो नेलकों को कुसुमपुर (पाटलीपुत्र) के एक नेलक के बराबर बताया गया है।

♣ माप-तौल

आगम साहित्य में पाँच प्रकार के मापों का उल्लेख मिलता है- मान, उन्मान, अवमान, गणिम और पतिमान। मान दो प्रकार का बताया गया है- धनमान प्रमाण और रसमान प्रमाण। धनमान प्रमाण (जिससे धान्य आदि की माप-तौल की जाती है) के अनेक भेद हैं। जैसे- असई, पसई, सेतिका, कुडुव, प्रस्थ, आढक, द्रोण, मुक्तोली, मुख, इदूर, आलिंदक, अपचार आदि।

मापिका द्वारा तरल पदार्थों को मापा जाता था।

उन्मान में अगरु, तगर आदि वस्तुएँ आती हैं। इनके माप के लिए कर्ष, पल, तुला और भार का उपयोग किया जाता था। अवमान में हस्त, दंड, धनुष्क, युग, नालिका, अक्ष और मुशल की गणना होती थी। इनसे कुएँ, ईंट का घर, लकड़ी, चटाई, कपड़ा और खाई वगैरह मापी जाती थी। गणिम में गिनती की जाती थी।

प्रतिमान में गुंजा, काकिणी, निष्पाव, कर्मभारक, मैडलक और सुवर्ण की गिनती की जाती थी। इनके द्वारा सोना, चांदी, रत्न, मोती, शंख और प्रवाल आदि तोले जाते थे।

दूरी मापने के लिए अंगुल, वितस्ति, रलि, कुक्षि, धनुष और गव्यूत तथा लंबाई मापने के लिए परमाणु, त्रसरेणु, रथरेणु, बालाग्र, लिक्षा, यूका, यव का उपयोग किया जाता था। समय मापने के लिए समय, आवलिका, श्वास, उच्छ्वास, स्तोक, लव, मुहूर्त, अहोरात्र, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, संवत्सर, युग, वर्षशत (शताब्दी) से लेकर शीर्ष प्रहेलिका तक का उपयोग किया जाता था।

तुला का भी उल्लेख मिलात है। दूसरे की आँख बचाकर कम-ज्यादा तोलने और मापने का काम चलता था।

♣ उधार लेना-देना

व्यापार में अथवा आपस में विश्वास पर उधार लेते तथा देते थे। धन अधिकतर सोने आदि के रूप में संचित किया जाता था। लोग अपने मित्रों के पास भी अपना धन धरोहर के रूप में रख दिया करते थे, लेकिन उसकी सुरक्षा की कोई गारण्टी नहीं थी। कितनी ही बार लोग इस धन को वापस नहीं देते थे

(न्यासापहार-नासावहार)। आवश्यकता पड़ने पर लोग उधार लेते थे। लेन-देन और साहूकारी ईमानदारी का पेशा समझा जाता था। रुपया उधार लेते समय रुक्के-पर्चे लिखने का रिवाज था। लोग झूठे रक्के-पर्चे भी लिख दिया करते थे। इसे कूडलेह-कूटलेख कहा गया है। यदि कोई वणिक कर्ज चुकाने में असमर्थ होता, तो उसके घर पर एक मैली-कुचैली झंडी लगा दी जाती थी। किसी को दिवालिया घोषित करने की उस काल में यह प्रथा थी।

♣ व्यापारिक संगठन

यद्यपि उन दिनों में उद्योग धंधे बहुत कमजोर थे और लोगों की क्रयशक्ति वस्तुओं के पारस्परिक विनिमय पर आधारित थी, फिर भी व्यापारिक संगठन मौजूद थे। सुवर्णकार, चित्रकार और रजक (धोबी) जैसे महत्वपूर्ण कारीगरों के संगठन थे। उन्हें श्रेणी कहा जाता था। आगम साहित्य में इस प्रकार की अठारह श्रेणियों का उल्लेख है, लेकिन इनके कर्त्तव्य, विधान, संगठन के उद्देश्य आदि के बारे में विशेष जानकारी नहीं मिलती।

श्रेणी अपने सदस्यों के हितों की रक्षा के लिए प्रयत्नशील रहती थी। उनके प्रमुख सदस्य राजा के निकट पहुँचकर न्याय की माँग करते थे। दरअसल श्रेणी एक प्रकार का ऐसा संगठन था, जिसमें एक या विभिन्न जाति के लोग होते थे, लेकिन उनका व्यापार धंधा एक ही होता था। साथ ही ये श्रेणियाँ राज्य के जन समुदाय का प्रतिनिधित्व करती थी और इससे राजा को उनके विचार और उनकी भावनाओं को सम्मानित करने के लिए बाध्य होना पड़ता था।

शिल्पकारों की श्रेणियों की भाँति व्यापारियों की भी श्रेणियाँ थीं। उनमें नदी या समुद्र से यात्रा करने वाले व्यापारी और सार्थवाह शामिल थे। ऐसे कितने ही सार्थों के उल्लेख मिलते हैं, जो विविध माल- असबाब के साथ एक देश से दूसरे देश में जाते-आते थे। श्रेष्ठी अठारह श्रेणियों-प्रश्रेणियों का मुखिया माना जाता था।

इस प्रकार आगम साहित्य में प्राचीन भारत की अर्थोपार्जन व्यवस्था से संबंधित विविध बातों की जानकारी उपलब्ध होती है। अब आगे के अंतिम प्रकरण में आगम साहित्य में तत्कालीन धार्मिक व्यवस्था का जो रूप उपलब्ध होता है, उसके बारे में विचार किया जाएगा।

¤

अध्याय १२

आगम साहित्य में धार्मिक व्यवस्था का रूप

♣ धर्म की बहुलक्षी व्याख्या

सामान्यत: धर्म शब्द का प्रयोग आध्यात्मिक विकासोन्मुखी आचार के लिए किया जाता है और सर्वसाधारण में इसी भाव को व्यक्त करने के लिए धर्म शब्द का प्रयोग भी किया जाता है, लेकिन जैन आगमों में सिर्फ आध्यात्मिक विकास के लिए किए जाने वाले तप-त्याग-व्रत-विधानों को ही नहीं, अपितु देश, समाज, नगर, ग्राम, कुल, परिवार आदि के प्रति दायित्वों को निभाना भी धर्म माना गया है । धर्म का संबंध सिर्फ व्यक्तिगत आचार से ही नहीं है, अपितु समष्टि की सुख-सुविधा और व्यवस्था से भी है । इस दृष्टि से धर्म की अनेक रूपों में व्याख्या की जा सकती है, लेकिन स्थूल रूप से आगमों में धर्म की दस प्रकार की व्याख्या की गई है । वह इस प्रकार है- ग्राम धर्म, नगर धर्म, राष्ट्र धर्म, पाषंड धर्म, कुल धर्म, गण धर्म, संघ धर्म, श्रुत धर्म, चारित्र धर्म और अस्तिकाय धर्म ।

संक्षेप में विचार किया जाए, तो उक्त दस भेदों का राष्ट्र, समाज और धर्म इन तीन में समावेश हो सकता है, क्योंकि ग्राम और नगरों का समूह हो सकता है क्योंकि ग्राम और नगरों का समूह राष्ट्र है । कुल और गण समाज के अंग है और पाषंड से समाज की लौकिक मान्यताओं, रूढ़ियों और प्रथाओं का बोध होता है । संघ का संबंध समाज से भी है आध्यात्मिक धर्म साधना क्षेत्र की व्यवस्था से भी है । इस कारण यथा योग्य धर्म व समाज में उसका ग्रहण किया जा सकता है । आध्यात्मिक विकास अंगज्ञान और आचार है, अतः उनका बोध धर्म शब्द से कराया जाता है । आगम साहित्य में इन सभी के बारे में विचार देखने को मिलते हैं । उनमें से यहाँ धार्मिक व्यवस्था का विचार करते हैं ।

निर्ग्रंथ साधना एवं निवृत्ति पोषक विचार जैन धर्म के केंद्र बिन्दु हैं, अतः आगमों में मुख्यतया इनसे संबंधित सिद्धांतों, आचार व्यवहार और उनके अनुरूप जीवन साधना अंगीकार करने वालों एवं उनकी विभिन्न श्रेणियों का वर्णन है । इसके अलावा प्रासंगिक रूप में समकालीन अन्य प्रचलित मत-मतान्तरों, परंपराओं और उनके अनुयायी साधकों आदि का भी उल्लेख है । उत्तरकालीन आगमिक व्याख्या साहित्य में अपनी सम सामयिक लोक व्यवस्था के कारण उत्पन्न परिस्थितियों में साधना की सुरक्षा के निमित्त अपवादों का भी उल्लेख है, जो इस बात का साक्षी है कि उत्सर्ग

मार्ग की सुरक्षा के लिए संकट के समय में अन्य किसी उपाय के न रहने पर उनका उपयोग कर लेना चाहिए, लेकिन संकट टलने पर उनका प्रायश्चित करके शुद्धिकरणपूर्वक पूर्ववत् मार्ग पर चलना चाहिए।

♣ आगमगत निर्ग्रंथ साधना के सिद्धांत

निर्ग्रंथ साधना की यह मूल दृष्टि और कुँजी है—'पूर्व परिचित संयोगों का त्याग करके जो कहीं किसी वस्तु की आकांक्षा नहीं रखता, उस वस्तु में स्नेह नहीं रखता और स्नेह करने वालों के प्रति भी स्नेह नहीं दिखाता, वह भिक्षु दोषों और प्रदोषों से मुक्त होता है।

इसी दृष्टि के अनुसार आचारांग में निर्ग्रंथों की चर्या का विस्तार से वर्णन किया गया है। उसके दोनों श्रुतस्कंधों में बताया है कि निर्ग्रंथ साधना की भूमिका निर्माण करने के लिए क्या आवश्यक है और उसके बाद उसकी सुरक्षा के लिए करणीय वैध उपाय आदि है।

प्रथम श्रुतस्कंध के शस्त्र परिज्ञा अध्ययन में भूमिका निर्माण की दृष्टि से बताया है कि यह विश्व पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और त्रस इन छह निकायों से खचाखच भरा हुआ है। अतः इनकी सुरक्षा के लिए आरंभ-समारंभ करना वर्जित है, क्योंकि जब तक आत्मवत् सर्वभूतेषु की भावना व्यापक और सबल नहीं बनेगी, तब तक निर्ग्रंथता की ओर नहीं बढ़ा जा सकेगा। जीवों के आरंभ समारंभ का कारण है—क्रोध, मान, माया और लोभ ये चार कषाय। अतः इन कषायों पर विजय प्राप्त करने पर निर्ग्रंथ साधना में ओज आता है। वह सबल बनती है। अतः लोकविजय नामक दूसरे अध्ययन में इनके त्याग की आवश्यकता बतलाई है—वैषयिक साधनों की प्राप्ति—अप्राप्तिजन्य सुख-दुःख। जब तक बाह्य वस्तुओं की ओर ध्यान रहता है, तब तक निर्ग्रंथता की ओर नहीं बढ़ा जा सकता। इसी बात का विचार तीसरे शीतोष्णीय अध्ययन में किया गया है।

इस प्रकार प्रथम तीन अध्ययनों में निर्ग्रंथ साधना की भूमिका के निर्माण का वर्णन करने के बाद उसकी सुरक्षा के मूल उपाय को बताया है कि अहिंसा, संयम और तप का आचरण इस भावना के द्वारा साधना की सुरक्षा करनी चाहिए। इन्हें जितना व्यवहार में लाया जाएगा और इनके आशय के अनुकूल प्रवृत्ति की जाएगी, उतनी ही साधना सबल बनेगी। इसके परिणाम स्वरूप उस आत्मा के दर्शन होंगे, जो शब्दातीत है एवं बुद्धि व तर्क से अगम्य है। इन दोनों बातों को क्रमशः चतुर्थ सम्यक्त्व और पंचम लोकसार नामक अध्ययनों में बताया गया है। शुद्ध आत्मतत्व को जान लेने, समझ लेने और उसकी प्राप्ति हो जाने के बाद भी कुछ न कुछ स्वजन, उपकरण, वैभव,

सत्कार आदि की तृष्णा यदि रहती है तो उसे भी झटक देना चाहिए और इसके बाद भी यदि मोह के कुछ तन्तु शेष रहें तो उनका भी भली प्रकार से निकंदन करना चाहिए। ऐसा करते समय यदि ऐसी शारीरिक स्थिति उत्पन्न हो जाए कि संयम की रक्षा ही नहीं हो सके अथवा अनुकूल प्रतिकूल उपसर्गों के कारण असंयम की स्थिति उत्पन्न हो जाए तो जीवन का मोह छोड़कर शरीर का त्याग करने में भी किसी प्रकार का विचार नहीं करना चाहिए।

निर्ग्रंथ साधना की इसी चिन्तनात्मक भूमिका को सबल बनाने के लिए दूसरे श्रुतस्कंध में आचार प्रधान प्रवृत्तिमूलक विधि विधानों का मन, वचन, काय की प्रवृत्ति निवृत्ति का, पंच महाव्रतों एवं उनकी भावनाओं का संयम की एकविधता, द्विविधता आदि का व चातुर्याम पंचयाम, रात्रिभोजन त्याग इत्यादि का परिचय दिया गया है।

ऊपर निर्ग्रंथ साधना की जिन मूलभूत बातों का उल्लेख किया गया है, उनका वर्णन अन्य अंग आगमों में भी किसी न किसी रूप में है और अंग बाह्य आगमों में भी उल्लेख किया गया है। पूर्ण निर्ग्रंथ तो इसकी साधना समग्र रूप से करते हैं, लेकिन जो वैसा करने में सक्षम नहीं हैं अथवा अभ्यास करने वाले हैं, उनके लिए अणुव्रत के रूप में साधना मार्ग बतलाया है। दोनों प्रकार की साधना में सर्व (पूर्ण) और एक देश (आंशिक) की अपेक्षा से भेद किया जा सकता है, लेकिन साधना मार्ग एक ही है। उसमें अंतर नहीं है।

इस निर्ग्रंथ साधना को श्रममणाचार या साध्वाचार भी कहते हैं।

♣ व्रत नियम पालन की दुष्करता

निर्ग्रन्थ साधना के व्रत और नियमों का पालन परम् दुष्कर बताया गया है और उस दुष्करता को उपमाओं आदि से स्पष्ट किया गया है कि जैसे गंगा के प्रति स्रोत को पार करना, समुद्र को भुजाओं से तैरना, बालू के ग्रास का भक्षण करना, तलवार की धार पर चलना, लोहे के चने चबाना, जलती आग की शिखा को पकड़ना और मेरू पर्वत को तराजू से तौलना महादुष्कर है, वैसे ही श्रमण धर्म का आचरण भी महादुष्कर है। इस साधना के पालन में सर्प की भाँति एकान्त दृष्टि और छुरे की भाँति एकान्त धार रखते हुए यत्नपूर्वक आचरण करना पड़ता है। इसीलिए कहा गया है कि निर्ग्रन्थ प्रवचन में नपुंसक, कायर और कापुरुषों का एवं इहलौकिक इच्छाओं में आसक्त, रत और परलोक के प्रति उदासीन लोगों का काम नहीं है। इसका पालन तो *कोई धीर-वीर, दृढ़ मन और पुरुषार्थी पुरुष ही कर सकते हैं।*

निर्ग्रन्थ श्रमण की तपस्या अत्यन्त विकट होती है। इसीलिए आगमों में उसके लिए घोर तपस्वी विशेषण का प्रयोग किया गया है। प्रत्येक प्रवृत्ति में तप की मुख्यता

है, शरीर, इन्द्रिय और आत्मदमन की दृष्टि में है। निर्ग्रन्थ तपस्या का क्या रूप होता है, इसके लिए मेघ मुनि और धन्ना अणगार ये दो उदाहरण हैं। ज्ञाता धर्म कथा में मेघ मुनि की तपस्या का वर्णन करते हुए बताया है कि जब अणगार तपने लगे, तब उनका शरीर सूखकर काँटा हो गया, उसमें माँस और रक्त का नाम भी न रहा। इसलिए जब वे चलते या उठते-बैठते, तो उनकी हड्डियाँ खड़-खड़ बज उठती थीं। बड़ी कठिनाई से वे चल पाते थे और कुछ बोलते या बोलने का प्रयत्न करते तो उन्हें चक्कर आ जाता था। जिस प्रकार अंगार, काष्ठ, पत्र, तिल और एरंड की गाड़ी सूर्य की गर्मी से सूख जाने पर कड़-कड़ आवाज करती है, उसी प्रकार धन्ना अणगार के अस्थिचर्मावशेष शरीर में से आवाज सुनाई देती थी।

♣ निर्ग्रंथ श्रमण का वेश

निर्ग्रंथ श्रमण दो प्रकार के होते हैं—जिनकल्पी और स्थविर कल्पी। जिनकल्पी पाणिपात्र भोजी और प्रतिग्रहधारी के भेद से दो प्रकार के होते हैं—कुछ पाणिपात्र भोजी ऐसे होते हैं, जो वस्त्र नहीं रखते, केवल रजोहरण और मुखवस्त्रिका ही रखते हैं और कुछ ऐसे होते हैं, जो रजोहरण और मुख वास्त्रिका के साथ एक, दो अथवा तीन वस्त्र (कप्प-कल्प) धारण करते हैं। जो प्रतिग्रहधारी होते हैं, यदि वे वस्त्र धारण नहीं करते तो निम्नलिखित बारह उपकरण रखते हैं—पात्र, पात्रबंध, पात्रस्थापना, पात्र केसरिका, पटल, रजस्त्राण, गोच्छक, तीन प्राच्छादक (वस्त्र), रजोहरण और मुखवस्त्रिका। इनमें मात्रक और चोलपट्ट मिला देने से स्थविर कल्पी के चौदह उपकरण हो जाते हैं।

भगवान महावीर के समय में और उनके बाद सुधर्मास्वामी के समय तक निर्ग्रंथ श्रमण के वेश के बारे में संगति थी। उस समय सचेलक और अचेलक दोनों प्रकार के श्रमण समान रूप से सम्मानीय थे। आचारांग के प्रथम श्रुतस्कंध में अचेलक अर्थात् वस्त्र रहित साधु-भिक्षु के विषय में तो उल्लेख है, किन्तु पाणिपात्री भिक्षु के संबंध में कोई स्पष्ट उल्लेख दृष्टिगोचर नहीं होता। आचारांग के द्वितीय श्रुतस्कंध में वस्त्रधारी भिक्षुओं के विषय में विशेष विवेचन आता है। उसमें सर्वथा अचेलक भिक्षु के संबंध में स्पष्ट रूप से कोई उल्लेख नहीं मिलता। इसी प्रकार अन्य आगमों में भी अचेलकता और सचेलकता का सापेक्ष वर्णन मिलता है।

इसी के साथ वहाँ यह भी संकेत है कि अचेलक एवं सचेलक दोनों प्रकार के साधक श्रमणों में अमुक प्रकार का श्रमण अपने को अधिक उत्कृष्ट समझे और दूसरे को अपकृष्ट समझे तो यह ठीक नहीं है। इन्हें एक दूसरे का अपमान नहीं करना चाहिए, क्योंकि ये सभी जिन भगवान की आज्ञा का अनुसरण करने वाले हैं।

इस प्रकार आगमों में श्रमण वेश के प्रति समभाव प्रकट किया गया है।

♣ निर्ग्रंथ श्रमणचर्या का रूप

किसी प्रकार की ग्रंथि न रहने के कारण श्रमण निर्ग्रंथ कहलाते हैं। वे प्रतिदिन भिक्षा के लिए जाते और गृहस्थ के पात्र में भोजन करने, शैया, आसन तथा स्नान और शरीर भूषा के त्यागी होते थे।

निर्ग्रंथ को निम्नलिखित भोजन पान ग्रहण करने का निषेध किया गया है—

जो भोजनपान खासतौर पर श्रमण के लिए तैयार किया गया हो (आधा कर्म), जो उद्दिष्ट हो, जो खरीदा गया हो या उठाकर रखा गया हो। इसी प्रकार (दुर्भिक्ष भोजन दुर्भिक्ष पीड़ितों के लिए रखा हुआ भोजन), कांतार भोजन (जंगल के लोगों के लिए तैयार किया हुआ भोजन), ग्लान भोजन (रोगी के लिए तैयार किया हुआ भोजन) तथा मूल, कन्द, फल बीज और हरित भोजन पान।

आहार करने के बारे में बताया है कि आहार करते समय आहार को दाहिने जबड़े से बाये जबड़े की ओर तथा बायें जबड़े से दाहिने जबड़े की ओर न ले जाकर बिना स्वाद लिए ही उसे निगल जाए।

♣ निर्ग्रंथ श्रमणों का संकटमय जीवन

निर्ग्रंथ श्रमणों को अपने चारित्र की रक्षा के लिए एक से एक कठिन संकटों का सामना करना पड़ता था। जैसे गमनागमन संबंधी चोर डाकुओं का उपसर्ग, विरुद्ध राज्यकृत उपसर्ग, उपाश्रय संबंधी संकट, रोजगन्य कष्ट, दुर्भिक्षजन्य कष्ट, ब्रह्मचर्य संबंधी कठिनाइयाँ, गणिकाजन्य उपसर्ग और वाद विवाद जन्य उपसर्ग। संक्षेप में इन उपसर्ग एवं संकटमय स्थितियों का चित्रण इस प्रकार है—

श्रमणों का गमनागमन धर्म प्रचार का एक महत्वपूर्ण अंग है। एक वर्ष में आठ माह (चातुर्मास छोड़कर) एक स्थान से दूसरे स्थान पर उन्हें विहार करते रहना पड़ता था। आगमों में बताया है कि निर्ग्रंथों को नाना देशों की भाषाओं में कुशल होना चाहिए, जिससे वे उस देश की भाषा में लोगों को धर्मोपदेश दे सकें तथा उन्हें वहाँ की शासन व्यवस्था, अर्थव्यवस्था और लोक जीवन का उन्हें ज्ञान हो। जनपद विहार के समय कितने ही साधु मार्गजन्य कष्टों, उपसर्गों, उपद्रवों के कारण जंगलों में मार्ग भूल जाते थे और उन्हें जंगली जानवर मारकर खा जाते थे। बड़े-बड़े रेतीले प्रदेश, बर्फीले पहाड़ और कंटकाकीर्ण दुर्गम पथों को उन्हें पार करना पड़ता था। कभी-कभी चोर, डाकू उनके पीछे लग जाते थे। अत्यधिक वर्षा के कारण नदी में बाढ़ आ जाने से कई दिन तक मार्ग बंद हो जाता था। रास्ते चलते हुए उनके पैरों में काँटे, गुठलियाँ या लकड़ियों के ढूँढ घुस जाते थे। ऊँचे-नीचे मार्ग, गुफा, गहरे गड्ढों में गिरने से वे

मूर्च्छित हो जाते थे। इसी प्रकार की और भी अनेक कठिनाइयाँ उनके सामने रहती थी। फिर भी वे अपनी चर्या का निर्दोष रीति से पालन करने में तत्पर रहते थे। उस काल की विषमताओं और कठिनाइयों का आज के युग में अनुमान ही लगाया जा सकता है।

चोर-डाकुओं के उपद्रव भी उस काल में कुछ कम नहीं थे। रास्तों पर तो वे लूट मार करते ही थे तथा जल और स्थल द्वारा व्यापार करने वाले सार्थवाहों को भी वे लूट लेते थे। वे साधुओं को मार डालते थे और साध्वियों को भगाकर ले जाते थे। किसी आचार्य गच्छ का वध कर डालते और संयतियों को जबरन हर कर ले जाते। कभी-कभी ऐसा भी होता कि दिन में ही वे साधुओं पर, उनके विश्राम स्थान पर आक्रमण कर देते और उनकी उपधि (सामान) ले जाते थे।

विरुद्ध राज्य में गमनागमन से निर्ग्रंथ श्रमणों को दारुण कष्टों का सामना करना पड़ता था। कभी-कभी दो राजाओं में कलह होने से कोई राजा अपने प्रतिद्वन्द्वी राजा द्वारा प्रतिष्ठित आचार्य का राजपुरुषों द्वारा अपहरण करा लेता था। द्वेष रखने वाले राजा अनेक प्रकार से लांछन लगाकर साधुओं को दारुण दुःख देते थे। वे उनका भोजन पान बंद करवा देते थे। राजा ही नहीं, राजकुमार, अमात्य और राजपुरोहित भी प्रद्वेष करने वाले होते थे।

निर्ग्रंथ श्रमणों के लिए ठहरने की बहुत बड़ी समस्या थी। अनेक जनपदों में उन्हें स्थान मिलना कठिन हो जाता था। ऐसी दशा में उन्हें वृक्ष, चैत्य या शून्य गृह की शरण लेनी पड़ती थी, लेकिन वहाँ भी ठहरने पर स्त्री या पुरुष द्वारा उपसर्ग किए जाने की आशंका रहती थी। जंगली जानवरों और चोर-डाकुओं का भय बना रहता था। सर्प, बिच्छू आदि के काटने की भी संभावना रहती थी। मच्छरों का भी उपद्रव होता था और कुत्ते पात्र उठाकर ले जाते थे।

रोगग्रस्त होने पर साधुओं को चिकित्सा के लिए दूसरों पर ही अवलंबित रहना पड़ता था। वैद्य आदि लोभी होने से बिना धन के वे उपचार नहीं करते थे।

अति भयंकर दुष्काल पड़ने पर साधुओं को नियम विहित भिक्षा प्राप्त होना कठिन हो जाता था। दुर्भिक्ष कितने भयंकर पड़ते थे, इसका उदाहरण है आगमों की विच्छिन्नता। इन दुर्भिक्षों के कारण श्रमण संघ इतना छिन्न-भिन्न हुआ कि आगमों की अनेक बार वाचनाएँ करने पर भी उनकी पूर्णतया सुरक्षा नहीं हो सकी। इसलिए दुर्भिक्षजन्य उपसर्गों के बारे में विशेष संकेत करने की आवश्यकता नहीं है।

ब्रह्मचर्य की सुरक्षा का भी उन दिनों एक विकट प्रश्न था। आगमों में साधुओं को बार-बार उपदेश दिया गया है कि स्त्रियों के संपर्क से सदा बचना चाहिए। जैसे

लाख को अग्नि में डालने से वह फौरन जल उठती है, उसी प्रकार साधु स्त्रियों के सहवास से नष्ट हो जाता है। स्त्री को विषकंटक की उपमा दी गई है। सुन्दर स्त्री से ही नहीं, लंगड़ी, लूली, नकटी, बूची स्त्री तक से भी दूर रहने का उपदेश दिया है। स्त्री का उपसर्ग न सह सकने की स्थिति में प्राणों का भी त्याग कर देने का विधान है।

इसका कारण यह है कि तत्कालीन स्थिति में अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन आसान काम नहीं था। भिक्षावृत्ति के समय उन्हें स्त्रियों के संपर्क में आना पड़ता था। उस समय वे उपदेश भी देते थे। लेकिन ऐसा मौका देखकर कोई-कोई विरहणि स्त्री उनके आगे अपनी कुवासना की इच्छा भी व्यक्त करती थी। इसके सिवाय वेश्याजन्य उपद्रवों का भी उन्हें सामना करना पड़ता था। कभी-कभी रात के समय वेश्या वसतिका में आकर साधुओं के साथ रहने का आग्रह करती थी और उन्हें हर तरह से आकर्षित करती थी। ऐसी अनेक गणिकाओं के उदाहरण हैं, जिन्होंने मुनियों को चारित्र से भ्रष्ट किया था।

वाद-विवाद जन्य संकट भी एक उपसर्ग जैसा था। धर्म प्रचार करने के लिए निर्ग्रंथ श्रमणों को अन्य तीर्थिकों के साथ वाद-विवाद से जूझना पड़ता था। खासकर ब्राह्मणों के साथ वाद-विवाद हुआ करते थे। जो सरल हृदय होते थे, वे तो उनके शिष्य बन जाते थे, लेकिन अभिमानी अवसर मिलने पर प्राण वध करने से भी नहीं चूकते थे।

इसी प्रकार के और अनेक छोटे-मोटे उपसर्गों व संकटों का सामना निर्ग्रंथ श्रमणों को करना पड़ता था, जिनसे घबराकर अथवा प्रलोभित होकर साधना से पतित हो जाना संभव है। इसी स्थिति को ध्यान में रककर आगमों में साधु को अपने धर्म और व्रत नियम का तत्परता से पालन करने का उपदेश दिया गया है।

♣ जनसामान्य के श्रद्धा केंद्र

यद्यपि निर्ग्रंथ श्रमणों को अनेक उपसर्ग और संकटों का सामना करना पड़ता था और विदेशियों से प्रताड़ना की आशंका भी बनी रहती थी, फिर भी आध्यात्मिक जीवन का निर्माण करना उनका एकमात्र लक्ष्य होने से सामान्यजन से लेकर बड़े-बड़े राजा महाराजा तक सब उनके प्रति श्रद्धा व्यक्त करते थे और उन्हें श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। उद्यानों में उनके दर्शन के लिए जाते थे, उनसे जिज्ञासा का समाधान प्राप्त करते थे और उन्हें आहार, आवास, आसन आदि आवश्यक वस्तुएँ हर्षित मन से प्रदान करते थे। यदि कहीं उनके साक्षात् दर्शन हो जाते और उनकी पर्युपासना करने का अवसर मिल जाता तो उनके आनन्द की सीमा न रहती। ऐसे महापुरुषों के नाम गोत्र का श्रवण भी अहोभाग्य समझा जाता था।

इतना ही क्यों, संदेशवाहकों और वार्ता निवेदकों को इन महापुरुषों के आगमन की जानकारी मिलने पर वे सूचना देने के लिए तत्काल राजसभा में पहुँच जाते थे और राजा को संदेश पहुँचाते थे। राजा को संदेश देना वे अपना आवश्यक और अनिवार्य कर्त्तव्य समझते थे। राजा भी इस शुभ संवाद को सुनकर हर्षित मना हो सर्व प्रथम तो परोक्ष में सम्मान वंदना करते और संदेशवाहक को पारितोषिक देते। फिर प्रजाजनों को दर्शनार्थ चलने की घोषणा प्रसारित करवाते। स्वयं भी सपरिवार, अमात्य, सामन्त, सेना आदि से सुसज्जित हो वहाँ पहुँच जाते, जहाँ जिन, निर्ग्रंथ, श्रमण आदि विराजमान होते थे। वहाँ उन्हें प्रदक्षिणा देकर वन्दनापूर्वक बैठकर धर्मोपदेश सुनते थे। इस विषय से संबंधित अनेक दृश्य आगमों में यथास्थान अंकित है।

वे लोग धर्मोपदेश श्रवण मात्र परंपरा का निर्वाह करने के लिए अथवा लोकप्रसिद्धि की आकांक्षा से नहीं, अपितु उसे जीवन का अंग बनाने के लिए और तदनुरूप प्रवृत्ति के लिए करते थे। श्रोताओं में से अनेक स्त्री, पुरुष, राजा, राजकुमार, रानी, राजकन्याएँ आदि श्रमण दीक्षा अंगीकार करने के लिए तत्पर हो जाते थे। वे सब सांसारिक विषय भोगों को तुच्छ समझकर धन-धान्य और कुटुम्ब परिवार का त्याग कर देते थे। जीवन को जल, बुद्बुद एवं ओस कण के समान क्षण भंगुर समझकर दुनिया की तड़क-भड़क एवं शान-शौकत की जगह अनगार श्रमणों की साधना को स्वीकार कर लेते थे।

♣ प्रव्रज्या के लिए अभिभावकों की अनुज्ञा आवश्यक

जो व्यक्ति संसार का त्याग कर साधु-साध्वी का जीवन व्यतीत करने की इच्छा रखते थे, उन्हें बिना किसी जाति-पाँतिगत भेदभाव के निर्ग्रंथ प्रव्रज्या अंगीकार करने की स्वतंत्रता थी। लेकिन प्रव्रज्या ग्रहण करने के लिए माता-पिता अथवा अभिभावकों की अनुज्ञा प्राप्त करना आवश्यक था। बिना उनकी आज्ञा के प्रव्रज्या देना वर्जित था। जैसे कि द्रौपदी की अनुज्ञा मिलने के पश्चात् ही पाण्डव दीक्षा ग्रहण कर सके। और तो क्या ? भगवान महावीर को जब तक उनके गुरुजनों एवं ज्येष्ठ भ्राता की आज्ञा नहीं मिली, तब तक वे गृहवास में रहे। मेघकुमार, प्रव्रजित होने के लिए जब भगवान महावीर के समक्ष उपस्थित हुए, तब उनके माता-पिता ने शिष्य भिक्षा दी।

♣ निष्क्रमण समारोह

प्रव्रज्या के लिए अग्रसर का निष्क्रमण-सत्कार समारोह बड़े ही भव्य आयोजनों के साथ मनाया जाता था। इस पुनीत अवसर पर लोगों में अत्यंत उत्साह दिखाई देता था। साधारण प्रजाजन ही नहीं, राजा-महाराजा भी इसमें सोत्साह सक्रिय रूप से

सम्मिलित होते थे। आगमों में इसके अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं। उनमें से यहाँ थावच्चा पुत्र और मेघकुमार के निष्क्रमण समारोह का उल्लेख करते हैं, जिससे यह ज्ञात हो सके कि तत्कालीन समाज में एतद् विषयक कितना उल्लास और उत्साह देखा जाता था।

थावच्चा पुत्र ने निर्ग्रंथ प्रवचन का उपदेश श्रवण कर प्रव्रज्या ग्रहण करने की इच्छा प्रकट की, तब उसकी माता राजा के योग्य भेंट ग्रहण कर अपने मित्र आदि के साथ श्रीकृष्ण वासुदेव की सभा में उपस्थित हुई। उसने निवेदन किया—"महाराज ! मैं अपने पुत्र का निष्क्रमण सत्कार करना चाहती हूँ। अतएव आपका अत्यंत अनुग्रह होगा, यदि आप छत्र, मुकुट और चामर देने की कृपा करेंगे।" श्रीकृष्ण वासुदेव ने उत्तर दिया—"तुम निश्चित रहो। तुम्हारे पुत्र का निष्क्रमण सत्कार मैं करूँगा।" इसके पश्चात् चतुरंगिणी सेना के साथ विजय हस्तिरत्न पर आरूढ़ होकर वे थावच्चापुत्र के घर गए और उसे बहुत समझाया-बुझाया। जब किसी भी हालत में वह अपने इरादे से नहीं डिगा, तब श्रीकृष्ण ने घोषणा कराई कि जो कोई भी राजा, युवराज, रानी, राजकुमार, ईश्वर, तलवार, कौटुम्बिक, भांडविक, इभ्य, श्रेष्ठी, सेनापति और सार्थवाह श्रमण दीक्षा अंगीकार करेगा, उसके कुटुम्ब परिवार की देखभाल राज्य की ओर से की जाएगी। यह सुनकर कितने ही स्त्री पुरुष अपनी पालकियों में सवार होकर दीक्षा ग्रहण करने के लिए उपस्थित हुए[१]।

ज्ञाता धर्म कथा में मेघकुमार के निष्क्रमण सत्कार का भी विस्तार से वर्णन मिलता है। जब भगवान महावीर का उपदेश श्रवण करने के पश्चात मेघकुमार के हृदय में संसार से वैराग्य उत्पन्न हो गया तो वह माता-पिता से अनुज्ञा प्राप्त करने के लिए भवन में गया। फिर वह माता-पिता के चरणों में विनम्रता से नतमस्तक होकर कहने लगा—"हे माता-पिता ! मुझे महावीर का धर्म अत्यंत रुचिकर हुआ है। अतएव आपकी अनुज्ञापूर्वक मैं श्रमण धर्म में प्रव्रजित होना चाहता हूँ।" यह सुनकर मेघकुमार की माता मूर्च्छित होकर धरती तल पर गिर पड़ी। फिर कुछ समय बाद होश में आने पर विलाप करती हुई बोली—"मेघ ! तुम मेरे इकलौते पुत्र हो, उदुंबर के पुष्प की भाँति दुर्लभ हो। मैं क्षणभर के लिए भी तुम्हारा वियोग सहन नहीं कर सकती। अतएव हम लोगों की मृत्यु के पश्चात ही परिणत वय होने पर तुम दीक्षा ग्रहण करना।" तब मेघकुमार ने उत्तर दिया—"हे माता ! यह जीवन क्षणभंगुर है। न जाने पहले कौन काल की चपेट में आ जाए। इसलिए आप मुझे अभी दीक्षा ग्रहण करने की अनुमति प्रदान करें।"

---

१. ज्ञाता धर्म कथा

इस प्रकार बहुत ऊहापोह होने के पश्चात् रजोहरण और पात्र मँगवाए गए तथा चार अँगुल छोड़कर निष्क्रमण के योग्य अग्रकेश काटने के लिए नाई बुलाया गया। सुरभिगंधोदक से हाथ और पैरों का प्रक्षालन कर, चार तहवाले शुद्ध वस्त्र से अपना मुँह ढँककर नाई ने मेघकुमार के केश काटे। इन केशों को मेघकुमार की माता ने हंस चिह्न वाले पट शाटक में ग्रहण किया। फिर उनका गंधोदक से प्रक्षालन कर, गोशीर्ष चन्दन के छींटों से चर्चित कर श्वेत वस्त्र में बाँधा और फिर रत्नों की पिटारी में उन्हें बंद करके अपने सिरहाने रख लिया। तत्पश्चात् जल के श्वेत-पीत कलशों से मेघकुमार को स्नान कराया। उसके शरीर पर गोशीर्ष चन्दन का लेप किया। नाक की साँस से उड़ जाने वाले हँस लक्षण पट शाटक उसे पहनाए गए तथा चतुर्विध माल्य एवं आभूषणों से उसे अलंकृत किया गया। इसके बाद पालकी (शिबिका) तैयार की गई। मेघकुमार को पूर्वाभिमुख सिंहासन पर बिठाया गया। उसकी माता स्नान करके वस्त्रालंकारादि से अलंकृत होकर उसके दाहिनी ओर भद्रासन पर बैठी। मेघकुमार के बायीं ओर रजोहरण और पात्र लेकर अंबा धातृ बैठी। उसके दोनों ओर दो सुन्दर युवतियाँ चामर ढुलाने लगी। एक सामने की ओर तालवृन्त लेकर और दूसरी भृंगार (झारी) लेकर खड़ी हो गई। प्रजाजनों की ओर से अभिनन्दन के शब्द सुनाई देने लगे। गुरुजनों की ओर से आशीर्वादों की बौछार होने लगी_आदि और अन्त में महावीर स्वामी ने मेघकुमार को अपने शिष्य के रूप में स्वीकार किया।

♣ दीक्षा का निषेध

यद्यपि निर्ग्रंथ प्रव्रज्या के लिए जाति-पाँति आदि कोई भेदभाव नहीं था, हर किसी के लिए दीक्षा लेने का मार्ग खुला था, फिर भी कुछ अपवाद, नियम भी थे। जैसे कि षंढ (नपुंसक), वार्तिक (वात का रोगी) और क्लीब को दीक्षा देने का निषेध किया गया। इसी प्रकार बाल, वृद्ध, जड़, व्याधिग्रस्त, स्तेन, राजापकारी, उन्मत्त अदर्शन (अंधा), दास, दुष्ट, मूढ़, ऋणपीड़ित, जात्यंगहीन, अवबद्ध (सेवक), शैक्ष्य, निष्फोटित (अपहृत किया हुआ), गर्भवती और बाल वत्सा को दीक्षा देने की मनाई है।

♣ दीक्षा के प्रकार

स्थानांग सूत्र में दीक्षा के कई प्रकार बतलाए हैं। इन प्रकारों में से कतिपय तो सहज, स्वाभाविक, स्वात्मप्रेरणा से ग्रहण की जाती थी और कुछ एक जबरन, बल आदि का प्रयोग करके, शर्त लगाकर, लोक-परलोक में सुख यश आदि की प्राप्ति की भावना से स्वप्न देखकर और जाति स्मरण आदि ज्ञान होने पर दी और ली जाती थी। इन सब कारणों से दीक्षा के अनेक प्रकार बतलाए हैं। उन सब प्रकारों को जानने के

लिए स्थानांग ३/१५७, ५/३५५, १०/७१२ का अवलोकन करना चाहिए। अनेक उदाहरण ऐसे भी मिलते हैं कि भावना को थोड़ा सा उत्तेजन मिलने पर दीक्षा ले ली जाती थी। भगवान अरिष्टनेमि और राजीमती का वृत्तांत इसके उदाहरण हैं। भगवान अरिष्टनेमि ने बाड़े में बँधे पशुओं की चीत्कार सुनकर अपनी बारात लौटा ली और उन्होंने प्रव्रज्या धारण कर ली। राजीमती ने भी उनका अनुसरण किया।

♣ निर्ग्रंथों के प्रकार

आगम में निर्ग्रंथों के पाँच प्रकार बताए हैं— पुलाक (अतिचार लगाने वाला निर्ग्रंथ), बकुश (दोष लगाने वाला निर्ग्रंथ), कुशील, निर्ग्रंथ और स्नातक। इनमें भी प्रत्येक के पाँच-पाँच अवान्तर प्रकार हैं। वे इस प्रकार हैं—

पुलाक– ज्ञान पुलाक, दर्शन पुलाक, चारित्र पुलाक और यथासूक्ष्म पुलाक।

बकुश– आयोग, अनायोग, संवृत्त, असंवृत्त और यथा सूक्ष्म।

कुशील– ज्ञान, दर्शन, चारित्र, लिंग और यथासूक्ष्म।

निर्ग्रंथ– प्रथम समय, अप्रथम समय, चरम समय, अचरम समय और यथा सूक्ष्म।

स्नातक– अच्छवी, अशवन, अकर्माश, शुद्ध ज्ञान और अपरिश्रावी।

ऊपर जो कुछ भी दिग्दर्शन कराया गया है, वह निर्ग्रंथों से संबद्ध है। लोक जीवन में इन्हें श्रमण कहा जाता था। इनके अतिरिक्त भगवान महावीर और उत्तरवर्ती आगमिक युग में विभिन्न धार्मिक मतमतान्तरों, उनके अनुयायी तपस्वियों, परिव्राजकों आदि की परंपराएँ भी विद्यमान थी। उनके बारे में भी आगमों में यत्र तत्र उल्लेख मिलते हैं। अब संक्षेप में उनकी जानकारी प्रस्तुत करते हैं।

♣ अन्य श्रमण परंपराएँ

तत्कालीन धार्मिक परंपराओं में श्रमण और माहण ये दो पवित्र शब्द थे और ऋषियों का बोध कराने के लिए प्रयुक्त किए जाते थे। जैन आगमों में भी श्रमण (समण) और ब्राह्मण (माहण) का उल्लेख बहुत आदर के साथ किया गया है। श्रमण जंगलों में रहते थे और वे लोगों की परम श्रद्धा के पात्र थे। सामान्य जन ही नहीं, बल्कि राजा-महाराजा तक उनसे अत्यधिक प्रभावित थे। वैसे तो श्रमण शब्द मुख्य रूप से जैन परंपरा के मुनियों का बोधक था, लेकिन पूर्वोक्त कारण से प्रत्येक धर्म परंपरा भी अपने-अपने ऋषियों के लिए श्रमण संबोधन का प्रयोग करती थी।

इस प्रकार जब श्रमण शब्द ने सर्व प्रचलित रूप ले लिया, तब जैन श्रमणों का उन सबसे पार्थक्य बताने के लिए निर्ग्रंथ शब्द का प्रयोग किया जाने लगा। इसका

परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक परंपरा ने अपने-अपने श्रमणों के परिचय के लिए नए-नए विशेषणों की संयोजना की। इन सब परंपराओं में सक्क (शाक्य बौद्ध), तापस (वनवासी), गेरुय (परिवाज्र) और आजीवक ये चार मुख्य हैं।

♣ शाक्य श्रमण

आगमों में शाक्य श्रमणों को रत्तवड़ (रक्त पट) अथवा वच्चत्रियं (क्षणिकवादी) नाम से उल्लिखित किया गया है। सूत्रकृतांग में उनके पंचस्कंध के सिद्धांत का उल्लेख मिलता है। अनुयोग द्वार और नंदीसूत्र में बुद्ध शासन को लौकिक श्रुत में गिना है। आर्द्रक मुनि और शाक्य पुत्रों के वाद-विवाद का सूत्रकृतांग में उल्लेख है। इससे ज्ञात होता है कि निर्ग्रंथों और शाक्य श्रमणों के बीच शास्त्रार्थ होते ही रहते थे।

वनवासी साधुओं के लिए तापस शब्द का उपयोग किया गया है। तापस श्रमण वनों में आश्रम बनाकर रहते थे। वे यज्ञ याग करते, शरीर को कष्ट देने के लिए पंचाग्नि तप तपते तथा अपने सूत्रों का अध्ययन करते थे। उनका अधिकांश समय कन्दमूल, फल-फूल आदि बटोरने में ही बीतता था। ये एक स्थान से दूसरे स्थान पर भ्रमण करते थे। यह तापस परंपरा बहुत प्राचीन है। भगवान महावीर से भी पूर्व भगवान पार्श्वनाथ के समय में भी तापस श्रमण थे। यह बात कमठ तापस की घटना से ज्ञात होती है।

तापस आश्रमों के उल्लेख भी आगमों में मिलते हैं। भगवान महावीर अपनी विहारचर्या के समय मोराक सन्निवेश में दुरइज्जन्त तापस के आश्रम में ठहरे थे। उत्तर वाचाल में स्थित कनकखल आश्रम में पाँच सौ तापस रहा करते थे। पोतनपुर में भी तापसों का एक आश्रम था।

औपपातिक सूत्र में निम्नलिखित वानप्रस्थ तापस गिनाए हैं—

होत्तिय—अग्निहोत्र करने वाले।

पोत्तिय—वस्त्रधारी।

कोत्ति—भूमि पर सोने वाले।

जण्णई—यज्ञ करने वाले।

सड्ढई—श्रद्धाशील।

थालई—सब सामान साथ लेकर चलने वाले।

दन्तुक्खलिय—दाँतों से चबाकर खाने वाले।

उम्मज्जक—उन्मज्ज मात्र से स्नान करने वाले।

सम्मज्जक— अनेक बार उन्मज्ज करके स्नान करने वाले।

निमज्जक– स्नान करते समय क्षण भर जल में निमग्न रहने वाले।

संवक्खाल– शरीर पर मिट्टी लगाकर स्नान करने वाले।

दक्खिणकूलग– गंगा के दक्षिण तट पर रहने वाले।

उत्तरकूलग– गंगा के उत्तर तट पर रहने वाले।

संखधमक– शंख बजाकर भोजन करने वाले।

कूलधमक– किनारे पर खड़े होकर शब्द करने वाले।

मियलद्धय– जानवरों का शिकार करने वाले, पशुभक्षक।

हत्थितावस– हाथी को मारकर बहुत समय तक भोजन करने वाले। सिर्फ हाथी को ही मारकर खाने वाले।

उड्डंडक–दण्ड को ऊपर करके चलने वाले।

दिसापोक्खी–जल से दिशाओं का सिंचन कर फलफूल आदि बटोरने वाले।

वक्कवासी– वल्कल के वस्त्र धारण करने वाले।

अंबुवासी– जल में रहने वाले।

बिलवासी– बिल में रहने वाले।

जलवासी– जल में निमग्न होकर बैठे रहने वाले।

वेलवासी– समुद्र तट पर रहने वाले।

रुक्खमूलिया–वृक्ष के नीचे रहने वाले।

अंबुभक्खी– जलभक्षण करने वाले।

वाउभक्खी– वायु का भक्षण कर रहने वाले।

सेवालभक्खी– शैवाल खाकर रहने वाले।

इनके सिवाय अनेक तपस्वी मूल, कन्द, छाल, पत्ते, पुष्प और बीज खाकर रहते थे। अनेक सड़े हुए मूल, कंद आदि भक्षण करते थे। स्नान करते रहने से उनका शरीर पीला पड़ जाता था। आतापना और पंचाग्नि तप से वे अपने शरीर को तपाते थे।

ये तापस श्रमण गंगा तट पर रहते थे। वानप्रस्थ आश्रम का पालन करने वाले होने से ये गंगातटवासी वानप्रस्थी तापस के नाम से विख्यात थे।

♣ परिव्राजक श्रमण

गेरुआ वस्त्र धारण करने के कारण इन्हें गेरुउ अथवा गैरिक श्रमण भी कहा जाता था। ये परिव्राजक श्रमण ब्राह्मण धर्म के प्रतिष्ठित पंडित होते थे और आवसक *(अवसह) में रहते थे। ये परिव्राजक आचार शास्त्र और दर्शन आदि विषयों पर*

वाद-विवाद करने के लिए दूर-दूर तक पर्यटन करते थे। ये वेद वेदांग तथा अन्य ब्राह्मण शास्त्रों के विद्वान होते थे। ये दान, शौच और तीर्थस्थान का उपदेश देते थे। इनका कहना था कि जो पदार्थ अपवित्र है, वह मिट्टी से धोने से पवित्र हो जाता है और इस प्रकार शुद्ध देह और निरवद्य व्यवहार से युक्त होकर स्नान करने से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। ये परिव्राजक कूप, तालाब, नदी, वापी, पुष्करिणी, दीर्घिका, गुंजालिका, सर और सागर में प्रवेश नहीं करते थे, गाड़ी, पालकी आदि में नहीं बैठते थे, घोड़ा, हाथी, ऊँट, बैल, भैंसा और गधे पर सवार नहीं होते थे, नट, मागध आदि का खेल नहीं देखते थे, हरित वस्तु का लेप, उन्मूलन आदि नहीं करते थे, भक्त कथा, राजकथा, देशकथा और चोर कथा नहीं कहते थे और अनर्थदण्ड नहीं करते थे। ये लोग लोहे, रांगे, तांबे, जस्ते, सीसे, चाँदी व सोने के पात्रों तथा अन्य बहुमूल्य पात्रों को धारण नहीं करते थे। ये केवल तुंबी और लकड़ी या मिट्टी के पात्र रखते थे। ये गेरुए वस्त्रों के सिवाय दूसरे रंग-बिरंगे वस्त्र नहीं पहनते थे। ये हार, अर्धहार आदि कीमती आभूषण नहीं पहनते थे। ये केवल एक ताँबे की अंगूठी पहनते थे। ये मालाएँ भी धारण नहीं करते थे। ये सिर्फ एक कर्णफूल पहनते थे। ये गंगा की मिट्टी के सिवाय अगरू, चन्दन और कुंकुम से अपने शरीर का लेप नहीं कर सकते थे। ये परिव्राजक पीने के लिए सिर्फ मगध देश का एक प्रस्थ (वस्तु नापने का वजन पात्र) प्रमाण स्वच्छ जल लेते थे। उसे थाली, चम्मच धोने अथवा स्नान आदि करने के लिए उपयोग में नहीं लाते थे।

आगमों में अनेक प्रकार के परिव्राजक श्रमणों का उल्लेख मिलता है। भगवती सूत्र में आगत कुछ नाम इस प्रकार है—

चरक— जो समूह में घूमते हुए भिक्षा ग्रहण करते थे अथवा जो खाते हुए चलते थे।

चीरक— मार्ग में पड़े हुए वस्त्र को धारण करने वाले या वस्त्रमय उपकरण रखने वाले।

चर्मखण्डिक— चर्म ओढ़ने वाले अथवा चर्म के उपकरण रखने वाले।

भिच्छुंड (भिक्षोण्ड)— केवल भिक्षा से निर्वाह करने वाले। गोदुग्ध आदि से नहीं। (कोई सुगत शासन के अनुयायी को भिक्षोण्ड कहते हैं।)

पंडुरंग— जिसका शरीर भस्म से लिप्त हो।

इनके अतिरिक्त अनुयोग द्वार सूत्र में कुछ और दूसरे परिव्राजक श्रमणों के नाम दिए हैं—

संखा— सांख्य।

जोई—योग के अनुयायी।

कविल– कपिल को मानने वाले।

भिउच्च–भृगु ऋषि के अनुयायी।

हंस– जो पर्वत, गुहा, पथ, आश्रम, देवकुल या आराम (बगीचा) में रहते हो तथा भिक्षा के लिए गाँव में पर्यटन करते हो।

परमहंस– जो नदी तट और प्रदेश में रहते हो तथा चीर, कौपीन और कुश को त्यागकर प्राणत्याग करते हों।

बहूरग– जो गाँव में एक रात और नगर में पाँच रात रहते हो।

कुडिव्वय– जो घर में रहते हो तथा क्रोध, लोभ और मोहरहित होकर अहंकार का त्याग करने के लिए प्रयत्नशील रहते हो।

कण्ह परिव्वायग– कृष्ण परिव्राजक अथवा नारायण के भक्त।

इनके पश्चात् कंडु, करकंडु, अंबड़, पाराशर, कृष्णद्वैपायन, देवगुप्त और नासद आदि की ब्राह्मण परिव्राजकों और सेलई, ससिहार, णग्गइ (नग्नजित) भग्गइ, विदेह, रायाराय, रायाराम और बल आदि की क्षत्रिय परिव्राजकों में गणना की गई है।

अन्य भी अनेक परिव्राजकों के नाम आगमों में आए हैं। जैसे–कात्यायन गोत्रीय आर्य स्कंदक, शुक परिव्राजक, अंबड़ परिव्राजक, पुद्गल परिव्राजक आदि। परिव्राजकों की भाँति परिव्राजिकाएँ भी श्रमण धर्म में दीक्षित होती थीं। चोक्खा परिव्राजिका का नाम आगमों में उल्लिखित है। वह अन्य परिव्राजकाओं के साथ मिथिला नगरी में परिभ्रमण किया करती थी। परिव्राजिकाएँ विद्या, मंत्र और जड़ी-बूटियाँ देती थीं तथा जन्तर-मन्तर करती थीं।

♣ आजीवक श्रमण

गोशालक इस परंपरा का प्रमुख था। उसका भगवान महावीर के जीवन वृत्त में अनेक बार उल्लेख आया है, लेकिन आजीवक मत गोशालक के पहले भी विद्यमान था। गोशालक तो इस मत का तीसरा तीर्थंकर था। भगवती के अनुसार आजीवक मत गोशालक से ११७ वर्ष पूर्व मौजूद था। गोशालक आठ महानिमित्तों का ज्ञाता था। आगमों में गोशालक को नियतिवादी के रूप में चित्रित किया गया है और बताया गया है कि वह उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पराक्रम को स्वीकार करता था। इस मत के अनुयायी श्रमण उग्र तप, घोर तप, घृतादि रस परित्याग और जिह्वेंद्रिय प्रति संलीनता नामक चार कठोर तपों का आचरण करते थे। ये जीव हिंसा से विरक्त रहते थे तथा मद्य, मांस, कंद मूल आदि तथा उद्दिष्ट भोजन के त्यागी होते थे। अनुयोग द्वार सूत्र में आजीवक साधुओं के कुछ नामों का उल्लेख इस प्रकार है–

दुघरंतरिया—एक घर में भिक्षा ग्रहण कर दो घर छोड़कर भिक्षा ग्रहण करने वाले।

तिघरंतरिया— एक घर से भिक्षा लेने के बाद तीन घर छोड़कर भिक्षा लेने वाले।

सत्त घरंतरिया— एक घर से भिक्षा लेकर सात घर छोड़कर भिक्षा लेने वाले।

उप्पलवेंटिया— कमल के डंठल खाकर रहने वाले।

घर समुदाणिय— प्रत्येक घर से भिक्षा लेने वाले।

विज्जु अंतरिया— बिजली गिरने के समय भिक्षा न लेने वाले।

उट्टियसमण—किसी बड़े मिट्टी के बर्तन में बैठकर तप करने वाले।

व्याख्या प्रज्ञप्ति के उल्लेखों से मालूम होता है कि उस काल में इस मत के उपासकों का काफी बड़ा समूह था। उपासक दशांग में आगत भगवान महावीर के प्रमुख दस उपासकों में से सकडाल पुत्र कुंभकार पहले इस मत के प्रमुख उपासकों में से एक था।

♣ अन्य श्रमण व्रती साधु

आगम युग में उक्त श्रमण परंपराएँ तो मुख्य थी, पर उनके अतिरिक्त भी कुछ अन्य श्रमणों, व्रतियों की परंपराएँ भी थी। औपपातिक सूत्र में उनके नाम आए हैं। वे इस प्रकार हैं—

गौतम— ये छोटा सा बैल रखते हैं। उसके गले में कौड़ियों की माला पड़ी रहती है। यह बैल लोगों के पाँव पड़ने में शिक्षित होता है। भिक्षा माँगते समय ये साधु उस बैल को साथ रखते हैं।

गोव्रतिक— गाय की भाँति व्रत रखने वाले। जब गायें चरने के लिए जंगल में जाती है, तब ये भी उनके साथ चले जाते हैं। जब गायें पानी पीती है, चरती है, सोती हैं, तब ये भी उसी तरह करते हैं। ये लोग तृण और पत्तों आदि का ही भोजन करते हैं। जब गायें वापस लौटती हैं, तब ये भी वापस लौटते हैं।

गृहिधर्मी— गृहस्थ धर्म को श्रेयस्कर समझकर देव, अतिथि आदि को दान देकर संतुष्ट करते हैं और गृहस्थ धर्म का पालन करते हैं।

धर्मचिन्तक— धर्म शास्त्र के पाठक अथवा ऋषियों द्वारा प्रणीत धर्म संहिताओं का ये लोग चिन्तन करते हैं।

अविरुद्ध— ये विनयवादी हैं। ये देवता, राजा, माता-पिता, पशु आदि की समान भाव से भक्ति करते हैं।

वृद्ध– वृद्ध अवस्था में दीक्षा ग्रहण करने वाले।

श्रावक– धर्मशास्त्र सुनने वाले ब्राह्मण।

ये गौतम आदि उक्त साधु सरसों के तेल को छोड़कर नौ रसों–दूध, दही, मक्खन, घी, तेल, गुड़, मधु, मद्य और माँस का भक्षण नहीं करते थे।

उक्त व्रती साधुओं के अतिरिक्त और भी कुछ व्रती होते थे। उनके नाम इस प्रकार हैं–

दगवइय (उदक द्वितीय)– चाँवल को मिलाकर जल जिनका द्वितीय भोजन है।

दगतइय (उदक तृतीय)– चाँवल आदि दो द्रव्यों,को मिलाकर जल जिनका तृतीय भोजन है।

दगसत्तम (उदक सप्तम)– चाँवल आदि छह द्रव्यों को मिलाकर जल जिनका सातवाँ भोजन है।

दग एक्कारस (उदक एकादश)– चाँवल आदि दस द्रव्यों को मिलाकर जल जिनका ग्यारहवाँ भोजन है।

कंदप्पिय– अनेक प्रकार के हास्य करने वाले, कंदर्पिक।

कुक्कुइया– कौटकुच्य– भौंहें, नयन, मुख, हस्त और चरण आदि द्वारा भाँडों के समान चेष्टा करने वाले।

मोहरिय (मौखिरिक)– नाना प्रकार के असंबद्ध कार्य करने वाले।

गीयरइपिय (गीतरतिप्रिय)– जिन्हें गीत रतिप्रिय हो। गाना-बजाना आदि करने वाले।

नच्चणसील (नर्तनशील)– नाचना जिनका स्वभाव है।

अत्तुक्कोसिय (आत्मोत्कर्षितक)– आत्म प्रशंसक।

परपरिवाइय (परिपरिवादिक)– परनिंदक।

भूइकम्मिय (भूतिकर्मिक)– ज्वर आदि रोगों को शान्त करने के लिए भभूत देने वाले।

भुज्जोभुज्जो कोउयकारक (भूयः भूयः कौतुककारक)– सौभाग्य के लिए बार-बार स्नान करने वाले।

इनके अतिरिक्त आगमों के व्याख्या ग्रंथों में भी अनेक साधुओं और तपस्वियों का उल्लेख किया गया है। उनमें ससरक्ख साधुओं को उड्डंग और बोडिय (बोटिक) के साथ गिनाया गया है। ये तीनों ही किसी प्रकार का परिग्रह नहीं रखते थे और पाणितल में भोजन करते थे। ससरक्ख (सरजस्क) साधु विद्यामंत्र आदि में भी कुशल होते थे। वर्षा ऋतु में जैसे उदक शौकरिक मिट्टी और फोटिक गोबर और नमक आदि का संग्रह करते थे, वैसे ही ये लोग राख का संग्रह करके रखते थे। अस्थि सरजस्कों के बारे में कहा गया है कि ये बहुत सा भोजन करते थे और बहुत गंदे रहते थे। उदक शौकरिक शुचिवादी भी कहे जाते थे। यदि कोई उन्हें स्पर्श कर लेता था, तो वे ६४ बार स्नान करते थे। वारिखल परिव्राजक अपने पात्रों को बारह बार और वानप्रस्थ तापस छह बार मिट्टी लगाकर साफ करते थे। कर्मकार भिक्षु भिक्षा के लिए देवद्रोणी लेकर चलते थे। इनके सिवाय कोई नमक छोड़ने से, कोई लहसुन, प्याज, ऊँटनी का दूध, गोमांस और मद्य इन पाँच वस्तुओं के त्याग से और कोई विकाल में स्नान करने से मोक्ष की प्राप्ति मानता था। कुछ वन में झोपड़ियों में अथवा गाँव के समीप निवास करते थे। वे प्राणी हत्या को पाप नहीं मानते थे। उनकी मान्यता थी—मैं ब्राह्मण हूँ, अतः हन्तव्य नहीं हूँ। केवल शूद्र आदि ही हन्तव्य है। शूद्र की हत्या करके प्राणायम कर लेना पर्याप्त है। बिना हड्डी वाले गाड़ी भरे शूद्र जीवों को मारकर यदि ब्राह्मण को भोजन करा दें, तो इतना प्रायश्चित पर्याप्त है।

इसी प्रकार आगम साहित्य में और भी अनेक साधुओं के उल्लेख मिलते हैं। उनके आचार, विचार, वेश आदि का वर्णन करना एक स्वतंत्र विषय है। यहाँ तो संकेत मात्र के लिए कुछ एक परंपराओं की जानकारी दी है।

♣ अन्य मतमतान्तर

आगमों में अन्य मतमतान्तरों और मिथ्यादृष्टियों का उल्लेख है। आचारांग में तो किसी विशेष नाम पूर्वक नहीं, अपितु 'एगे' अर्थात् कुछ लोगों के रूप में है, जिसका विशेष स्पष्टीकरण चूर्णि अथवा वृत्ति में किया गया है। लेकिन सूत्रकृतांग में इनका नाम पूर्व उल्लेख है और इनके निरसन के लिए ये मत मिथ्या हैं, ये मत प्रवर्तक आरंभी हैं, प्रमादी हैं, विषयासक्त हैं, इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया गया है। इसके लिए किसी विशेष प्रकार की तर्कशैली का प्रयोग प्राप्त नहींवत् है।

सूत्रकृतांग में चार मतों का उल्लेख है—क्रियावादी, अक्रियावादी, अज्ञानवादी

और विनयवादी। क्रियावादी का अर्थ है—क्रिया की प्रधानता स्वीकार करने वाला मत। आचार्य शीलांक ने क्रियावाद का अर्थ बताते हुए कहा है कि जो सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के बिना केवल क्रिया से मोक्ष मानते हैं, वे क्रियावादी हैं। क्रियावादी आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं और ज्ञान के बिना क्रिया को मुख्यता देते हैं। क्रियावाद के १८० भेद माने गए हैं[१]। अक्रियावादी आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। उनके मतानुसार प्रत्येक वस्तु क्षणस्थायी है, जिससे उस स्थिति में क्रिया नहीं हो सकती। क्षणिकवाद को मानने से इन्हें बौद्ध भी कहा गया है। अक्रियावादियों को विरुद्धवादी भी कहा गया है, क्योंकि इनकी मान्यताएँ अन्य वादियों के विरुद्ध पड़ती है। इनके चौरासी भेद हैं[२]। अज्ञानवादी मोक्ष की प्राप्ति के लिए ज्ञान को निष्फल मानते हैं। इनके ६३ भेदों का उल्लेख मिलता है[३]। विनयवादियों ने बाह्य क्रियाओं के स्थान पर मोक्ष की प्राप्ति के लिए विनय को आवश्यक माना है। अतएव विनयवादी सुर, राजा, यति, हाथी, घोड़े, गाय, भैंस, बकरी, गीदड़, कौआ और बगुले आदि को देखकर उन्हें प्रणाम करते हैं। विनयवादियों का दूसरा नाम अविरुद्धवादी भी है। इनके बत्तीस भेद हैं।[४]

विनयवादियों के अनुयायी अनेक तपस्वियों के नाम आगम साहित्य में उपलब्ध होते हैं।

इस प्रकार आगम साहित्य में तत्कालीन धार्मिक व्यवस्था का चित्रण उपलब्ध होता है।

¤

---

१. क्रियावाद १८० भेद- जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप को काल, ईश्वर, आत्मा, नियति और स्वभाव की अपेक्षा से स्वतः, परतः तथा नित्य और नित्य रूप में स्वीकार करने से ९ x ५ x २ x २ = १८० भेद होते हैं। - सूत्रकृतांग निर्युक्ति

२. अक्रियावाद के ८४ भेद- क्रियावाद के वर्गीकरण में से पुण्य और पाप को कम करके शेष जीवादि मोक्ष पर्यन्त को काल, ईश्वर, आत्मा, नियति, स्वभाव और यदृच्छा की अपेक्षा से स्वतः और परतः रूपी में स्वीकार करने से ७ x ६ x २ = ८४ भेद होते हैं। - सूत्रकृतांग टीका

३. अज्ञानवाद के ६३ भेद- जीवादि पाप पर्यन्त को सत्, असत्, सदसत्, अव्यक्त, सदवक्तव्य, असदवक्तव्य और सदसदवक्तव्य की अपेक्षा से स्वीकार करने से ९ x ७ = ६३ भेद होते हैं।

४. विनयवाद के ३२ भेद - देवता, स्वामी, यति, पुरुष, वृद्ध पुरुष, अपने से छोटे, माता और पिता को मन, वचन, काय और दान द्वारा सम्मानित करने के कारण इनके ८ x ४ = ३२ भेद होते हैं। - सूत्रकृतांग टीका

साहित्य मनीषी राष्ट्रसंत आचार्य देव
श्रीमद् विजय जयंतसेन सूरीश्वरजी म.सा.

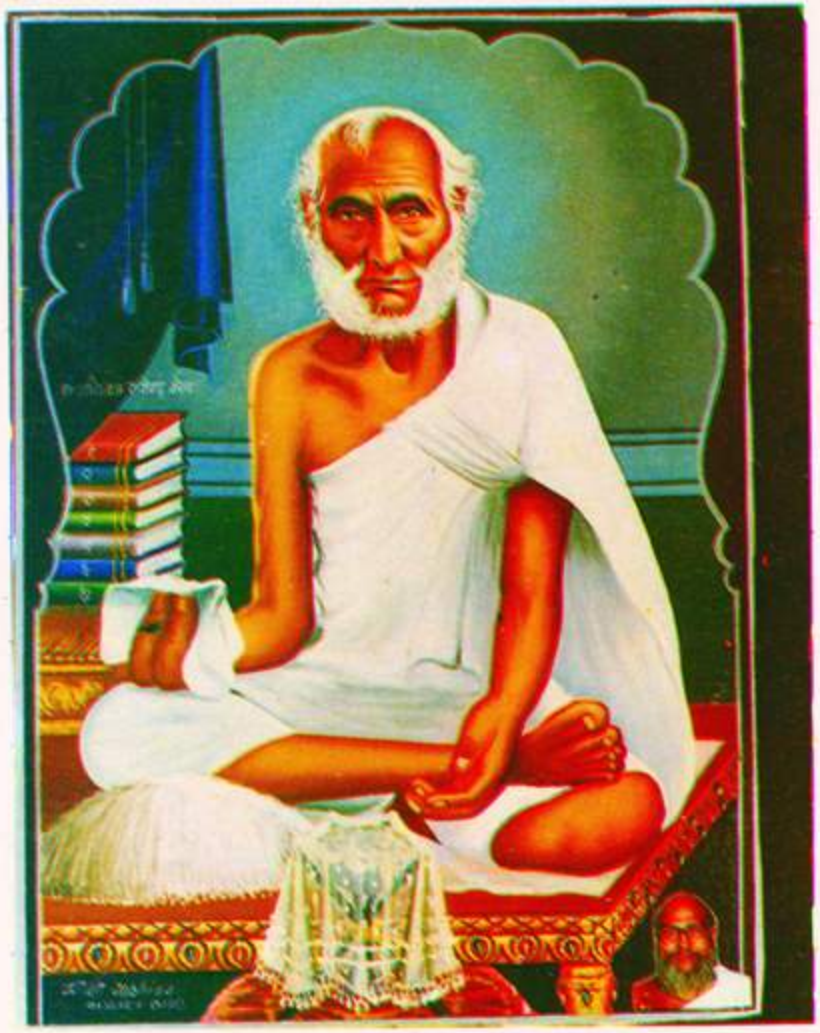

विश्वपूज्य प्रात: स्मरणीय पूज्य गुरुदेव
श्रीमज्जैनाचार्य श्रीमद् विजय राजेन्द्र सूरीश्वरजी म.सा.